राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यत: अखिलभारतीय तथा विशेषत राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य
सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर,
ऑनरेरि मेम्बर ऑफ जर्मन ओरिएन्टल सोसाइटी, जर्मनी,
निवृत्त सम्मान्य नियामक (ऑनरेरि डायरेक्टर),
भारतीय विद्याभवन, बम्बई, प्रधान सम्पादक,
सिंघी जैन ग्रन्थमाला, इत्यादि

ग्रन्थाङ्क ७६

संत कवि रज्जब

(सम्प्रदाय और साहित्य)

लेखक
डॉ० व्रजलाल वर्मा

प्रकाशक
राजस्थान राज्याज्ञानुसार
सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

संत कवि रज्जब

(सम्प्रदाय और साहित्य)

लेखक

डॉ० ब्रजलाल वर्मा

हिन्दी विभाग

डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर

प्रकाशनकर्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०२१ | भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८६ | ख्रिस्ताब्द १९६५

प्रथमावृत्ति १००० | मूल्य– ७ २५ पैसे

मुद्रक– हरिप्रसाद पारीक, साधना प्रेस, जोधपुर

RAJASTHAN PURATANA GRANTHMALA

PUBLISHED Y THE GOVERNMENT OF RAJASTHAN

A series devoted to the Publication of Samskrit, Prakrit, Apabhramsa,
Old Rajasthani-Gujarati and Old Hindi works pertaining to
India in general and Rajasthana in particular

*

GENERAL EDITOR

PADMASHREE MUNI JINAVIJAYA, PURATATTVACHARYA

Honorary Director, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur,
Honorary Member of the German Oriental Society, Germany,
Retired Honorary Director, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay,
General Editor, Singhi Jain Series etc etc

* *

NO 76

SANT KAVI RAJJABA

(Sampradaya aur Sahitya)

By

Dr Vraja Lal Varma,
Hindi Department,
D A V College,
KANPUR

* * *

Published
by
The Hon Director, Rajasthan Prachya Vidya Pratishthana
(Rajasthan Oriental Research Institute)
JODHPUR (RAJASTHAN)

विषयानुक्रम

संत कवि रज्जब

सम्प्रदाय और साहित्य

अध्याय ५

रज्जवजी का साहित्य

अध्याय ६

रज्जब साहित्य मे मानव जीवन के विविध पक्ष

अध्याय ७

रज्जब साहित्य के कतिपय पारिभाषिक शब्द

परिशिष्ट

सञ्चालकीय वक्तव्य

राजस्थानी भाषा का सुसमृद्ध साहित्य अनेक साधु - महात्माओ, ज्ञानी-आचार्यों और धर्म-प्रवर्त्तको की रचनाओ से भरा पडा है, जिनमे से अनेक रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं और आ रही हैं। तथापि बहुत बड़ी मात्रा में यह सत साहित्य के नाम से अभिहित सामग्री अभी तक इतस्तत. बिखरी पडी है, जिसकी खोज और शोध अनेक विद्वान् कर रहे हैं। महात्मा दादूदयालजी का स्थान भारत के मूर्धन्य सतो मे माना जाता है। इनके सम्पर्क मे आकर अनेक प्राणियो को ज्ञान और तदनु जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त हुआ है। तपोमूर्ति महात्माओ के दर्शन और प्रवचन-श्रवण के फलस्वरूप अनेक सामान्य जनो का उद्धार होता रहा है, और होता है। महात्मा रज्जब जी एक ऐसे ही प्रसग के ज्वलत उदाहरण हैं।

महात्मा दादूजी के शिष्यो मे रज्जबजी का स्थान अग्रगण्य है। उनके अन्य शिष्यो की भाति इन्होने भी अपने निर्मल अन्तस् की अनुभूतियो की अभिव्यक्ति अपनी बाणी और सर्वङ्गी नामक ग्रन्थ मे की है। दादूजी की वाणी और उसके अभिप्राय को जिस लगन से रज्जबजी ने समझने के प्रयत्न किये और तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति की उसको लेकर इनके शिष्यो का एक मडल 'रजबावत' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया था।

महात्माओ की बाणी अथवा शब्द ही वह साधन है जिसके द्वारा ये अपनी अतिमानुषीय अनुभूतियो का प्रसार करके जड प्राणियो मे चैतन्य की धारा प्रवाहित करते हैं, उनके प्रगाढ तिमिराच्छन्न मानस को सहस्रो किरणो से देदीप्यमान ज्ञानालोक से आपूरित कर देते है और उनको जन्म–जन्मान्तर के बन्धनो से मुक्ति-लाभ कराते हैं। इसीलिये शब्द को ब्रह्म की सज्ञा दी गई है।

महात्मा रज्जबजी की रचनाए सत-समाज और विद्वानो मे बहुत समय से अध्ययन का विषय और ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनी हुई हैं। इनके प्रकाशन की भी कई बार व्यवस्थायें हुई हैं। कितने ही सस्करणो मे सही बातो के साथ अनेक भ्रांतिपूर्ण बातें भी सामने आईं और इनसे सत्य पर पर्दा पडने का भय बना रहा। बहुत समय पूर्व स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण ने 'राजस्थान' कलकत्ता, वर्ष १, अङ्क ३-४ मे अपना शोधपूर्ण लेख महात्मा रज्जबजी के विषय मे छपाया

था और बहुत सी ऐसी बातो पर प्रकाश डाला था कि जिनसे अनेक विद्वानो के भ्रम का निवारण हुआ और सुपुष्ट प्रमाणो के आधार पर रज्जबजी के विषय मे मान्यताओ की सस्थापना हुई ।

सन् १९६० के नवम्बर मास मे कानपुर नगर के डी० ए० वी० कॉलेज के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक श्री ब्रजलाल वर्मा ने हमको सूचना दी कि उन्होने 'रज्जब वाणी' पर अनुसधान करके अपना शोध-प्रबन्ध 'सत कवि रज्जब - सम्प्रदाय और साहित्य' शीर्षक से लिखा है, जिस पर उन्हे पी-एच० डी० की उपाधि भी 'आगरा विश्वविद्यालय' से प्रदान की गई है। उन्होने यह भी सूचित किया कि वह शोध-ग्रन्थ उन्होने समूचे राजस्थान की तीन बार यात्रायें करके अनेक पुस्तकालयो का निरीक्षण एव विद्वानो से परामर्श करने के बाद लिखा है और रज्जबजी सम्बन्धी अपनी गवेषणाओ का इसमे समावेश किया है।

राजस्थान में रचित और राजस्थानी भाषा के साहित्य की प्रतियों को उपलब्ध करके उनके समीक्षात्मक सस्करण प्रकाशित करना अथवा गवेषणात्मक लेखो को प्रकाश मे लाना राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की एक अन्यतम प्रवृत्ति है। इसलिये हमने डॉ० ब्रजलाल वर्मा जी से उनके शोध-प्रबन्ध की पाडुलिपि मगवा कर देखी। डॉ० वर्मा ने वास्तव मे बहुत परिश्रम और गहन अध्ययन के उपरात यह शोध-प्रबन्ध लिखा है जो राजस्थान के एक सुप्रसिद्ध सत साहित्यकार के जीवन, साहित्य और दर्शन पर अध्ययनात्मक प्रकाश डालता है। साथ ही, तत्कालीन सामाजिक स्थिति और मानव-जीवन के विविध पक्षो का भी विवेचन किया है। पाचवे अध्याय में रज्जबजी के साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा और सातवें अध्याय में रज्जब साहित्य के पारिभाषिक शब्दो का विवेचन बहुत उपयोगी रूप मे हुआ है।

पुस्तक का मुद्रण यद्यपि सन् १९६१ में ही प्रारम्भ हो गया था परन्तु बीच बीच मे कई बार अडचनें भी आईं। कई बार प्रेस कॉपी को सशोधन के लिये लेखक महोदय के पास भेजना पडा और प्रूफो की जो जोधपुर से कानपुर तक और फिर कानपुर से जोधपुर तक यात्राए होती रही तज्जन्य विलम्ब भी सहज सबोध्य है। फिर भी, डॉ० वर्मा ने जिस लगन और तत्परता से इस कार्य का सम्पादन किया है वह सर्वथा सराहनीय है और उनकी विद्वत्ता के अनुरूप है। राजस्थान की कितनी ही यात्रायें करके अनेक स्थलो पर जा जा कर उन्होने रज्जब साहित्य को समझने के प्रयत्न किये हैं जो ऐसे शोध-विद्वान् की रुचि और लगन का परिचायक है। उदाहरणार्थ, पुष्कर तीर्थ-निवासी

श्रीकृष्णकृपाकुटीर के स्वामी श्री नारायणदासजी भी एक-दो बार यहा प्रतिष्ठान में पधारे थे और उन्होने कृपापूर्वक डाक्टर वर्मा को रज्जब साहित्य के कठिन स्थलो पर निर्देशन देने की बात बताई। डॉ० वर्मा ने भी अपने वक्तव्य में इसका उल्लेख किया है। वास्तव में, सतो के साहित्य में बहुत से ऐसे कठिन स्थल और पारिभाषिक शब्द समाविष्ट रहते है कि जिनको सम्प्रदाय के विशिष्ट विद्वान् ही खोल कर समझा सकते हैं अन्यथा तो अर्थ का अनर्थ होने का भय रहता है। डॉ० वर्मा ने इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा है और स्वामीजी जैसे सम्प्रदाय के मर्मज्ञो से आवश्यकतानुसार मार्ग-दर्शन लेकर इस शोध-प्रबन्ध को तैयार किया है, जिसकी उपयोगिता नि.सन्देह है।

बहुत सावधानी बरतने पर भी मुद्रण में एक मोटी भूल रह गई है, वह यह है कि पुस्तक के पृष्ठ २० की बारहवी पक्ति मे रज्जबजी की आयु १२२ के स्थान में ६२ वर्ष छप गई है, जिसको सुधार कर पढने के लिये पाठको से अनुरोध है। राजस्थान में इस दीर्घजीवी और अनुभूतिपरायण निर्गुण सत के साहित्य पर इस रूप में समीक्षा को प्रकाशित करते हुए प्रतिष्ठान की ओर से हम डॉ० वर्मा को उनके परिश्रम के लिये पुन. धन्यवाद देते हैं और आशा करते है कि श्री व्रजलाल वर्मा के इस शोध प्रबन्ध से अन्य अनुसन्धित्सुओ को दिशा मिलेगी और साधु-सम्प्रदाय को सतोष प्राप्त होगा।

मध्ययुगीन सकटकालीन परिस्थितयो मे चारो ओर धार्मिक अत्याचार होने लगे तो अनेक सत-सम्प्रदायो को वीर-भूमि राजस्थान मे ही प्रश्रय और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। कतिपय धर्माचार्यों ने आततायियो से आक्रान्त हो कर राजस्थान की रियासतो के सरक्षण मे रहना उपयुक्त समझा और वे क्रमश. यहा आ आ कर अनेक स्थलो मे बस गये। राजस्थान के विभिन्न भूभागो मे अद्यावधि अवस्थित विविध सम्प्रदायो के धर्मस्थान इस के प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रकार राजस्थान में एक विशेष आध्यात्मिक वातावरण बन गया था जिसके परिणामस्वरूप अनेक नवीन सन्त-सम्प्रदायो का जन्म भी हुआ। दादू, रामस्नेही और विश्नोई आदि सन्त-सम्प्रदायो का जन्म और विकास राजस्थान में ही हुआ था। इन सम्प्रदायो के अन्तर्गत राजस्थानी भाषा मे बहुत साहित्य का निर्माण हुआ जो इस भाषा की स्थायी निधि है। इस प्रकार का अधिकाश साहित्य अभी तक भी अन्धकार मे पडा है। आशा है कि प्रस्तुत 'रज्जब-साहित्य' अध्येताओ को अन्य सन्तो के विषय मे भी प्रयत्नशील होने को उत्साहित करेगा।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षामन्त्रालय की 'आधुनिक भारतीय भाषा विकास योजना–राजस्थानी' के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है, जिसके व्यय में से पचास प्रतिशत अनुदान केन्द्रीय सरकार के उक्त मन्त्रालय से प्राप्त हुआ है। तदर्थ हम केन्द्रीय सरकार के आभारी हैं।

मुनि जिनविजय
सम्मान्य सचालक



परम पूज्य पिता स्व० बिहारीलाल जी जिन्होने २० मई सन् १९५० को अपने स्वर्गमन से पूर्व अपनी ममतामयी एव पुण्यकरी वृत्तियो से यावज्जीवन मुझे सरस्वती-साधना मे प्रवृत्त रखा, जिनको मैं भैया कहता था और जो मुझे भैया कहते थे, उन्ही के महिमा प्रकृष्ट कर-युगल मे 'सत कवि रज्जव—सम्प्रदाय और साहित्य' शीर्षक मेरा यह शोध ग्रथ श्रद्धा सहित समर्पित है।

भैया तव तक अमर धरा पर तुम, जव तक यह ग्रथ अमर
जव तक तुम हो अमर, अमर मैं भी तव तक हे पितृ प्रवर

तुम्हारा भैया
व्रजलाल

उपोद्घात

अनुसन्धान-कार्य का मूल्य मेरे मन मे असाधारण था। उधर कार्य पूर्ण हो जाने की उपलब्धि का काल्पनिक सम्भाव्य सुख भी मेरे हृदय मे समान प्रतिष्ठा का अधिकारी बना। कार्य की गुरुता का अनुमान जहा एक ओर मुझे इस आशका में डाल देता कि मैं अपने पुरुषार्थ से साधना का उपयुक्त मूल्य चुका सकूगा कि नही— वही दूसरी ओर कार्य-पूर्ति की सम्भावित उपलब्धि मुझे विवश कर देती कि मैं हिन्दी साहित्य मे कोई ऐसा विपय खोजू जिसे अनुसन्धान-कार्य की वर्ग-तालिका मे बिना किसी रूरियायत के रखा जा सके। इस दृष्टि से मेरे सामने गवेषणा का दोहरा काम था—एक अनुसन्धान के लिये अनाविष्कृत विषय की खोज करना—दूसरा उपयुक्त विषय के खोज लेने पर विषय के अन्तर्वर्ती स्वरूप की गवेषणा। इसी प्रयोजन-सिद्धि को लक्ष्य मे रख कर मैंने विषय की खोज मे लगभग ४ वर्ष लगाये। सन् १९५० से सन् १९५३ तक। इतनी अवधि मे जो विषय मेरी दृष्टि मे आया उसी की विवेचना के रूप मे प्रस्तुत कृति आपके समक्ष है। विश्व-विद्यालय से विषय के स्वीकृत हो जाने के उपरान्त दो वर्ष तक सत कवि रज्जब-सम्प्रदाय और साहित्य—यह विषय मेरे लिये समस्या बन गया—एक उलझन-सा लगने लगा। यह मैं कही आगे बताऊँगा कि इस विषय के चुनाव मे प्रेरक कौन था। इस प्रकार ये दो वर्ष व्यर्थ चले गए। सन् १९५५ कैलेन्डर मे उतर आया। सन् १९६० के मई मे मैंने कार्य पूरा कर दिया। ५५ और ६० के बीच ४ वर्ष होते हैं। इस प्रकार विषय की खोज में मैने ४ वर्ष लगाये तथा विषय पर शोध करने मे भी चार वर्ष। २ वर्ष उलझन मे बीते। पूरे १० वर्ष हो गए। एक दशक में ३२५ पृष्ठ का यह कार्य पूरा हुआ। किन्तु इसमें कालकी दीर्घता का ऊपर-ऊपर से भ्रम भले हो—भीतरी असलियत कुछ और है। इसी बीच मैंने महात्मा कवि रज्जव की सम्पूर्ण मौलिक रचनाओ का ६१५ पृष्ठ का सग्रह भी सम्पादित और प्रकाशित किया। रज्जवजी की दूसरी कृति 'सर्वांगी' के सम्पादन का कार्य भी हाथ में लिया और उसे कुछ दूर तक पहुचाया है। सर्वांगी मे रज्जवजी ने अपने पूर्ववर्ती सन्त कवियो की श्रेष्ठ वानियो का अगवद्ध चयन एव सम्पादन किया है। शोध-कार्य के पूर्ण होने पर मुझे इस विचार से परितोष मिला कि एक दु साध्य काम सध गया और यह सोच कर मैं आनन्द-पुलकित हुआ कि मैंने एक सम्पन्न नया कवि हिन्दी-भक्ति-साहित्य को

दिया—पठान-कुल में जन्म लेने वाला मुसलमान कवि—जिस मुसलमान हरि-जन पर कोटिक हिन्दू वारने की प्रेरणा सार्थवती हो जाय।

इस सन्त कवि के प्रसग मे भर्तृहरि की उस उक्ति का स्मरण हो आता है—

मनसि वचसि काये पुण्य पीयूष पूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकार श्रेणिमि प्रीणयन्त ।
पर गुण परमाणून्पर्वतीकृत्य नित्य,
निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ?

जिनके मन, वचन और शरीर में पुण्यामृत की धारा प्रवहमान् है, जो अपने उपकारो से त्रिलोकी को प्रसन्न करते हैं तथा जो दूसरो के अणुप्रमाण गुणो को पर्वत तुल्य विशाल बना कर अपने हृदय में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, ऐसे महात्मा विश्व में कितने हैं ?

रज्जबजी ऐसे ही महात्मा थे। प्रश्न यह उठता है कि सन्त रज्जब को मैंने अपने अध्ययन का विषय क्यो बनाया, विषय-निर्वाचन में कौन प्रेरणाए कार्य कर रही थी, रज्जबजी की किन विशेषताओ ने साग्रह मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया ? इसका उत्तर अर्पित करने की आवश्यकता और इसमे मेरी प्रसन्नता सहज अनुबन्धिनी सी प्रतीत होती हैं। मेरा विश्वास रहा है कि जिस साहित्य मे जीवन को उदात्त एव मगलमय बनाने की सामर्थ्य न हो वह साहित्य मोघ है, निष्प्रयोजन है। दूसरी ओर वह कृति, जिसमें मानव-हृदय को भावोद्बुद्ध करने की क्षमता न हो, जिसमें केवल सदाचार के नियमो की विवेचना हो, वह कृति धर्म ग्रन्थ हो सकती है, काव्य-कृति नही। एक ओर यह विश्वास मेरे हृदय मे सक्रिय था, दूसरी ओर अनुसन्धाता की यह स्वाभाविक प्रबल इच्छा कि विषय ऐसा हो जिसके उद्घाटन मे शोध-साधना की सार्थकता प्रमाणित हो सके। ऐसी स्थिति मे मेरा ध्यान वारवार कवीर और तुलसी के आस-पास चक्कर लगा रहा था, किन्तु यह दोनो कवि अन्य विद्वानो द्वारा पूर्वान्विष्ट थे। फिर मुझ मे इतने गहरे अवगाहन की क्षमता कहा कि विद्वानो द्वारा खोजी गई साधना-सीपी का मुह पसार कर उससे किसी नवीन ज्ञान-मुक्ता को निकाल लेता। भय यह भी था कि कही सीपी को ही मोती न मान वैठूं और वाजार मे उसे मोती के दामो मे वेचने की चेष्टा मे साहित्य-प्रवचक समझा जाऊ।

सगुण वैष्णव उपासना के दैनन्दिन-विधान मुझे अपने शैशवकाल से ही अपने घर मे देखने को मिलते थे। साधुओ और सन्यासियो में मेरे स्व० पिताजी की अखण्ड निष्ठा थी। आये दिन घर में धार्मिक कृत्य होते रहते थे, पर न

जाने क्यो प्रारम्भ से ही मेरे चित्त मे निर्गुण निराकार तत्व के प्रति एक विशेष आकर्षण था, जब कि सगुण-साकार के प्रति कम आस्था नही। अपने हृदय की इसी भाव-भूमि में स्थित मैने रज्जबजी को चुना।

सुना था, समान समान की ओर ही आकृष्ट होता है, 'समान शील व्यसनेषु सख्यम्'। पर मेरे मन का इस सत कवि की ओर आकृष्ट होना तो इस उक्ति का विपर्यय ही है। कहा सतो के निसर्ग दुर्बोध अप्राकृत आचरण और कहा अबोध विक्लव मेरा प्राकृतजनोचित्त षड्‌विकाराभिभूत जीवन! मेरे जीवन में जिन तत्त्वो का अभाव था, कदाचित् उन तत्त्वो की ओर मेरी प्रवृत्ति मेरा व्यामोह मात्र थी। इस कुंठा के होते हुए सत-बानी तथा सत चरितामृत की ओर मेरा पक्षपात उत्तरोत्तर बढता ही गया। भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाता।

दिवसो मासो मे वर्ष बीतने लगे। ज्ञान सागर प्रेस बम्बई की छपी 'रज्जब-बानी' किसी प्रकार उपलब्ध हुई, बडो ललक से उसका अध्ययन प्रारम्भ किया, किन्तु ग्रथ के लगभग प्रत्येक पद के अशुद्ध मुद्रित होने के कारण प्रारम्भिक कार्य मे कोई प्रगति न हुई। मैंने नारनोल के स्वामी गोविन्दराम जी लायकराम के मन्दिर वालो को एक पत्र लिखा, जिन्होने प्रत्युत्तर मे लिखा, 'रज्जबजी महाराज् की वाणी का अर्थ समझने वाले महात्मा बहुत हैं, जो राजस्थान मे रहते हैं। यदि आपको आवश्यकता है तो मैं उनसे पत्र-व्यवहार करके आपको सूचना भेज दूंगा।' यह जान कर मुझे कुछ आशा बधी, किन्तु जयपुर दादू महाविद्यालय के विद्वत्प्रवर स्वामी मगलदासजी द्वारा भेजा गया २७-८-५५ का उत्तर वंधी बधाई आशा का अवरोधक बन गया—"रज्जबजी की वाणी की जानकारी रखने वाले दादूपथी सम्प्रदाय मे दो महात्मा थे, उन दोनो का ही स्वर्गवास हो चुका है। जयपुर मे इसका ठीक से कोई जानकार नही है।" यह उत्तर प्राप्त करने के उपरान्त मैने जयपुर जाना आवश्यक समझा, किन्तु इस पर स्वामो मगलदासजी का उत्तर आया, "आप जानते हैं, सामान्य-तया हिन्दी के विशेषज्ञ सन्त-साहित्य से अपरिचित से ही रहते हैं, अत उनसे तो इस कार्य मे कोई सहायता मिलने की आशा नही। इस काम में तो उसी से कुछ लाभ हो सकता है जो कुछ स्वय जानता हो—ऐसा व्यक्ति कोई नजर मे नही है। जिनके लिए मैने लिखा था वे चातुर्मास निमित्त जयपुर से वाहर हैं।" कार्य में इन व्यवधानो के होते हुए भी पण्डित परशुरामजी का सन् १९५३ का लिखा हुआ पत्र मेरे क्षीण साहस के टूट जाने से वाल-वाल बचा रहा था। "मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आप रज्जबजी के विशेप अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। रज्जवजी की वाणो प्रकाशित रचना है और 'सर्वंगी' अभी तक

अप्रकाशित है। इन दो रचनाओ के अतिरिक्त उनकी अन्य किसी कृति का पता नही है। सम्भव है स्वामी मगलदास दादू महाविद्यालय, मोती डूंगरी, जयपुर से पूछताछ करने पर कुछ विशेप पता चल सके। मेरा सहयोग सदा सुरक्षित है।"

अन्तत सन् १९५६ के दशहरे मे मै जयपुर पहुँच गया। सतो का सान्निध्य सदैव वरदान-प्रद होता है। भोजन करते समय स्वामी मगलदासजी ने मुझसे कहा, "आपके सौभाग्य से रज्जब साहित्य के विशेपज्ञ स्वामी नारायणदासजी पुष्कर वाले आ गये हैं। रज्जब साहित्य के अध्ययनार्थ आप भोजन के उपरान्त तत्काल उनके साथ पुष्कर के लिए रवाना हो जाय।" पूज्यपाद स्वामी नारायणदासजी ने स्नेहपूर्वक मुझे साथ ले लिया। पुष्कर में रह कर मैंने रज्जब बानी का अध्ययन एव पाठ-शोधन किया, किन्तु आधा कार्य फिर भी शेष रहा, जिसको पूरा करने के लिए एक वर्ष बाद मुझे पुन जयपुर तथा पुष्कर जाना पडा। इन दोनो यात्राओ मे नारायणा के दादू द्वारे मे सगृहीत विपुल-सत साहित्य की हस्तलिखित प्रतिया देखने को मिली। वहा के स्वामीजी व पुजारी हरीरामजी ने उदारतापूर्वक सारे साहित्य को एक विहगम दृष्टि से अवलोकन करने का मुझे अवसर दिया।

अब मेरे अनुसधान के कार्य की रूप-रेखा कुछ-कुछ स्पष्ट हो चली। इसी बीच मैंने यह भी चाहा था कि जयपुर के स्वर्गीय पुरोहित हरिनारायण शर्मा का सग्रहालय भी देखू, किन्तु पता यह चला कि उनकी सारी साहित्य-सम्पत्ति प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर को समर्पित कर दी गई है—इस शर्त पर कि सरकार पुरोहितजी की सामग्री को जयपुर से न हटाये जिसके लिए आवश्यक हो गया कि 'प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान' जोधपुर को एक शाखा जयपुर मे भी रहे जिसमे पुरोहितजी की साहित्य-सामग्री सरक्षित रह सके। पुरोहितजी के उक्त सग्रहालय से मुझे विशेप अपेक्षित सामग्री न उपलब्ध होसकी। पुष्करवासी स्वामी नारायणदासजी ने मुझे रज्जव वानी का अर्थ मात्र ही नही वताया प्रत्युत् रज्जव साहित्य की समस्त अन्तर्विशेपताओ से मुझे परिचित कराया, कुछ नये पारिभापिक शब्दो के अर्थ वताये तथा कुछ अन्तर्कथाये स्पष्ट की। शोध-सामग्री सकलित होने लगी, सूचनाओ का सचय होने लगा। शोध-प्रबन्ध की रूप-रेखा के अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया। मेरी यह प्रतीति दृढ हो गई कि विश्वात्मा की कृपा सतो के माध्यम से ही पृथ्वी पर उतरती है।

रज्जबजी का साहित्य हिन्दी-जगत् के लिए कुछ नवीन सा है तथा समालोचना और विवेचना के लिए तो और भी नवीन है। रज्जबवानी का प्रकाशन

सवत् १९७५ मे ज्ञान सागर प्रेस माटुगा, बम्बई से हुआ था, किन्तु नितान्त अशुद्ध मुद्रित होने के कारण वह न होने के समान ही रहा। राजस्थान और पंजाब के दादू-पंथियो के बीच यद्यपि रज्जब-साहित्य का पठन-पाठन चलता रहता था, किन्तु हम उसे हिन्दी साहित्य के अध्ययन की विकसित परम्परा के अन्तर्गत नही रख सकते। उस पठन-पाठन की पृष्ठ-भूमि मे दादू सम्प्रदाय की धार्मिक आस्था ही मूल प्रेरक थी। पुरोहित हरिनारायण शर्मा के 'महात्मा रज्जव' शीर्षक लेख तथा पण्डित परशुरामजी चतुर्वेदी की पुस्तक 'उत्तरी भारत की सत परम्परा' से इतर रज्जबजी पर कोई आलोचनात्मक सामग्री उपलब्ध नही होती और सम्भवत लिखी भी नही गई। अपेक्षित सामग्री के अभाव मे मेरा यह कार्य अपनी शोध-सीमाओ से भले ही पीडित हो, किंतु इससे एक नवीन निर्गुण धारा के समृद्ध सत कवि का धूमिल रेखा-चित्र तो प्रस्तुत हो ही जायगा, जिसमे अन्य सुधी-साधक सुविधा से अपनी इच्छानुसार रग-योजना कर सकते हैं। मेरा यह प्रयास रज्जब-साहित्य की समालोचना का 'अथ' है 'इति' नही—प्रयत्न है, सिद्धि नही।

प्रथम अध्याय मे रज्जबजी की जीवन-सामग्री पर विचार किया गया है। मुझे यह स्वीकार करने मे सकोच नही है कि रज्जबजी के जीवन पर कुछ अधिक स्पष्ट निर्भ्रान्त सूचनाये प्रस्तुत की जानी चाहिए थी, पर यह मेरा और विषय का दुर्भाग्य है कि मेरे द्वारा यत्किञ्चित उपस्थित किये गये तथ्यो से आगे न तो *अन्त.साक्ष्य के आधार पर और न वाह्य साक्ष्य* के आधार पर कोई सामग्री प्राप्त होती है। महात्मा नारायणदासजी के परामर्शों का मैंने इतस्तत: उपयोग किया है। दादू-पथ मे इन महात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा महात्मा नही है जो रज्जब साहित्य मे विशेष रुचि अथवा जानकारी रखता हो। मैंने रज्जबजी के जीवन के कतिपय पटलो पर प्रकाश डालने के लिए पुरोहित हरिनारायण शर्मा के विचारो का आश्रय लिया है। उन्ही के द्वारा सम्पादित 'सुन्दर ग्रथावली' से भी कुछ सहायता प्राप्त हुई है। रज्जबजी का जीवन-वृत्त अतीत के ऐसे गहन तिमिर मे विलुप्त हो गया है कि उसका अधिक परिचय पाना कठिन ही नही, असम्भव प्रतीत होता है। चतुर्वेदीजी की 'उत्तरी भारत की सतपरम्परा' भी इस दिशा मे उपयोगी सिद्ध हुई, किन्तु इन वहुविध सूचनाओ के समस्त उत्सो का मूल उद्गम एक ही प्रतीत होता है। उनकी जीवन सामग्री खोजने का प्रयत्न मैंने उनके दो तीन थाम्भो (गद्दियो) मे किया। जैसे— निवाई, भादवा तया सागानेर) किन्तु इन स्थानो में कोई ऐसे साधु नही रहे, जिनसे कुछ अधिक जानकारी प्राप्त होती। अत. समस्त सम्भव साधनो का सदु-

पयोग करने के उपरान्त जो निष्कर्ष उपलब्ध हो सके, उन्ही से सतोष करना पडा ।

द्वितीय अध्याय मे रज्जब-युगीन सामाजिक स्थिति पर विचार किया गया है । इस अध्याय के विचारो का आधार आधुनिक इतिहासकारो के वे ग्रन्थ है जिनमे उस काल की सामाजिक स्थिति पर प्रामाणिक ढग से विचार किया गया है । सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी के इतिहास के सम्बन्ध मे इतिहासकारो को कोई भ्रम नही है, इसलिए यह मान लेने में हमें कोई कठिनाई नही है कि इस अध्याय मे दी गई अपेक्षित सामग्री अभीष्ट विषय को सुस्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है ।

तृतीय अध्याय में महात्मा दादू दयाल के सिद्धान्तो का सामान्य परिचय दिया गया है । उसमे दादू-सम्प्रदाय का आविर्भाव, सिद्धान्तो की पृष्ठ भूमि एव प्रभाव तथा पथ मे रज्जबजी का स्थान आदि विषयो पर विचार किया गया है । द्वितीय और तृतीय अध्यायो में केवल उन्ही ग्रथो का उपयोग किया गया है जिनकी विषय-निरूपण मे किसी न किसी प्रकार की उपादेयता और महत्ता है । दादूजी के सिद्धान्तो की विवेचना मे दादू बानी तथा अन्य साम्प्रदायिक सामग्री के उपयोग के साथ ही जो पथ सबधी सूचनाये मुझे राजस्थान की यात्राओ में प्राप्त हुई, उनका भी यथापेक्षित उपयोग मैंने किया है ।

चतुर्थ अध्याय मे रज्जबजी की आध्यात्मिक एव दार्शनिक अनुभूतिया मेरे पर्यवेक्षण का विषय रही हैं । जिन परम्पराओ का रज्जबजी पर सीधा प्रभाव पटा है उनका उल्लेख मुझे अधिक न्यायसगत प्रतीत हुआ । उदाहरणार्थ नाथो, सूफियो, वैष्णव तथा शैव मतो का प्रभाव रज्जबजी पर सीधे न पड कर कबीर और दादू के माध्यम से पडा, ऐसी मेरी धारणा है । इसीलिए कबीर और दादू के विचारो एव धार्मिक विश्वासो का उपयोग भी यथास्थान किया गया है । बौद्धो का प्रभाव यत्किंचित् रज्जबजी मे लक्षित होता है । उसकी व्याख्या अतिम अध्याय के पारिभाषिक शब्दो, शून्य, सहज-शून्य, एवं मध्यम मार्ग के अन्तर्गत की गई है । बौद्ध धर्म का रज्जबजी पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाना मुझे तर्कसम्मत नही प्रतीत हुआ । इसी प्रकार नाथ-योगियो के प्रभाव की बात है । रज्जबजी के धार्मिक विश्वासो की पूर्व भूमिका के रूप मे मैने प्रत्येक शास्त्रोक्त मत की व्याख्या प्रस्तुत कर दी है । मूल मतो की पीठिका पर ही हमने रज्जबजी के धर्म-भाव का परीक्षण किया है, और इसके लिए विभिन्न धार्मिक-मत-मतान्तरो की सामग्री का भी उपयोग करने की यथाशक्य चेष्टा की गई है ।

पाँचवें अध्याय मे रज्जबजी के साहित्य की काव्य-शास्त्रीय व्याख्या की गई

है। इस अध्याय मे यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि कवित्वमयी अभिव्यक्ति एव साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से कबीर और दादू पथ मे रज्जबजी के टक्कर का दूसरा कवि नही है। रज्जबजी की भाषा और छद-पद्धति पर भी विचार किया गया है। अपने विवेचन मे प्रबन्ध को अनावश्यक विस्तार से बचाने का प्रयत्न मैने सर्वत्र किया है। रज्जबजी का साहित्य मुखरित दशा मे पाठको के सम्मुख आ सके, इसका आद्योपात ध्यान रखा गया है। रज्जबजी के साहित्यिक मूल्याकन मे उनकी वाणी से ही उद्धरण उपस्थित किए गये है। उनकी सकलित कृति 'सर्वांगी' से जानबूझ कर उद्धरण नही प्रस्तुत किए गये क्योकि उसमे एक ही विषय पर भिन्न-भिन्न सतो की उक्तियो का सग्रह किया गया है, जिनमे बहुतो से सत-साहित्य के विद्वान् प्रायः परिचित हैं। हा, 'सर्वंगी' के विषयो की अग-तालिका अवश्य प्रस्तुत की गई है, जिससे पाठक 'सर्वांगी' का एक सामान्य परिचय प्राप्त कर सके।

छठे अध्याय मे रज्जबजी के साहित्य मे नियोजित मानव-जीवन के विविध पक्षो पर विचार किया गया है। इस अध्याय मे मेरा भरसक प्रयत्न रहा है कि निरूपण पूर्णत रज्जबजी की साहित्य-सामग्री पर ही आधारित रखा जाय, जिससे रज्जबजी की मानव-जीवन सम्बन्धिनी मूल धारणाओ से पाठक-वृन्द का परिचय हो सके।

सातवें अध्याय मे रज्जबजी के साहित्य मे प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या दी गई है। 'पोरस' और 'दिब' इन दो शब्दो की व्याख्या विशेष अवधेय है क्योकि दादूपथी साहित्य मे इन शब्दो का प्रयोग कई स्थानो पर साभिप्राय किया गया है। इन शब्दो मे अन्तर्हित अर्थ को बिना समझे उन स्थलो मे कवि द्वारा प्रेषित आशय को नही समझा जा सकता। इसी उद्देश्य से मैंने उक्त दोनो शब्दो को पारिभाषिक शब्दावली के अन्तर्गत रखा है। परिशिष्ट मे रज्जबजी के शिष्यो और थाभो की सामान्य सूचना उपस्थित की गई है, परन्तु इस विषय का भी रज्जबजी के जोवन से एकान्त सम्बन्ध होने के कारण प्रमाणाधारित विस्तृत तथ्य नही प्रस्तुत किए जा सके।

सत रज्जब पर कार्य करने मे जो बाधाएँ और कठिनाइया उपस्थित हुईं, उनका निराकरण मुख्य रूप से आठ व्यक्तियो द्वारा हुआ—स्व प विष्णुदत्त शुक्ल, पूज्यपाद स्वामी मगलदासजी जयपुर, स्वामी नारायणदासजी पुष्कर, पण्डित परशुराम जी चतुर्वेदी बलिया, डॉ० मुशीराम शर्मा 'सोम', डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, प्रो० सिद्धिनाथ मिश्र, प्रो रमाकान्त शुक्ल। यदि उक्त गुरुजनो एव मित्रो की कृपा और सहायता न उपलब्ध हुई होती तो यह कार्य किस स्थिति मे होता, कहा नही जा

सकता। प्रारम्भ मे स्वामी मगलदासजी रज्जब-साहित्य से अपना किञ्चित अपरिचय व्यक्त कर रहे थे, पर मै भी कालिदास के यक्ष की निष्ठा, 'याच्ञामोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा' पर दृढ था। गुणवान् व्यक्ति से की गई निष्फल याचना भी अधम व्यक्ति से की गई सफल याचना से श्रेष्ठ होती है। यक्ष की याचना मेघ ने पूरी की हो या न की हो—मेरी एक याचना पर इन सत-पयोदो ने कृपा-वारि की ऐसी अजस्र वर्षा की कि मेरा हृदय कृतकार्यता के आनन्द से आप्यायित हो गया।

मेरा यह अनुसधान कार्य आदरणीय डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, अध्यक्ष हिन्दी विभाग डी ए वी कॉलेज, कानपुर के निर्देशन मे पूर्ण हुआ है। डॉ० शुक्ल की मृदुल स्नेह-सिद्ध प्रेरणा अपने प्रभाव मे अतीव बलिष्ठ सिद्ध हुई। इन महानुभावो के प्रति मैं औपचारिक आभार प्रदर्शित न कर उनका चिरऋणी बना रहने मे ही आनन्द का अनुभव करता हूँ। आगरा-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति श्री कालिकाप्रसाद भटनागर के औदार्य की कृपा-प्रशस्ति मैं किन शब्दो मे करू। मेरी अध्ययन सम्बन्धी समस्त उपलब्धियाँ उनकी कृपा का ही फल है। अत मैं शब्दो द्वारा उनके ऋण से कैसे मुक्त हो सकता हूँ। इनके अतिरिक्त मेरे अन्य कई गुरुजनो, मित्रो और छात्रो की शुभकामनाएँ एव सहयोग मेरे इस कार्य का अव्याहत प्रसादन करती रही हैं। फिर उनके स्नेह का प्रतिकार कर उनसे ऋण-मुक्त क्यो होऊ। मेरे पत्रकार गुरु स्व० पडित विष्णुदत्ताजी शुक्ल, मेरे विद्वान् सुहृद् प्रो० सिद्धनाथ मिश्र मेरे जीवन सखा प्रो० रमाकान्त शुक्ल की अन्तरग प्रेरणाओ के जादू से मे कभी बच न पाया। प्रो० दीनबन्धु त्रिवेदी, प्रो० राजकुमार त्रिवेदी तथा प्रो० महेन्द्र विद्यार्थी की स्नेह और कृपा मेरा निरन्तर सम्बल रहे हैं। प्रो० वैजनाथ गुप्त इस स्नेह धारा की नवीन पूरक इकाई हैं। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के सचालक, उपसचालक की अनुकम्पा का निर्वचन करना सरल नही है। प्रतिष्ठान की कृपा का ही फल है कि यह कृति पाठको तक पहुँच सकी। प्रतिष्ठान के सभी अधिकारियो के सद्भावनापूर्ण उदार व्यवहार के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। मेरा प्रबन्ध गुरुजनो की कृपा का प्रसाद है। मैं उनके ज्ञान का प्रवक्ता मात्र हूँ। जो भी यहाँ श्रेष्ठ है, समीचीन है गुरुजनो की अनुकम्पा का ही प्रतीक है और जो त्रुटिपूर्ण है, सदोष है उसके लिए मैं अपनी अल्पज्ञता के साथ आप के समक्ष हू। जैसा मुझ से बन पडा, वैसा प्रस्तुत है।

ब्रजलाल

संत कवि रज्जब

सम्प्रदाय और साहित्य

अध्याय १

जन्म और जीवन

(क) जन्म-कुल तथा जन्म-स्थान । (ख) जीवन की विशेष घटनाएँ । (ग) विरक्ति और साधना की ओर ।

दादू-सम्प्रदाय के अन्तर्गत महात्मा रज्जब एक ऐसे साधक हैं जिन्होने अपने पूत आचार और पावन 'वानी' द्वारा समूची सत-साधना को धन्य कर दिया है। वे साधना-व्योम के उन नक्षत्रो मे हैं जो दोर्घ कालावधि पर्यन्त अविख्यात एव अदृश्य रह कर भी घोर अविद्याधकार मे भूले वटोहियो को दिशा-दर्शन कराते रहते हैं। रज्जबजी के जीवन का घटना-चक्र, साधनानन्यता, विपुल मनोरम अनुभूतियाँ, चिन्तन प्रकृष्टता, मौलिक ऊहाएँ तथा उद्भावनाएँ, साहित्यिक मनोज्ञता, आचार-वैचित्र्य तथा सन्त-स्वभाव-सुलभ वैलक्षण्य कुछ ऐसे अद्भुत पटल है जो दृष्टि-निक्षेप मात्र मे किमी के भी हृदय को सहज ही मे विमुग्ध कर देते हैं। साम्प्रतिक ख्याति एव प्रचार के युग मे सामान्यत विश्वास नही होता कि लगभग तीन शताब्दो पूर्व एक ऐसे भी सत थे जिनकी साधना, निष्ठा एवं मगलकारिणी 'वानी' सम्पूर्ण सन्त-साधना पर छायी हुई थी तथा जिनके सम्वन्ध मे हम न तो यही निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि उन्होने अपने जन्म से किस दम्पति को धन्य किया था और न यही निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि उस सत की जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि क्या है ?

(क) जन्म-कुल तथा जन्म-स्थान—

रज्जव जी की जन्म-तिथि, जन्म-कुल एव जन्म-स्थान विषयक जानकारी के प्रामाणिक स्रोतो के अभाव मे किसी के लिए भी 'इदमित्थम्' कह सकना कठिन है। राजस्थानी साहित्य और सस्कृति के मेधावी इतिहासकार जयपुर-निवासी स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा, बी ए, विद्याभूषण द्वारा दादू सम्प्रदाय के सन्तो के साहित्य एव जीवनियो पर गवेषणात्मक कार्य प्रस्तुत किया गया था। उन्होने स्वामी दादू दयाल के विद्वत्प्रवर शिष्य स्वामी सुन्दरदासजी

की सम्पूर्ण रचनाओ को 'सुन्दर-ग्रन्थावली' नाम से सकलित एव सम्पादित किया था, जिसका प्रकाशन स० १९९३ मे राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा हुआ था। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक अनुसधान-कार्य मे स्व० पुरोहित जी की कैसी अमोघ शक्ति थी, इसका परिचय तो 'सुन्दर-ग्रन्थावली' की ३९६ पृष्ठ की विस्तृत भूमिका और सुन्दरदास जी के जीवन-वृत्त को देख कर ही प्राप्त हो सकता है। पुरोहित जी राजस्थान के विद्वान् थे। उन्होने रज्जव जी के सम्बन्ध मे सम्यक् प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिए शत-शत प्रयत्न किए परन्तु ऐसे जिज्ञासु पुरुषार्थी शोधक को भी रज्जव जी के कुल, परिवार एव जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे प्राय अन्धकार मे ही रहना पडा।

पुरोहित जी ने रज्जब जी पर एक विस्तृत लेख 'महात्मा रज्जबजी' शीर्षक से लिखा जो कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले त्रैमासिक पत्र 'राजस्थान' के वर्ष एक के तीसरे और चौथे अको मे प्रकाशित हुआ था। उस लेख मे पुरोहित जी ने रज्जव जी की जीवन-विषयक प्रामाणिक सामग्री की खोज मे असमर्थता व्यक्त करते हुए लिखा था "रज्जब जी का जन्म-सवत् कही लिखा नही मिलता है"। उसी लेख मे आगे चल कर वे कहते है —

"अधिक खोज और तलाश करने से रज्जब जी और उनके थाभे के सम्बन्ध मे अनेक और बाते मिल जाने की पूरी सम्भावना है। हमको जो कुछ मिला है उसका खुलासा दिया गया है। अधिक ज्ञाता पाठकगण सशोधन तथा अभिवृद्धि करके इस विषय को शुद्ध और समृद्ध करें तो और भी उत्तम कार्य सम्पादन हो जाये।"

रज्जव जी की जीवन-सम्बन्धी जानकारी के लिए कई बार मैं जयपुर, आम्बेर, सागानेर, अजमेर, नारायणा, पुष्कर, साभर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, नाथद्वारा आदि स्थानो मे गया तथा दादू सम्प्रदाय के विख्यात सन्तो से मिला, विभिन्न स्थानो पर उपलब्ध सम्प्रदाय के ग्रन्थो एव सन्तो की वानियाँ देखी। महीनो दादू-द्वारो मे जा जा कर महात्माओ से मिला, किन्तु रज्जव जी के माता-पिता का नाम, उनकी जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि का प्रामाणिक पता कही भी न लग सका। इन यात्राओ एव मिलन-प्रसगो का इतना लाभ अवश्य हुआ कि पुष्कर के एक महात्मा स्वामी नारायण दास जी जयपुर के श्री दादू महाविद्यालय मे मिल गये। 'रज्जव-वानी' की एक छपी हुई प्रति जो ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई मे सम्वत् १९७५ में प्रकाशित हुई थी, मेरे पास थी। दो हस्त-लिखित प्रतियाँ श्री दादू महाविद्यालय, जयपुर के सग्रह से प्राप्त हुई, जिनको आधार मान कर मैंने उक्त पुष्करवासी स्वामी नारायण दास जी के साहचर्य

में रज्जब बानी का पाठ-शोध किया तथा उसका अर्थ भी स्वामी जी से समझा। नारायणे के दादू-द्वारा के विशाल सग्रहालय मे रज्जब जी की दूसरी कृति 'सर्वंगी', जो अनेक महात्माओ की बानियो का सग्रह है, प्राप्त हुई। उसकी एक वृहत् 'शरह' भी वही मिल गई। इस प्रसग मे मै इतना और कहना चाहूँगा कि राजस्थान के सगहालयो में 'सर्वंगी' की हस्तलिखित प्रतियाँ तो उपलब्ध होती हैं परन्तु 'बानी' का प्राय लोप-सा होता जा रहा है।

कहने का आशय यह है कि रज्जब जी की जन्म-तिथि, मृत्यु-तिथि तथा परिवार विषयक तथ्य, माता-पिता, भ्राता-भगिनी आदि के सम्बन्ध मे विद्वान् आज भी अधकार में हैं। पुरोहित हरिनारायण जी ने रज्जब जी के जीवन पर जो कुछ भी प्रकाश डाला है उसका आधार दादू-सम्प्रदाय के सतो की जनश्रुतियाँ एव कुछ सतों की बानियाँ मात्र हैं। कालान्तर मे रज्जब जी के सम्बन्ध मे इतस्तत चर्चा होने लगी थी। हिन्दी-जगत् रज्जब जी से प्रथम बार तब परिचित हुआ जब मिश्र-बन्धुओ द्वारा लिखा गया हिन्दी-साहित्य का विवरणात्मक इतिहास 'मिश्र-बन्धु-विनोद' नाम से स० १९७० में प्रकाशित हुआ। इस इतिहास में रज्जब जी का चलताऊ उल्लेख दो स्थानो में प्राप्त होता है।[1] परन्तु इससे एक बात स्पष्ट होती है कि मिश्र बन्धुओ को रज्जबजी के विषय में पूर्ण वृत्त प्राप्त नही हो सका था। उन्होने न तो उनके जन्म-स्थान, कुल आदि की कोई सूचना प्रस्तुत की और न उनकी कृतियो का ही ठीक ठीक उल्लेख किया। रज्जब जी की मूल रचना 'रज्जबबानी' का मिश्र बन्धुओ ने स्मरण भी नही किया। केवल 'सर्वंगी' सग्रह कृति का नामोल्लेख किया है। 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' के लेखक डा० रामकुमार वर्मा ने रज्जब जी का उल्लेख किया है किन्तु वे भी रज्जब विषयक जानकारी मे मिश्र बधुओ से आगे नही बढे। उन्होने रज्जब जी के सम्बन्ध मे कुछ उसी प्रकार की बात लिखी है।[2] मिश्र बधुओ ने तो 'सर्वंगी' नामक सकलित कृति का उल्लेख भी किया

१—"सुन्दरदास, रज्जब जी, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि उनके (दादू) शिष्य अच्छे कवि भी थे।" मिश्र-बन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३४९। "कवि सख्या ३३९, नाम—रज्जबजी, ग्रन्थ— सर्वंगी, रचना-काल—स० १७००, विवरण—साधारण श्रेणी, ये महाशय दादू के शिष्य थे। इन्होने खड़ी बोली लिए हुए कविता की है।" मिश्र-बन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ स० ४७५।

२—"जनगोपाल के अतिरिक्त दादू के अन्य शिष्य रज्जब ने भी दादू के जीवन पर प्रकाश डाला है।"—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ३९२। ये दादू-पथी थे। इनका 'छप्पय' नामक ग्रथ प्रसिद्ध है। यह छप्पय छद में लिखा गया है। इसका

था, परन्तु डा० वर्मा ने उसका उल्लेख नही किया है और रज्जब जी के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे वे मौन है। हिन्दी-साहित्य के तीसरे इतिहासकार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रज्जब जी सम्बन्धी साहित्य को कुछ अधिक निकट से देखा है। उन्होने उनकी रचनाओ का काव्यगत एव सैद्धातिक दृष्टि से मूल्याकन किया है परन्तु रज्जब जी के जीवन सम्बन्धी तथ्य उनकी कृति मे भी उपलब्ध नही होते।[1]

सत-साहित्य पर विद्वानो द्वारा उत्तरोत्तर खोज चलती रही। परतु दुर्भाग्य का विषय है कि पुरोहित हरिनारायण शर्मा के 'राजस्थान' पत्रिका मे प्रकाशित होने वाले रज्जब विषयक लेख म जो सामग्री पाठको के सामने आई उससे अधिक और आगे कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नही हो सकी। इसके कतिपय कारण थे —

१. दादू-सम्प्रदाय के महात्मा अपने सबध मे कुछ भी परिचय लिखना सत-साधना की दृष्टि से उचित नही मानते थे। वे उसे आत्म-विज्ञापन समझ कर उससे दूर रहना चाहते थे।

२ रज्जब जी दादू के शिष्य थे। अत विद्वानो और इतिहासकारो ने दादू के जीवन-वृत्त पर तो खोज की, लिखा, उनके सिद्धातो की समीक्षा की, परन्तु शिष्यो, अनुशिष्यो पर किसी ने विशेष ध्यान नही दिया।

३. मुद्रण-यन्त्र के अभाव मे सत-सम्प्रदायो का प्राय सारा ज्ञान, जानकारी एव इतिहास अनुश्रुति एव जनश्रुति परम्परा द्वारा ही एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुँचता था। सतो को जो विशेप कृतियाँ थी वे स्वय सत अथवा उनके शिष्य हाथ से लिख डालते थे। इधर जीवन-वृत्त लेखन की वैज्ञानिक प्रणाली का आविर्भाव तब तक नही हुआ था।

आविर्भाव-काल स० १७१० है। छप्पय ग्रथ में दादू के सिद्धान्तो का सरलता से वर्णन किया गया है।" हिन्दी साहित्य का आ० इतिहास, पृष्ठ ३९८।

१—"रज्जबजी, जगन्नाथजी और सुन्दरदासजी। इनमें भी रज्जबदास निश्चय ही दादू के शिष्यो मे सबसे अधिक कवित्त्व ले कर उत्पन्न हुए थे। उनकी भाषा मे भी राजस्थानीपन और मुसलमानीपन अधिक है। तथाकथित शास्त्रीय गुण का उसमें अभाव है फिर भी एक आश्चर्यजनक विचार-प्रौढ़ता, वेगवत्ता और स्वाभाविकता है और लोग जिसको कई पदो में कहते हे रज्जबजी उस तत्व को सहज ही में छोटे दोहे में कह जाते हैं। इनके वक्तव्य-विषय भी वही है जो साधारणत. निर्गुण भावापन्न साधको के होते हैं पर साफ और सहज अधिक।"
—हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १४६-४७।

इस प्रकार रज्जब जी के विषय में यदि थोडी-बहुत जानकारी कही से प्राप्त होती है तो वह दादू-सम्प्रदाय के संतो के द्वारा सुनी गई अनुश्रुतियो से। एक सत ने दूसरे को सुनाया, दूसरे ने तीसरे को, इसी क्रम से यह जानकारी सत पीढियो मे अवतीर्ण होती रही। किन्तु इस पद्धति से प्रोत्सारित तथ्यो के साथ एक सबसे बडी त्रुटि यह है कि उनमे सुनने वाले के मनोभावानुसार योग-विच्छेद भी होते रहते हैं। कहने वाला सदैव किसी सत्य को अपनी भावनाओ से रग कर प्रस्तुत करता है। दूसरे यह कि इस अनुश्रुति परम्परा द्वारा कोई विचार, सिद्धात अथवा समस्या का सम्प्रेषण तो अविकल भाव से हो सकता है परन्तु घटना-तिथियो, सवत्सरो को कहने या सुनाने वाला अपनी स्मृति मे चिरस्थायी नही बना सकता। अत तिथि-बद्ध वृत्त तब तक शुद्ध नही उतर सकते जब तक उन्हे कही लिख न लिया गया हो। रज्जबजी की जन्म-तिथि, मृत्यु-तिथि और माता पिता आदि का न तो किसी दादू-सम्प्रदाय के ग्रथो मे उल्लेख है और न किसी इतर ऐतिहासिक ग्रथ मे। रज्जब जी ने तो अपने सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट नही लिखा। यत्र-तत्र साधना सम्बन्धी आत्मपक्ष के कुछ सकेत रज्जब जी ने दिये हैं परतु उनसे कुल, स्थान और जीवन के ऐतिहासिक प्रसगो की जानकारी नही प्राप्त होती। स्व० डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने गोरख-बानी की भूमिका में तथा 'दि निर्गुन स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' मे दो-तीन स्थलो पर रज्जब जी का स्मरण किया है परन्तु उसमें भी रज्जब जी की जन्म और मृत्यु-तिथियो पर कुछ भी प्रकाश नही मिलता।[1] इसमें कोई सदेह नही कि साहित्य के इतिहासकारो एव सत-साहित्य

१—"नाथ योगियों की बाणिया कई हस्तलिखित प्रतियो में मिलती हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है। (क) यह प्रति पौडी गढ़वाल के पण्डित तारादत्त गैरोला को जयपुर से प्राप्त हुई थी। इसके चार विभाग हैं। पहले में दादू, कबीर, नामदेव, रैदास और हरिदास के ग्रन्थ है। दूसरे में योगियों की रचनाएँ हैं। तीसरे में दादू के सुन्दरदास, गरीबदास, रज्जबदास आदि कई शिष्यो की बाणिया हैं और चौथे मे 'सर्वांगी' ग्रन्थ जिसमें रज्जब ने गोरखनाथ से लेकर तुलसीदास तक योगी साधु-सन्त-महात्माओं की चुनी बाणियो का उत्तम सग्रह किया है। इस ग्रन्थ से योगियों की बाणिया नकल करा कर उनका मैंने मूल से मिलान किया। इस ग्रन्थ के अतिम अश के साथ पुष्पिका नष्ट हो गई है। इसलिए उसके लिपिकाल का पता नहीं चलता। यह असम्भव नहीं कि यह प्रति रज्जबजी ही के लिए अथवा उनके समय में लिखी गई हो। यदि यह बात हो तो इसका समय स० १४१५ के आसपास होना चाहिए। यह सबसे पहली प्रति है जिसके द्वारा योग साहित्य के साथ मेरा साक्षात् परिचय हुआ।"—गोरख बानी, प्रथम भाग, भूमिका, पृष्ठ १२। देखिए वही पृष्ठ १३-(६)'। यह प्रति भी पुरोहितजी के पास है। यह भी बडा सग्रह ग्रन्थ है। रज्जबजी की साखी की समाप्ति के बाद जो योगियो की बानी के कुछ पीछे आती है लिपिकाल यो दिया है—'स० १७४१ जेठ मासे। थावर वारे तिथिता [लिखिता]।।८।। वीन ५ में लिपि र्पात स्वामी सार्योदास कौं सु लिखि।

के शोधको ने रज्जब जी के जीवन के प्रामाणिक आधार खोजने के विपुल प्रयत्न किये परन्तु परिवार सबधी कोई सूचना अथवा उनकी जन्म-मृत्यु सबधी तिथियो का परिज्ञान न हो सका। रज्जब जी के सबध मे कुछ साम्प्रदायिक ग्रथ ही शेष बचते है जिनमे रज्जब जी के सबध में कुछ जानकारी प्राप्त होने की सम्भावना हो सकती थी। स्व० पुरोहित जी ने इन ग्रथो का सम्यक् निरीक्षण किया था पर रज्जब जी के जीवन सबधी तथ्यो की उपलब्धि इन ग्रथो मे भी न हो सकी।

जिन साम्प्रदायिक ग्रन्थो की ओर हमने सकेत किया है वे है —

(१) राघवदास का भक्तमाल, (२) नाभादास का भक्तमाल (३) दादू-जन्म लीला परची, (४) रामसनेही सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक महात्मा रामचरणदास की वाणी, (५) जगजीवनदास जी की वाणी, (६) बखना जी की वाणी, (७) सुदरदास जी की वाणी, (८) रज्जबदास की वाणी, (९) गरीबदास की वाणी, (१०) मसकीनदास की वाणी, (११) जगन्नाथदास की वाणी, (१२) प्रयागदास की वाणी, (१३) खेमदास तथा मोहनदास (रज्जब जी के शिष्य) की कृतियाँ, (१४) हरिदास की वाणी, (१५) दादूरामोदय (सस्कृत) रचयिता प० हीरादास जी (भिवानी) (१६) लालदास जी की नाममाला इत्यादि। दादू जन्म लीला परची मे तो दादू महाराज सबधी कतिपय तिथियो का उल्लेख प्राप्त होता है किन्तु अन्य किसी कृति मे ऐतिहासिक परम्परा की पृष्ठ-भूमि पर रज्जब जी के जीवन पर कोई विवरण उपलब्ध नही होता। किन्ही-किन्ही कृतियो में तो दादू जी के शिष्यो का नामोल्लेख मात्र कर दिया गया है। महात्मा लालदास जी की कृति 'नाम-माला' ऐसी ही रचना है। नाभादास के भक्तमाल मे केवल वैष्णव सतो की चर्चा की गई है। उसमे दादू-सम्प्रदाय के शिष्यो का कुछ भी विवरण प्राप्त नही होता। खेद के साथ कहना पडता है कि रज्जब जी के जीवन सबन्धी काल-क्रम पर कोई विशुद्ध ऐतिहासिक तिथि-बद्ध विवरण प्रस्तुत करना सम्भव नही। पुरोहित हरिनारायण जी द्वारा प्रस्तुत की गई रज्जब-विषयक सामग्री को देख कर ऐसा लगता है कि उन्होने रज्जब जी के जीवन पर प्रामाणिक सामग्री प्राप्त करने की यथेष्ट चेष्टा की परन्तु असफलता रही। पुरोहित जी ने जिन सूत्रो एव स्रोतो से सामग्री सकलित की थी उन पर भी काल की धूम्र-रेखाए छा गई है। अब उन स्रोतो का भी पता नही चलता। तब फिर पुरोहित जी द्वारा प्रस्तुत विवरण को ही रज्जब जी की जीवनी का आधार मान लेने मे हमारी विवशता और औचित्य दोनो ही है। पुरोहित जी ने 'राजस्थान' पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेख को ही आधार बना कर

सत-साहित्य के माने हुये विद्वान प० परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रथ 'उत्तरी भारत की सत परम्परा' में रज्जब जी पर कुछ विवरण प्रस्तुत किया है।

स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा रज्जब जी के जन्म-काल के सम्बन्ध में लिखते है कि—'रज्जब जी का जन्म-सवत् कही लिखा नही मिलता है, परन्तु यह विख्यात है कि वे १२२ वर्ष के होकर परमपद को गये थे। उनका शरीरावसान स० १७४६ (सन् १६८९) मे हुआ था। इस हिसाब से स० १७४६—१२२ = स० १६२४ मे जन्मे होगे। जन गोपाल कृत 'दादू जन्म लीला परची' में यह पाया जाता है कि दादू जी आम्बेर स० १६३६ से स० १६४८ तक व स० १६५० तक रहे थे। रज्जब जी इन १०–१२ वर्षो के बीच में दादू जी से आम्बेर मे मिले और शिष्य हुए। जन्म-लीला परची मे रज्जब जी का आम्बेर आकर शिष्य होना नही लिखा है। राघवदास जी के भक्तमाल मे रज्जब जी के सम्बन्ध मे यह उल्लेख पाया जाता है —

रज्जब अज्जब राजथान आम्बेनेरि आये,
गुरु के सबद त्रिया व्याह सग त्यागो है।
पायो नर देह प्रभु सेवा काज साज यह,
ताको भूलि गयो सठ विषय रस लाग्यो है॥
मौड खोलि डार्‌यो तन मन धन वार्‌यो,
सत्त सील व्रत धार्‌यो मन मार्‌यो काम भाग्यो है।
भक्ति मौज दीनी गुर दादू दया कीनी उर,
लाय प्रीति लीनी माथ बड़ो भाग्य जाग्यो है॥

'यदि आम्बेर मे रज्जब जी का, दादू जी का शिष्य होना उनकी २० वर्ष की अवस्था मे मानें अर्थात् दुलहा बन कर ब्याहने को रज्जब जी आम्बेर आये तो उस समय २० वर्ष के रहे हो, क्योकि एक सैनिक पठान का पुत्र उस जमाने मे इससे कम उम्र मे क्या ब्याहता ? इस प्रकार उनके शिष्य होने का सम्वत् १६४४ होगा। उक्त जन्म स० को १६२४ मान लिया गया है।[1] उपर्युक्त

'The Nirgun School of Hindi poetry' Year of publication 1936, p 259 Rajjabdas refers to the event in one of his couplets p 260 'In addition to the Banis and other works of the above, those of Rajjab Das, Haridas, Jangopal, Chitradas, Bakhna, Banwari and Balak Ram are included in the Pavre Mr Rajjabdas of Sanganer compiled a valuable selection named 'Sarbangi' from all the saints irrespective of their school'

१—सत वाणी, मासिक पत्र अक १, वर्ष १, मगल प्रेस जयपुर में, 'राजस्थान' त्रैमासिक पत्रिका, कलकत्ता से उद्धृत स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा का रज्जब जी पर लेख।

उल्लिखित तिथियो मे पुरोहित जी ने "दादू जन्म लीला परची" को प्रमाण माना है।[1] हमारा विचार है कि इन संतो के परिचयी साहित्य मे स्थान और तिथियाँ शुद्ध दी गई है, यद्यपि इनमे प्रस्तुत किये गए महात्माओ सम्बन्धी विवरण तथा कुछ घटनाएँ अतिरजित एव कल्पित है।[2] ऐसा केवल महात्माओ के चरित्र मे चमत्कार उत्पन्न करने के लिए किया गया है।

(ख) जन्म-स्थान एव जन्म-कुल—

रज्जब जी का जन्म सागानेर मे एक प्रतिष्ठित सैनिक पठान के घर मे हुआ था। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नही। इनके पिता जयपुर-आम्बेराधीश महाराज भगवन्तराय जी तथा मानसिह जी की सेना मे एक लघु नायक थे। रज्जब जी का नाम रज्जब अली खाँ था। इनको भी समयानुसार प्रथा के अनुकूल कसरत, कुश्ती, शस्त्रास्त्र-शिक्षा मिली। शरीर के सुडौल, लम्बे कद के जवान अच्छे दीदारू थे। पढना लिखना भी थोडा बहुत हुआ परन्तु रज्जब जी को ज्ञान की लगन छुटपन से ही लग गई थी। सत्सग और फकीर साधु सत तथा भगवान की चर्चा का प्रेम था इससे इस ओर इनकी रुचि बढती गई।[3] इससे रज्जब जी के व्यक्तित्व का स्पष्ट आभास मिलता है। रज्जब जी प्रवुद्ध मानस एव स्वस्थ शरीर के व्यक्ति थे। रज्जब जी की पारिवारिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध मे इससे अधिक जानकारी नही प्राप्त होती। सन् १९५६ के नारायणे के धार्मिक दादू-द्वारा के वार्षिक मेले मे एक वृद्ध महात्मा ने मुझे रज्जब जी के पिता का नाम अज्जब अली खाँ और भ्राता का नाम गज्जब अली खाँ बताया था। पर मेले मे आये हुए न तो किसी अन्य महात्मा ने इन नामो की पुष्टि की और न वे महात्मा ही अपनी इस जानकारी का स्रोत अथवा आधार बता सके। 'रज्जब' शब्द के साथ सार्थक सानुप्रासिक सगति 'अज्जब' और 'गज्जब' शब्दो

१–जनगोपाल कृत दादू जन्म लीला परची, सम्पादक–सुखदयाल दादू एडवोकेट। प्रकाशक श्री स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट जयपुर—विश्राम १६, पृ० १८९।

बारह बरिस बालपन गयऊ। गुरु भेटत तब सन्मुख भयऊ।
साभर आये समय पचीसा। गरीबदास जनमें बत्तीसा।
मिले बयाले अकबर साहा। पचासै कल्यानै जाहा।
सानै गुनसठै नगर नरानै। साठे स्वामी राम समाने।

२–चतुरदास जी रचित थाभा पद्धति

सांगानेर रज्जब सु देवल दयाल दास फडसी फडेल बीस धर्म ही की पाज ही

३–सत वाणी अक १, वर्ष १, जयपुर—पुरोहित जी द्वारा लिखित महात्मा रज्जब जी विषयक लेख।

मे प्राप्त हो जाती है। कदाचित् यह सानुप्रासिकता ही इस प्रकार के नामो की अवतारणा का कारण बनी हो। नाम कहा तक शुद्ध है ? किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव मे यह निश्चयात्मक रूप से कह सकना सम्भव नही। हा, यह सम्भव है कि उन महात्मा को किसी अनुश्रुति-परम्परा से इन नामो की जानकारी हुई हो। यह तो सभी जातियो मे प्राय: देखा जाता है कि पिता के नाम की स्वर-सगति पर पुत्रो के नाम रख दिये जाते हैं। इतना ही नही, नाम के अतिम अथवा प्रथम खड की आवृत्ति पुत्रियो तक के नाम मे देखने को मिल जाती है। उदाहरणार्थ पिता का नाम रामशकर है तो पुत्रो का नाम गणेशशकर, सुरेश-शकर, दिनेशशकर आदि मिलता हैं। भाई का नाम चन्द्रकुमार है तो बहिन का नाम चन्द्रकुमारी रख दिया जाता है। इसी प्रकार मुसलमानो मे भी यदि पिता का नाम हबीबुल्ला है तो पुत्रो का नाम रहीमुल्ला, करीमुल्ला देखने को मिलता है। इस सम्भावना के अनुसार यदि रज्जबअलीखा के पिता का नाम अज्जबअलीखा और छोटे भाई का नाम गज्जबअलीखा रहा हो तो क्या आश्चर्य ! रज्जब जी के परिवार मे कितने व्यक्ति थे, इसको जानकारी का कोई स्रोत हमे नही प्राप्त हो सका, परन्तु उपर्युक्त विवेचन से रज्जब जी के परिवार के सम्बन्ध मे यह तथ्य तो निर्विवाद रूप से प्रमाणित ही है कि उनके माता-पिता के अतिरिक्त उनके एक छोटे भाई भी थे, जिनका विवाह हो जाने के पश्चात् एक महिला और उनके परिवार मे सम्मिलित हो गई होगी।

रज्जब जी के पठान-वशीय होने मे मत-भिन्नता के लिये किंचित् अवकाश नही है। सर्वप्रथम इतना तो सर्वमान्य है कि मुगलो के शासनकाल मे भारत के उत्तर पश्चिमी प्रदेश मे पठानो का अधिक आवागमन था। राजस्थान के अधिकाश राजपूतो ने प्राय मुगल शासको की आधीनता स्वीकार कर ली थी। अत मुगल शासको के द्वारा पदो पर नियुक्त पठान सैनिक इतस्तत देखने को मिल जाते थे। अपने दृढ साहस एव वीर स्वभाव के कारण पठानो ने उत्तर भारत मे अतिशय प्रतिष्ठा अर्जित की थी। रज्जव जी के पिता पठान होने के नाते ही आम्बेर मे छोटे सेनानायक थे। इसके अतिरिक्त पठानो के नामो के अत मे खा लगाने की परम्परा अद्यावधि प्रचलित है। अस्तु, रज्जव जी के मूल नाम के अत मे सलग्न 'खा' शब्द भी उन्हें पठानवशीय मानने के लिये एक स्वाभाविक प्रमाण उपस्थित करता है।

रज्जब जी का शरीर सुडौल और विशाल था। वह लम्बी चौडी हड्डियो का था। इस तथ्य का समर्थन रज्जब जी की शिष्यानुशिष्यपरम्परा से प्राप्त होता है। रज्जव जी के गुरु दादू जी का शरीर कृश था। दादूपथी साधुओ मे

यह वृत्तान्त प्रचलित है कि एक वार महात्मा दादूदयाल स्नान कर के नारायणे मे काष्ठ की चौकी पर बैठे हुए थे। उन्होने रज्जव जी से कहा कि खडाऊ ले आओ। रज्जव जी ने उत्तर दिया कि आप चौकी पर बैठे रहिये, मैं चौकी सहित आपको उठा कर ले चलता हू। दादू जी ने एक दो वार खडाऊ लाने का आग्रह किया परन्तु रज्जव जी चौकी सहित अपने गुरुदेव को उठा ले चलने के आग्रह पर अटल रहे। दादू जी ने रज्जव जी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। रज्जव जी ने जव चौकी उठाने का प्रयत्न किया तो चौकी नही उठी। अततो गत्वा रज्जव जी ने गुरु का गौरव स्वीकार किया तथा निम्नलिखित सवैया कहा।[1]

हलै न चलै न पिलै न ठिलै ऐसो रोपि रह्यो वलवन्त विहारी।
अट्यो न मिट्यो न वट्यो न लुट्यो अजु भाय रु मान गये पति हारी॥
हलायौ चलायौ डुलायौ न डोलई देखहु साधु सुमेरु ते भारी।
हो दादुव साधुव आदि शिरोमणि रज्जव देखि भयो वलिहारी॥

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि रज्जव जी हृष्टपुष्ट सुडौल और लम्वे-चौडे शरीर के थे। रज्जव जी का विशालकाय होना एक अन्य अनुश्रुति से भी प्रमाणित होता है। एक दिन दादू महाराज अपने पाच-सात शिष्यो के साथ एक ग्राम से दूसरे ग्राम जा रहे थे। मार्ग मे एक नदी पडी। उसमे कीचड था। दादू जी ने शिष्यो से दस पाच पत्थर डालने को कहा जिससे उन पत्थरो पर पैर रख कर कीचड को पार किया जा सके। गुरु का निर्देश पाकर सभी शिष्य पत्थर लाकर डालने लगे किन्तु रज्जव जी स्वय कीचड पर लेट कर वोले भगवन् इस शरीर पर होकर निकलिये। मेरे शरीर के रहते हुये पत्थरो की क्या आवश्यकता ? आज मेरा शरीर आपके चरण-स्पर्श से पवित्र हो जायेगा।[2] इस घटना से रज्जव जी के शरीर की विशालता प्रकट होती है साथ ही उनकी उत्कट गुरु-भक्ति भी प्रकट होती है। रज्जव जी के शरीर की विशालता भी उन्हे पठान वंशीय मानने का आधार प्रदान करती है। रज्जब जी के जीवन-वृत्त के सवध मे कार्य करने वाले समस्त विद्वान् इस विषय मे एक मत हैं कि उनका जन्म स्थान सागानेर था जो आम्वेर से १४ मील दक्षिण मे है। ध्यान रहे, वर्तमान जयपुर नगर उस समय तक नही वसा था।

रज्जव जी के दादू के शिष्य होने से पूर्व उनके व्यक्तिगत जीवन अथवा पारिवारिक जीवन के सम्वन्ध मे कोई प्रामाणिक सामग्री उपलव्ध नही होती।

१–रज्जव वानी––भेट के सवैये के निरपख निज का अग, सवैया ४।

२–यह वृत्त मैंने नारायणे के दादू द्वारे में कई दादूपथी महात्माओं से सुना था तथा पुष्करवासी स्वामी नारायणदास जी के पास भी यह कथा हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुई थी।

मुझे जयपुर के श्री दादू सस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य स्वामी मगलदासजी से यह पता चला था कि जयपुर के पास एक निवाई ग्राम है जहा कोई वृद्ध सज्जन रज्जव जी की 'थाभायती'[1] परम्परा के रहते हैं। वे रज्जव जी के पारिवारिक जीवन का प्रामाणिक वृत्त वता सकेंगे। परन्तु उन्होने भी रज्जव जी के सम्वन्ध मे कुछ प्रामाणिक रूप से वता सकने मे अपनी असमर्थता प्रकट की। राजस्थान मे यही अन्तिम सूत्र शेप रहा था जिसके द्वारा कुछ विशेष जानकारी की आशा की जा सकती थी, परन्तु वह सूत्र भी व्यर्थ सिद्ध हुआ।

(ग) विरक्ति और साधना की ओर—

रज्जव जी के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इस घटना का उल्लेख यहां अत्यन्त समीचीन होगा जो रज्जवअलीखा नाम के एक सागानेर के पठान को महात्मा रज्जव अथवा सत कवि रज्जव मे रूपान्तरित करने का प्रमुख हेतु है। रज्जव जी को दादूदयाल के सिद्ध और करामाती महात्मा होने के समाचार साधुओ से मिले थे। तभी से दर्शनो का चाव लगा था। इनके कुछ वडे होने पर इनकी सगाई (मगनी) आम्वेर के एक अच्छे घराने के पठान के यहा हो गई थी। समय आने पर इनके विवाह की ठहर गई। वरात सज कर सागानेर से आम्वेर आई। आम्वेर मे रज्जव जी को पता लगा कि महात्मा दादू जी वहा विराजित हैं। फिर क्या था, रज्जव जी दूल्हा बने हुए ही अर्थात् वर की पोशाक पहने हुए सजे-सजाये ही दादू जी के दर्शनो को चले गये, साथ मे अपने प्रेमी साथी-सगाती थे। साधु-सगति के लोग भी इनमे थे और इनके सगे-सम्वन्धी भी थे। दादूजी का जमाव प्रसिद्ध मावटे के वधे की पाल के पास, रामवाग के पूर्व मे मार्ग को दाहिनी ओर पहाडी की तलहटी मे था। वही उत्सुक युवक रज्जव जी मडली के सहित वर-वेप-विभूपित जा पहुँचे। दादू जी उस समय ध्यानावस्थित थे। जब ध्यान खुला तो रज्जव जी ने फिर प्रणाम दडवत किये। महात्मा ने देखा कि सामने एक मुसलमान युवक विवाह के कपडो मे और सजावट से बैठा है। देखने मे वहुत सुन्दर और चेहरे पर शान्ति और ज्ञान-पिपासा की झलक दरस रही है। महात्मा जी की दृष्टि से क्या छिपा था? उस रूपवान् मुसलमान युवक के हृदय के रूप की बाते तुरन्त दादू जी पहचान गये। मन मे सोचा कि यह आत्मा ससार से पार उतरने और अनेको अन्य आत्माओ के तारने को आई है। रज्जब जी दादू के दर्शनो से प्रेम-पूरित थे। दादू जी भी कृपा भरी दृष्टि से उनको निहार रहे थे। कुछ वातचीत होने पर दादू जी के मुखारविन्द से यह मर्मभरी वाणी निकली—

१—थाभायती – दादूपथी महात्माओं की गद्दियों को 'थाभा' कहते हैं।

कीया था कुछ काज को, सेवा सुमिरण साज।
दादू भूल्या वन्दगी, सर्‌या न एकौ काज॥

यह वचन नावक के तीर की तरह रज्जव के हृदय-पटल को वीध कर उनकी अतरात्मा मे जा बैठा। फिर क्या था, रज्जव जी तो दूसरी ही दुलहिन (ब्रह्मानन्द) के प्रेम मे फस गये। वचन सुनते ही मस्त हो गये। ससार को त्यागने पर पूर्ण आरूढ हो गये। वह गुरु की सैन ऐसी चली कि उन का काया-पलट हो गया। अपने वर-वेष को उतारने लगे तो गुरु दादू जी ने कहा जिस मे पाया उसी मे रहो। यह वेप मुवारक समझो। गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर के उम्र भर रज्जव जी दूल्हा वने रहे अर्थात् वही वर की पोशाक पहने रहे। पुरानी हो जाने पर कोई सेवक फिर वैसी की वैसी वनवा देता था।[1] इस प्रकार रज्जव जी दूल्हे के रूप मे अपना सत-जीवन विताते रहे। दादूपथी महात्माओ मे एक किंवदन्ती चली आ रही है कि दादू जी के पुत्र एव शिष्य स्वामी गरीवदास जी अपने पितृ गुरु के उपरान्त नारायणे के दादूद्वारे की गद्दी के उत्तराधिकारी वने। वे रज्जव जी से प्रगाढ स्नेह रखते थे। परन्तु एक वार उन्होने रज्जव जी से दूल्हे के वेप को वदल कर साधु-वेप मे रहने का अनुरोध किया। गरीवदास जी के विचार से एक सत का जीवन अतर एव वाह्य दोनो रूपो मे एक-सा क्यो न हो ? उनका यह भी विचार था कि साधक के लिये साधन-विरोधी वाह्य सज्जा उचित नही। गरीबदास जी को यह वुरा लगा। सतो के वीच यह कथा भी प्रचलित है कि रज्जव जी इस पर खिन्न हो कर नारायणा छोड कर काशी चले गये। दीर्घ कालोपरान्त वे काशी से लौट कर पुन नारायणे आये, इस वार गरीवदासजी रज्जव जी से अत्यन्त स्नेहानुरागपूर्वक मिले।

महात्मा दादूदयाल की वाणी से सहसा स्फुरित उपर्युक्त दोहे के स्थान पर किन्ही महाशय ने एक दूसरा दोहा भी प्रचारित किया है। किन्तु वह दोहा अप्रामाणिक है। दोहा हम जानकारी के लिये दे रहे हैं—

रज्जव तै गज्जव किया, सिर मैं वाध्या मौर।
आया था हरिभजन को, किया नरक की ठौर॥

रज्जब जी इस प्रकार अपने गुरुदेव द्वारा दीक्षित हो गये। और भी कई शिष्य यही पर दीक्षित हुए।[2] उपर्युक्त घटना महात्मा रज्जब के जीवन की

१–सत वाणी (मासिक पत्र), अक १, मार्च १९४८, मंगल प्रेस, जयपुर।

२–रज्जव जी, मोहन जी मेवाडा, मोहन जी दफतरी, मोहन जी जोगी, जगजीवन जी आदि प्रसिद्ध शिष्य आम्वेर में ही महाराज के शिष्य हुए ,'श्री दादू-महाविद्यालय रजत-जयन्ती अक, पृ० ९।

एक विशेष घटना है जिसने उनको लोकराग अथवा ऐहिकता से पराङ्मुख कर विरक्ति एव साधना की ओर उन्मुख किया।

गुरु दादूदयाल द्वारा दीक्षित होने के समय रज्जब जी की अवस्था लगभग २० वर्ष की थी। उसी समय से गुरु ने उन्हे रज्जब अलीखा की जगह रज्जब जी कहना आरम्भ कर दिया और तब से रज्जब जी निरन्तर उनकी सेवा-सुश्रूषा मे रहने लगे। यह घटना दादूदयाल के अकबर बादशाह के साथ मिलने के पीछे की है, क्योकि उस समय जो ७ शिष्य उनके साथ सीकरी गये थे, उनकी सूची मे इनका नाम नही है।[1] इन शिष्यो की नामावली 'श्री दादू जन्म-लीलापरची' मे जन गोपाल ने इस प्रकार प्रस्तुत की है :—

चादा[1] टीला[2] लीने साथा, जगजीवन[3] सौं कहीं जु गाथा॥
स्यानदास[4] लाहौरी भाखै, जन जगदीस[5] दास सग राखै॥
सग गुनदास[6] बडो रजवैसी, धर्मदास[7] गुरु सग जुगैसी॥

रज्जब जी के गुरु-दीक्षा-प्रसग मे एक बात और ज्ञातव्य है। 'जब रज्जब जी ने दादू जी के उस भावोत्पादक उपदेश से विवाह करने का निषेध किया तो उनके पिता आदि को बडा ही दु ख हुआ और बरात वालो और दुलहन (कन्या) वालो के यहा बडी ही खलबली मची। कोई रज्जब को बुरा कहता था तो कोई दादू जी को, कोई महात्मा की सिद्धता की प्रशसा करता था। रज्जब जी को घर वालो और अन्य समझदार लोगो ने बहुत कुछ समझाया, परन्तु उनके तो वह वैराग्य का रग ऐसा जमा कि उन्होने स्पष्ट और दृढता से कह दिया कि मैं विवाह नही करूगा। तुम अपना दूसरा प्रबन्ध करो। अतत उभय पक्ष ने हार मान कर रज्जब जी के छोटे भाई से उक्त कन्या का निकाह करा दिया[2]'। कुछ लोगो का यह भी मत है कि उस कन्या का निकाह किसी अन्य पठान पुत्र से करा दिया गया।

रज्जब जी की गुरु-दीक्षा तथा विवाह-निषेध की घटना का उल्लेख राघव-दास जी ने अपने 'भक्तमाल' मे तथा राम-सनेही सम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक महात्मा रामचरणदास ने अपनी बाणी मे जिस प्रकार किया है उसमे बहुत कुछ साम्य है। महात्मा रामचरणदास ने लिखा है —

दादू जैसा गुरु मिले, सिख रज्जब-सा जाण।
एक सबद में ऊधर्‌या, रही न खेंचा-ताण॥

१—'उत्तरी भारत की सत-परम्परा,' लेखक प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४२४।

२—पुरोहित हरिनारायण शर्मा का कलकत्ता के 'राजस्थान' पत्र मे महात्मा रज्जब जी शीर्षक प्रकाशित लेख।

रज्जब को दादू दिया, एक सवद में ज्ञान।
रामचरण सव छाडि के, हो गया गुरु[१] समान ॥

रज्जब जी गुरु दादूदयाल जी की सेवा और सत्सग मे जितना रहे उतना उनका कोई अन्य शिष्य नही रहा। रज्जब जी ने अपनी जन्म-भूमि सागानेर मे ही प्रायः रह कर भगवत्-साधना की। उन्होने एक वार गुरु-महोत्सव किया जिसमे 'दादू जी की पधरावनी' हुई थी। गुरु के अनन्य भक्त रज्जव जी ने निस्सन्देह मन भर पूर्ण भक्ति से दादू जी की नाना भाति और प्रकार से पहुनाई की। इतना ही नही, रज्जव जी अपने गुरुदेव को अपने शिष्यो के घरो मे भी ले गये। इस प्रसग का वर्णन जन गोपाल ने 'श्री दादू जन्म लीला परची' मे सुन्दर ढग से दिया है[२]

अपने गुरुदेव को रज्जव जी ने अपने स्थान पर वहुत दिन तक रख कर उनकी वडी सेवा की। 'इस प्रकार जव तक दादू जी और मडली वही रहे, नित्य नये पद और स्तुतिया भेट की गई और वहुत भाव-भक्ति से सेवा की तथा कीर्तन उपदेश के रग छा गये'।[३] दादूजी की भी रज्जब जी पर विशेप कृपा रहती थी। एक समय रज्जव जी नारायणे मे थे तव दादू जी के शिष्य

१–कहीं-कहीं गुरु के स्थान पर 'ब्रह्म' पाठ भी मिलता है।

२–सिष्य एक रज्जव अधिकारी। ज्ञानी गुनी सूर अति भारी ॥
गर्भे जती हू तो वैरागी। गुरु-दर्शन कर माया त्यागी ॥
वहुतहि भाँति रिझाये स्वामी। ताको सोचै अतरयामी ॥
पांच सात दिन मे चल जाहीं। आये सत अत कहु नाहीं ॥
वो हिय रामदास अस टीको। गोविन्द खेलो खरथर नीको ॥
राघो गोविन्द और नरायन। रज्जव के सिस भक्त परायन ॥
भक्ति महोच्छो कीन्हो भारी। सतोसय रज्जव विन चारी ॥
कालू गेंघडसी वैरागी। माया मोह रहैं सव त्यागी ॥
ताके कुटुम्ब महोच्छो कीन्हो। स्वामी तिनको सरबस दीन्हो ॥
तव आये 'केवलपुर' गाऊ। दौरे संत सुने जेहि चाऊ ॥
आल्हनवास पधारे स्वामी। सव मिलि पूजें अतरयामी ॥
ठाकुरदास तवहि ले जाई। नीलया में पुनि भक्ति वनाई ॥
अम आयो तहा गोविन्द दासा। दरसन पा भो पूरी आसा ॥
भगति भाव महोच्छो कीन्हो। स्वामी तिन्हैं वहुत सुख दीन्हो ॥
तव स्वामी दादू पग धारे। सिस टीकू के कारज सारे ॥
केसा को कनहैयो आयो। स्वामी जी को दरसन पायो ॥

३–पुरोहित हरिनारायण शर्मा का लेख, 'राजस्थान' पत्रिका, कलकत्ता।

बखना जी के घर मिलने को गये। रज्जब जी उस समय अनुमानत ४० के थे, शरीर सुडौल, सुन्दर, लम्बे कद के युवक, दूलह के सुन्दर कपडे पहने हुए बहुत भले मालूम पडते थे। बखना जी की स्त्री ने इनको देख कर अपने पति से कहा कि ये भी दादू जी के शिष्य हैं कि जिनकी पोशाक ही इतनी सुन्दर और कीमती है तो इनका वैभव कैसा होगा और एक तुम भी दादूजी के शिष्य हो कि घर मे खाने तक को अन्न नही है। इस पर बखना जी ने अपनी पत्नी के उत्तर मे यह साखी पढी—

रज्जब को या सम्पदा, गुरु दादू दीन्हीं आप।
बखना को या आपदा, चरणा रो परताप॥

रज्जब जी इस पर खूब हँसे तथा बखना जी की सम्पत्ति मे अतुल वृद्धि हुई।[1] रज्जब अत्यन्त मेधावी तथा प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा थे। वे किसी जिज्ञासु के प्रश्न का अविलम्ब उत्तर देने मे अपने गुरु दादूदयाल से भी अधिक पटु थे। एक दुरसा नामक चारण था जो कविता के बल पर देश जीतता हुआ आम्बेर आया, जहा दादू जी के पास रज्जब जी थे। किसी किसी के मत से रज्जब जी के पास सागानेर मे वह चारण आया। उनके पास आकर उसने यह दोहा पढा :—

बावन अक्षर सप्त स्वर, कण्ठ भाषा छत्तीस।
इतने ऊपर जो कथै, तो जानो कवि ईस॥

रज्जब जी ने इसका यह उत्तर दिया —

बावन अक्षर सप्त स्वर, कण्ठ भाषा छत्तीस।
इनके ऊपर उर भजन, अण अक्षर जगदीस॥

इस उत्तर को सुन कर चारण निरुत्तर हो गया और रज्जब जी का शिष्य होने की इच्छा व्यक्त की। रज्जब जी ने उससे कहा कि आम्बेर मे गुरुदेव दादू दयाल है, उनके जाकर शिष्य हो जाओ। वह आम्बेर जाकर शिष्य हुआ। राघवदास जी की 'भक्तमाल' मे इस घटना का इस प्रकार वर्णन किया गया है —

स्याह झागीर पै लिखाइ परवानो ल्यायो
कचन को अकुस फडायो मद पीजिये।
हारै कोऊ चरचा में पालकी कहार करौं,
जीतै सु तो पडित है ताको यह दीजिये॥

१–पुरोहित हरिनारायण शर्मा का लेख।

बावन अक्षर सुर सप्त छत्तीस भाषा,
या सों उपरान्त कथै कवि सो कहीजिये।
रज्जब सो प्रश्न करी है कवि चारण ने,
दुरसा है नाव ताको उत्तर मनीजिये ।।

रज्जब जी का उत्तर नीचे के कवित्त मे सगृहीत है—

मुख सू अक्षर अरु मुख सू सप्त सुर,
मुख सों छतीस भाषा जग में बखानिये।
व्यापक पूरण उर बचन रहत सोई,
शिव अर ब्रह्मा जस लोकन में गनिये ।।
दुरसा को भरम भाग्यो कहै मेरो भाग्य जाग्यो,
गुरु उपदेश यही सिख मोहि जानिये।
पालकी अकुस भले भेट किये रज्जब को,
मन वच काय सेवा प्रीति सौंज मानिये ।।

रज्जब जी सपूर्ण दादूपथी साधु-समाज मे नवल दृष्टात और अभिनव उपमानो की योजना मे सर्वोपरि थे। यह शक्ति उन्हे अपने गुरु से प्रसाद रूप मे प्राप्त हुई थी। इस सबध मे भी एक कथा प्रचलित है। एक समय एक पडित की कथा मे वे गये थे। वह पडित अत्यन्त मनोहर दृष्टात देता था। उमको सुन कर रज्जव जी वडे उदास थे कि उनको ऐसे दृष्टातो का देना कैसे प्राप्त हो ? दादू जी ने रज्जब जी को उदास देख कर पूछा कि आज उदास क्यो हो ? तो रज्जव जी ने हाथ जोड कर निवेदन किया कि मुझे अभी दृष्टातो में योग्यता नही प्राप्त हुई। तव दादूजी ने वरदान दिया कि तुमको इसमें अच्छी योग्यता प्राप्त हो जायेगी। तव से रज्जव जी दृष्टातो की उद्‌भावना मे बडे ही निपुण होते गये।[1] उनकी 'वाणी' (ग्रथ) इस वात का उज्ज्वल प्रमाण है कि वे दृष्टात

१–मोहन ने कहा है —

ज्यू बसि मत्र के आवत बीर, जहा जस-दीन तहां तस भूके।
ज्यू ध्रमराज के काजि करें सव दूत अनेक रहें ढिग ढूके ।।
ज्यूं नृप के तप तेज ते कम्पत, पास रहें नर आइ कहू के।
ऐसे हि भाति सवै 'दृष्टान्तहि' आगे खडे रहैं रज्जब जू के ।।
साझ समै ज्यू रावै सुरही घरि प्रात चली जस वच्छ के रागै।
भूपति को भै मानि दुनी जु अनीति विसारि सुनीति सु लागै ।।
मोहन ज्यूं बसि मत्र के वीर प्रभाति चटा दट सार कु जागें।
योही कथा के समय दिष्टान्त आइ रहैं फिरि रज्जव आगें ।।

[शेप टिप्पणी आगे के पृष्ठ पर है।]

सग्रह में कितना आगे बढे हुए थे। सारे दादू संप्रदाय के साहित्य-भडार मे ऐसा एक भी ग्रथ शायद नही है जो दृष्टातो, जानकारी और अनुभवो की प्रचुरता मे रज्जव जी के 'वानी' ग्रथ की समता कर सके। वसे उनका 'सर्वंगी' ग्रथ भी दृष्टातो का ही सग्रह है क्योकि एक एक प्रसग पर अनेक महात्माओ, पडितो और औलियो के वचनो को उन्होने बडी ही खोज और परिश्रम से सग्रह किया है।

रज्जव जी के जीवन की एक अत्यत दुखद घटना का यदि हम यहां उल्लेख करें तो पुनरावृत्ति न होगी। उनके वर-वेष को लेकर गरीबदास जी से उनका मतभेद हो गया था। परस्पर दोनो के इस प्रकार अन्यमनस्क एव खिन्न-मानस होने के कारण रज्जव जी सुन्दरदास जी तथा जगजीवन जी को साथ लेकर काशी चले गये।[1] वहाँ असी घाट पर रज्जव जी सुन्दरदास जी को गुरुदेव की वानी पढाया करते थे। इस घटना से भी अधिक विक्षेप और विक्षोभकारी घटना थी रज्जव जी के गुरु दादूदयाल का इस ससार से महाप्रयाण। रज्जव जी पर इस घटना का प्रभाव मर्मान्तक सिद्ध हुआ। दादू जी अपनी अतिम अवस्था मे नारायणे मे विद्यमान थे। वही पर उनकी सेवा मे रज्जव जी भी रहते थे। अपने परम आराध्य गुरुदेव दादूदयाल के परम-पद प्राप्त हो जाने पर रज्जवजी को ससार सूना प्रतीत होता था। कहते हैं कि फिर उन्होने किसी की ओर देखा नही, प्राय आख वन्द रखते थे।[2] अपने गुरुदेव के वियोग मे रज्जव जी ने अत्यत करुणोत्पादक भाव व्यक्त किये हैं। वस्तुत दादूजी के महाप्रयाण ने रज्जव जी के हृदय मे अतीव दारुण वेदना उत्पन्न कर दी। रज्जव जी की यह गुरु-विछोह-वेदना उनके कई पदो मे व्यक्त हुई है—

दीन दयाल दियौ दुख दानन, दादू सी दौलत हाथ सो छीनी।
रोप अतीतन सो जु कियो हरि, राजि जु रकन की हरि लीनी॥

तथा उनकी कथा की प्रशसा में —

पाव पतिसाहिरा परसि चाकर थक्यो, अलि थक्यो परसि परजात फूल चढ़ि।
आनरो ज्ञान सुनि थिर न आतम भई, (सो) रज्जब री कथा सुनि परी आनि अढ़ि॥
भूख भागी जवै भेट अन्न सू भई, प्याम भागी तवे नीर पियो।
रज्जव री रहम सू कहेम लाध्यो सवे, (यो) अटल रटि मोहनो रक जियो॥ १

१–"स० १६६३ मे सुन्दरदास जी, रज्जब जी, जगजीवन जी, घडसीदास जी और उनके शिष्य नारायणदास जी और कई रज्जब जी के शिष्यो के साथ काशी चले आये।" सुन्दर ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृ० ५७, सम्पादक—पुरोहित हरिनारायण शर्मा।

२–सुन्दरग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ११-१८।

गरीब निवाज गरीब हुते सब, सतन सूल जु अति गति दीनी।
(हो) रज्जब रोय कहैं यहु केहि जु, त्राहि जु त्राहि कहा यहु कीनी ॥

× × ×

दादू जी मात बुलाय पिता हरि, बालक बाल सु गोद ते डारे।
साई समीर लियो घन दादू, चहू दिसि चातक चित्त पुकारे ॥
आदित आप सरोवर दादू जी तोषत ही सफरी सिखगारे।
(हो) दादू का गमन दुखी सिख रज्जब, प्रीति प्रचण्ड सु अतर जारे ॥

× × ×

गुरु के गवन दुखी सिख सारे। सब सुख निधि के बिलसण हारे ॥
श्रवण दुखी सुनत सत बानी। नैन दुखी डारे बहु पानी ॥
दुखी रसन बहु बातें करते। सीस दुखी गुरु चरनन धरते ॥
तन मन दुखी जु फेरि सवारे। अतरिध्यान भये गुरु प्यारे ॥
जन रज्जब रोवै दुख आदू। परम पुरुष बिछुडे गुरु दादू ॥

यहा पर हम एक अन्य विलक्षण सयोग की ओर सकेत करेगे। गुरु दादू-दयाल की मृत्यु पर रज्जब जी को ससार सूना प्रतीत होने लगा तथा रज्जब जी की मृत्यु पर दादू जी के विद्वान् साधक शिष्य सुन्दरदास (छोटे) को ससार सूना प्रतीत होने लगा। रज्जब जी अपने गुरुदेव के महाप्रयाण के उपरान्त एक साधु या फकीर का हाथ पकडे-पकडे टोक की तरफ जगल मे चले गये। एक स्थान पर अपने शिष्य फकीर को उन्होने लौटा दिया और वहा समाधिस्थ हो गये। वही उनके पुद्गल (मृत शरीर) को जानवरो ने खा लिया और 'माटी भखे जिनावरा, सहज महोच्छव होय' इस कथन के अनुसार उनका हवा-दाग हुआ। वे न तो जलाये गये न गाडे गये। कुछ साधुओ के मत से रज्जब जी का शरीर-प्रणिपात सागानेर मे ही हुआ। किन्तु यह मत कही से पुष्ट अथवा प्रमाणित नही होता। रज्जब जी की मृत्यु-तिथि का ठीक-ठीक पता नही चलता। इस सबध मे पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने भी अपनी विवशता व्यक्त की है। उनको भी मृत्यु-तिथि ज्ञात नही हो सकी। उनके चरण एक चबूतरे मे गाव टटोली मे बताये जाते है जिनके दर्शनो का सौभाग्य पुरोहित शर्मा को नही मिला। किन्तु रज्जबजी की मृत्यु-तिथि का पता उक्त सुन्दरदास जी की मृत्यु-तिथि से स्पष्ट लग जाता है। उनका (सुन्दरदास जी का) परमपद सागानेर मे हुआ था और वह स० १७४६ मे ही। इससे कहना पडता है कि स० १७४२ के पीछे वे किसी समय गमन करते-करते रज्जब जी से मिलने को सागानेर पधारे थे। सागानेर मे स्वामी सुन्दरदास जी के रहने का स्थान तो था ही। उनको रज्जब जी के ब्रह्मपद प्राप्त होने का समाचार सकोचवश इस विचार से कुछ लोगो ने

कुछ समय तक नही कहा कि उनको धक्का पहुच जायगा । परन्तु यह बात कब तक छिपी रह सकती थी, अतः वे जान ही गये । इस वियोग के समाचार से और अपने परम इष्ट मित्र और ज्ञान-भडार रज्जब जी के शरीरपात से उनके कोमल हृदय पर कुछ ऐसा आघात पडा कि वे तब ही से विरह-विभोर हुए, रुग्ण होते चले गए। औषधि तो वे कुछ लेते नही थे। 'बैद हमारो रामजी', 'औषध हो हरि नाम' यह उनका प्रण रहा। स्वामी जी ने अपने पूज्य मित्र रज्जब जी के वनगमन का हाल सुना। वे चाहते थे कि वे भी वन मे जाये। परन्तु पीछे ज्ञात हुआ कि उनके शरीर का कुछ भी पता नही चला ? इस प्रकार महात्मा रज्जब की सुन्दरदास जी से कुछ मास पूर्व ही परमगति हो गई थी।

रज्जब जी की मृत्यु से व्यथित होकर सुन्दरदास जी थोडे दिन तक रोग-ग्रस्त रहे। उनके दर्शनो के लिए सागानेर और अन्य स्थानो के लोग आने लगे। वे कभी समाधि लगा लेते और कभी जाग्रत होकर उपदेश देते। यही हाल रहा। अब परम गमन का समय निकट आ गया था। वे परम समाधिस्थ हो गये और मिती कार्तिक शुक्ल अष्टमी वृहस्पतिवार को तृतीय पहर दिवस मे, स्वामी सुन्दरदास जी इस ससार को तृणवत् त्याग कर परमधाम परब्रह्म मे लीन हो गये।[1] पुरोहित शर्मा के इस अनुसधान से इस अनुमान का स्पष्ट आधार प्राप्त होता है कि रज्जब जी व सुन्दरदास जी की परम-पद-प्राप्ति का वर्ष एक ही था और वह था स० १७४६। सुन्दरदास जी का परम पद-प्राप्ति का वर्ष स० १७४६ ही था, इसका प्रमाण सागानेर के उस पत्थर मे खुदी हुई चौपाई है जो स्वामी सुन्दरदास जी तथा उनके विद्वान् शिष्य स्वामी नारायणदासजी का दाह स्थान था।[2] उस स्थान पर लगी हुई छतरी का अब पता नही चलता। पत्थर का टुकडा पडा हुआ पुरोहित हरिनारायण शर्मा को मिला था जिसमे चरण भी मिट गए थे। यह छतरी सागानेर मे धाभाई जी के बाग के पीछे उत्तर की ओर थी। इस बाग मे स्वामी सुन्दरदासजी के महाप्रयाण के उपरान्त बहुत दिनो तक उनके थाभायनी साधु रहा करते थे। परन्तु अब कोई सुन्दरदासोत अथवा रजबावती साधु नही हैं। हा, रज्जबद्वारा अवश्य बना है जो व्यासो के घेरे मे दक्षिणाभिमुख बना हुआ है। जिसकी सन् १९०८ से पूर्व मरम्मत

१–सुन्दर ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० ११८ शीर्षक, 'अताथस्था'।

२–सवत सत्रासौ छियाला। कार्तिक सुदि अष्टमी उज्याला ॥
तीज पहल भरस्पतिवार। सुन्दर मिलिया सुन्दर सार ॥

और सफेदी भी हुई थी। परन्तु उसमें रज्जब जी का कोई आभासती साधु नहीं था।[1]

इस प्रकार रज्जबजी के परिवार के सम्बन्ध में बाह्य साक्ष्य एवं अनुमान के आधार पर इतना ज्ञात होता है कि वे पठान पुत्र थे, उनके पिता सेना में एक छोटे नायक थे। उनकी जन्म-भूमि सांगानेर थी। रज्जब जी के एक छोटा भाई था, और भाई अथवा बहिनें थीं अथवा नहीं, इसका पता नहीं चलता। रज्जब जी ने विवाह नहीं किया। प्रारम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति अध्यात्म की ओर थी। साधु संतों का सत्संग उन्हें प्रिय था। गुरु दादूदयाल से उन्होंने दीक्षा ली तथा उन्हीं के साथ रहे। दादूजी के शिष्यों में नायक संत के रूप में वे सर्वाधिक प्रतिष्ठित थे। वे लंबे चौड़े शरीर के थे। कुश्ती, व्यायाम आदि में उनकी रुचि थी। जन्म सं० १६२४ (१५६७ ई०) तथा मृत्यु सं० १७४६ (१६८९ ई०) माना जाता है। १२२ वर्ष की आयु में रज्जब जी को परमपद प्राप्त हुआ। आडम्बर-विहीन निश्छल साधना पर उनका विश्वास था। नाना लोक प्रसंगों की भूमिका पर उन्होंने जिस दिव्य साधना का संकेत किया वह हिन्दी साहित्य तथा भारतीय संत-साधना की अनुपम निधि है। उनके जन्मकुल के सम्बन्ध में संत-साहित्य के विद्वान् प० परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा' नामक कृति में लिखा है कि उनके पितृ-कुल के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह पहले हिन्दू कलाल का था जिसमें मद्य की बिक्री होती थी और मुसलमान होने पर भी ये लोग सुरा-विक्रेता ही बने रहे।[2] यह नहीं कहा जा सकता कि चतुर्वेदीजी द्वारा उल्लिखित सूचना का आधार क्या है? हो सकता है कि राजस्थान में कुछ हिन्दू धर्म-प्रेमी लोगों के द्वारा इस धारणा का प्रचार किया गया हो। चतुर्वेदीजी ने अपने इस कथन का आधारसूत्र नहीं प्रस्तुत किया। इस धारणा के प्रमाणहीन होने के कारण आगे चतुर्वेदीजी ने स्पष्ट लिख दिया 'किन्तु दादू पंथी एवं रज्जब के भक्तगण इस बात को स्वीकार नहीं करते और अधिक सम्मति उन्हें पठानवंशीय ठहराने के ही पक्ष में मिलती है।[3] रज्जब जी के पारिवारिक जीवन की अविज्ञेयता की स्थिति के रहते हुए भी उनका व्यक्तित्व साधना एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों की दृष्टि से अतीव मोहक एवं पठनीय है।

१–सुन्दर ग्रंथावली भूमिका, पृष्ठ १२०।
२–वही, पृष्ठ ४२२।
३–वही, पृष्ठ ४२२।

अध्याय २

रज्जबकाल की सामाजिक स्थिति

(क) पूर्ववर्ती सामाजिक मान्यताए एव विविध आचार-परिपाटियां। (ख) हिन्दू-मुसलमानो का पारस्परिक व्यवहार। (ग) सतों की दीक्षा-परिपाटी। (घ) नव दीक्षित सतों के प्रति समाज की भावना।

किसी महापुरुष के जीवन एव कृतित्व का समुचित मूल्याकन करने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक यह है कि हम उस के अवतरण-युग की सामाजिक परिस्थितियो एव प्रवृत्तियो से परिचित होने का प्रयास करे। इसी सन्दर्भ मे यह भी ज्ञातव्य है कि वह महापुरुष तथा उसके युग का समाज एक दूसरे को क्रिया-प्रतिक्रियाभाव से किन-किन दिशाओ और दशाओ मे प्रभावित करते रहे हैं। अथ च उस महापुरुष ने पूर्व स्थापित मान्यताओ एव परम्पराओ से छिन्न-सूत्र होकर नितान्त अभिनव एव स्वतन्त्र आदर्शों की स्थापना की है अथवा प्रचलित विश्वासो मे केवल योग-विच्छेद कर उनमे नूतन प्राणप्रतिष्ठा की है। हम देखते हैं कि प्रत्येक कार्य को अभीष्ट परिणाम तक ले जाने के लिए शक्ति और कौशल चाहिए। क्योकि शक्ति और कौशल मे जितना अधिक समन्वय होगा, कार्य और परिणाम मे उतना ही अधिक सामञ्जस्य होगा। एक के एकान्त अभाव अथवा एकान्त अतिरेक मे दूसरा पगु बन जायेगा। कौशल के अभाव मे शक्ति अज्ञान की लीला-सहचरी बन जाती है तथा शक्ति के अभाव मे कौशल निष्क्रियता का पोषक बन जाता है। प्राय युग-प्रवर्तक महापुरुष शाश्वत धर्म तथा युग-धर्म मे सगति स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, या यो कहें कि युग-धर्म को शाश्वत धर्म मे समाहित करने की चेष्टा करते हैं जिससे दोनो अविरोधी रह कर मानव-कल्याण मे सहायक हो सके। इस धर्म-समन्वय-सम्पादन की प्रक्रिया मे आत्मिक शक्ति और बौद्धिक कौशल का सर्वोपरि स्थान है। तब फिर हमे यह भी परीक्षण करना होगा कि किसी युगपुरुष मे इन तत्वो की कौनसी सीमा अथवा मात्रा रही है।

पिछले अध्याय मे हम यह बता चुके हैं कि रज्जबजी का जीवनकाल सन् १५६७ ई० से १६८९ ई० तक प्रस्तारित था। १२२ वर्ष की इस लम्बी अवधि में भारतवर्ष के लगभग चार मुगल शासको के सिंहासन क्षीणायु हो गये थे। हुमायू के पुत्र अकबर ने १५ वर्ष की आयु मे, सन् १५५६ ई० मे, शासनभार अपने हाथ मे लिया तथा १६०५ ई० मे उसकी मृत्यु हो गई।

अकवर के पुत्र सलीम ने उसी वर्ष शासनप्रवन्ध हस्तगत किया। सन् १६२८ मे शाहजहा सिंहासनारूढ हुआ। ठीक २० वर्ष के उपरान्त शाहजहा का पुत्र औरगजेव शामनाधिपति हुआ। रज्जवजी के महाप्रयाण के १८ वर्ष पश्चात् औरगजेब भी इस दुनिया से चल वसा। इस प्रकार अकवर, जहागीर, शाहजहा तथा औरगजेव इन चार मुगल शासको का राज्य-वैभव रज्जवजी ने अपनी आखो से देखा था। अत उस युग के राजनैतिक परिप्रेक्ष्य मे ही तात्कालिक सामाजिक स्थिति एव जन-प्रवृत्ति पर विचार करना अधिक समीचीन होगा।

रज्जवकालीन भारत के राजनैतिक इतिहास का जव हम अवलोकन करते हैं तव हमे पता चलता है कि मुगल शासको ने अपनी वाह्य रीति-नीति में कितनी ही उदारता, सहिष्णुता तथा सदाशयता का परिचय क्यो न दिया हो, किन्तु उनकी उदारता और सहिष्णुता के मूल मे स्वधर्म-स्थापन तथा परधर्म-उन्मूलन का एक मात्र उद्देश्य निवद्ध रहा है। भारत की ओर प्रस्थान करते समय मुगल-शासन के आदि सम्राट् वावर ने अपने पुत्र हुमायूं को जिस सहिष्णुता एव सेवापरायणता का उपदेश[1] दिया था वह सचमुच वाहर से अतिशय प्रलोभन-कारी तथा सहानुभूति-उत्पादक प्रतीत होता है, किन्तु यदि हम उसके नय-शिक्षण के मर्म का निरीक्षण करे तो कुछ अन्य ही सकेत लक्षित होता है। वावर यह भली भाति जानता था कि भारतवर्ष मे विभिन्न धर्मावलम्वी निवास करते हैं। वहा किसी धर्म का तिरस्कार करके इस्लाम धर्म की स्थापना दुष्कर है, इसी-लिए उसका विश्वास था कि इस्लाम धर्म का प्रचार भारतीय जनता के विश्वासो एव मतो को समादृत बनाये रख कर ही अधिक परिणामवाही सिद्ध हो सकता है। वावर की दृढ धारणा थी कि भारत के किसी धर्म का वर्जन वहा इस्लाम-धर्म का सर्जन न कर सकेगा। पर हुमायू ने अपने पिता के नीति-उपदेश की वास्त-विकता को प्रकट ही कर दिया। भारत पर किये जाने वाले अपने आक्रमण के अभिप्राय का विश्लेपण करते हुए हुमायू ने कहा था कि मेरे आक्रमण का

---

1 'O my son, people of diverse religion inhabit India, it, therefore, behoves you that you should not allow religious prejudice to influence your mind and administer impartial justice having regard to the religious susceptibilities and religious customs of all sections of the people 'The propagation of Islam will be better carried on with faith of love and obligation than with the sword of suppression'

The Din-I-Ilahi or The Religion of Akber—p 47, by Makhan Lal Roy Chaudhary, M A, B L, Sastri

एक मात्र उद्देश्य भारतीय जनता को इस्लामधर्मावलम्बी बनाना तथा वहा की मूर्तियो एव मदिरो को ध्वस्त करना है । उस देश को काफिरो से मुक्त कर पवित्र करना है ।[1] बावर और हुमायूं का यह मनोभाव अकबर महान् के रक्त मे भी विद्यमान था । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अकबर ने अपने पितामह द्वारा पिता को दिये गये उपदेश का अक्षरश पालन कियो ।

अकबर मुगल शासको मे सर्वाधिक निपुण, प्रतिभा-सम्पन्न एव प्रभावशाली सम्राट् माना जाता है । अवसर के अनुरूप आचार-नियमन मे अकबर अद्वितीय था । यदि अवसर सघर्ष अथवा युद्ध की अपेक्षा रखता तो अकबर युद्ध करता था और यदि स्नेह और मैत्री से अभीष्ट सिद्ध होता तो वह अविलम्ब अपनी महत्ता के शिखरो को दैन्य की समतल भूमि मे परिणत कर लेता था । भारत की हिन्दू जनता का मुसलमानो द्वारा उत्पीडन अकबर से पूर्व तो चलता ही रहा था, उसके बाद भी धर्मपरिवर्तन की यत्रणा जारी रही । मुस्लिम आक्रमणो की निर्दयता के रोमाचकारी वृत्तात सुन कर आज भी जनसामान्य का हृदय दारुण आतक का अनुभव करने लगता है । धर्म के नाम पर इन मुसलमान आक्रमणकारियो ने अधर्म की ध्वजा उन्मत्त हो कर फहराई । फलत मानवता के नाम पर जघन्य अमानवीय कृत्य देखने में आये । तैमूर की नृशसता का स्मरण-मात्र हिन्दुओ का हृदय दहला देता है । सिकन्दर लोदी द्वारा इस्लामपरस्ती के मद मे सहस्र-सहस्र हिन्दुओ की निर्मम हत्या भारतवासियो के मस्तिष्क मे अब तक ताजी है ।[2]

---

1 "My object in the invasion of Hindustan is to lead an expedition against the infidels that according to the law of Muhammad, we may convert to the true faith the people of that country and purify the land itself from filth of infidelity and polytheism, and that we may overthrow their temples and idols and become Gazis and Mujahidas before God." — Din-I-Ilahi p 6

2 "Certainly instances are not wanting when Muslim monarch have been guilty of crimes in the name of religion inspite of commandments to the contrary Timur has been credited with having killed 6000,000 human beings only to change his land of infidels into that of believers (Darul Harl into Darul-Islam) After the victory of Ajmer he was greeted with Turret of welcome built of 70,000 heads of the slaughters and they were unbelievers One thousand men were butchered of Sirusthi (Srabasti) and all in the name of Islam Sultan Bayezid would kill at least two Christians every day to celebrate his meals the dying shrieks of the victims would be the music to his dinner Sikander Lodi slaughtered 15000 Hindus is one day to prove his love for Islam" —The Din-I-Ilahi–Chapter–I–p I

अकबर का उत्तराधिकारी जहागीर एक कलाप्रिय एव विलासी प्रकृति का बादशाह था। वह धर्म की गहराई मे नही गया। वह हिन्दू पर्वों और उत्सवो मे सम्मिलित होता था। इस्लाम धर्म के विधि-निपेधो के प्रति भी कभी-कभी उपेक्षा कर जाता था। परन्तु मूर्ति-पूजा का उसने भी विरोध किया। कागडा के मदिर पर अधिकार कर लेने के पश्चात् उसी मदिर के सामने उसने गो-हत्या करवाई। ईसाई धर्म के प्रति उसका हिन्दू धर्म की अपेक्षा अधिक सहिष्णुता का भाव था। इतिहासकारो का मत है कि उसने अपने भतीजो को ईसाई धर्म स्वीकार करने की अनुमति देदी, यद्यपि यह धर्म-स्वीकरण स्थायी नहीं था।[1]

जहागीर के पुत्र शाहजहा ने इस्लाम की उपासना मे वाराणसी के अनेक मदिरो को भग्न करने का आदेश दिया। इतना ही नही, नवीन मदिरो के निर्माण पर प्रतिबन्ध-आदेश लगा दिया गया एव बहुसख्यक हिन्दू जनता को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए भी प्रेरित किया गया। शाहजहा यद्यपि अपने शासन के अतिम दिनो मे इस प्रकार की धार्मिक असहिष्णुता से मुक्त हो गया था किन्तु उसके पुत्र औरगजेब के शासनाधिपति होते ही रक्तव्याप्त धर्म-कट्टरता की नग्न लीला पुन प्रारम्भ हो गई।

औरगजेब ने आरम्भ मे तो यह घोषणा कराई कि इस्लामधर्म मदिरनिर्माण की अनुमति नही देता, साथ ही उसने प्राचीन मदिरो के सुरक्षित रहने देने का आश्वासन हिन्दू जनता को दिया किन्तु जब शासन-सूत्र पूर्ण रूप से औरगजेब के हाथ में आ गया तब उसने नये पुराने का भेद हटा कर सभी मदिरो के नष्ट करने की योजना बनाई। मदिर-विध्वसन-क्रिया में वह कहता कुछ और था, करता कुछ और[2]। बाबर से लेकर मुगल शासको की पाचवी पीढी तक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रीति से इस्लाम-धर्म की स्थापना का प्रयास अविकल गति से चलता रहा, परन्तु भारत में इस्लाम-धर्म अपने व्यापक प्रभाव से वचित ही रहा। यहा के हिन्दुओ मे अपनी प्राचीन पुनीत-सस्कृति पर निष्ठा थी। मुसलमान शासको के प्रताडन तथा प्रलोभन हिन्दू जनता को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य करने में नितात असफल सिद्ध हुए।[3] मुगल शासनकाल मे हिन्दू और मुसलमानो मे

---

1 Cambridge History of India, Volume IV The Mughal period, Edited by Sir Richard Burn p 182

2 Cambridge History of India p 241

3 "But inspite of all possible attempts to convert the Hindus to Islam, Islam could not make much head way in India The Hindus with their age long culture and deep rooted religious convictions would not change their faith'

—The Din-I-Ilahi, Chapter 1, p 7

प्रेम भाव के जो चिन्ह लक्षित होते हैं वे लम्बी अवधि के साहचर्य से उत्पन्न हुए थे। साहचर्य में मित्रता का प्रादुर्भाव हो ही जाता है। पारस्परिक आवश्यकताओ तथा राजनैतिक समस्याओ ने भी दोनों वर्गों को परस्पर निकट लाने मे अपना स्वाभाविक महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया।[1] इसका प्रेरक कारण यह था कि "उन्नीसवी शताब्दी से पहले भारत में इस्लाम का कोई अलग सगठन नही था। विभिन्न मतो के अनुयायी होते हुए भी हिन्दू मुसलमान दोनो आपस मे मिलकर रहते थे। पहले भारत मे राजनैतिक शक्ति इस्लाम के हाथ मे होने के कारण उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही नही उठता था और इससे मुसलमानो ने अपनी जमात (सगठन) अलग बनाने की बात कभी नही सोची थी। मुस्लिम अधिकारी खुशी से हिन्दू राजाओ के यहा नौकरी करते थे। जब पानीपत के रणक्षेत्र मे मराठो की अफगानो से मुठभेड हुई तब हिन्दू सेना मे अनेक मुस्लिम सैनिक और कप्तान थे जिसमे इब्राहिम गर्दी के तोपचियो ने अफगानी फौजो को अपनी गोलाबारी से भून कर अधिक क्षति पहुँचाई थी।"[2]

इस्लाम हिन्दू मस्तिष्क को पराभूत नही कर पाया था। बात इतनी ही नही र्थी, इतिहास इस तथ्य का भी समर्थन करता है कि राजपूताना, मालवा, बुन्देलखण्ड तथा खानदेश मे हिन्दू जनता ने मदिरो के ध्वस्त करने का फुट-पुट विरोध किया। यह विरोध उन क्षेत्रो तथा समय मे विशेष रूप से हुआ जो मुस्लिम शासन के केन्द्रीय क्षेत्र से दूर थे तथा जिस समय बादशाह उपस्थित नही होता था। किन्तु औरगजेब के शासनकाल के उत्तरार्द्ध मे कुछ राजपूतो और मराठा सरदारो ने मदिर नष्ट करने का विरोध मात्र ही नही किया, प्रत्युत अपने क्षेत्र मे मस्जिदो को ढहाया तथा अजान देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। कुछ स्थानो मे तो जजिया-कलेक्टर को दाढी नोच कर निकाल बाहर किया

---

1 The Din-I-Ilahi–Chapter 1, p 7–8

'Till in course of time, the followers of the faiths by long association, with each other, by a community of interests in daily life a community of problems in politics unconsciously approached each other'

२–भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण—ले० के एम. पणिक्कर, अनुवादक—श्री हनुमानप्रसाद बाजपेई, तृतीय सस्करण—पृ २३८।

गया ।[1] मुगल शासको की इस अध स्वधर्मपरायणता की वहुमुखी प्रतिक्रियाए उस युग के भारत मे सर्वत्र लक्षित होती हैं। वह सिखसम्प्रदाय, जिसकी स्थापना गुरु नानक (१४६६-१५३८) ने उत्तरी भारत की जनता मे धर्म-निष्ठा जागृत करने के लिए की थी, १७ वी शताव्दी मे एक सैनिक सगठन मे परिणत हो गया ।[2] ऐसा इसलिए हुआ कि जव सिखो को प्रतीत हुआ कि धर्म-सम्प्रदाय मात्र से मुसलमानो के अत्याचारो का प्रतिकार समुचित रूप से नही किया जा सकता तो उन्होने अपने सम्प्रदाय को सैनिक सगठन मे परिणत कर देना ही उचित समझा ।

हम कह आये हैं कि समस्त मुगल शासको मे अकवर अत्यन्त कुशल एव व्यवहारविद् सम्राट् था । उसने भारत के वहिरग चित्र को देखने के साथ-साथ भारतीय सस्कृति की आत्मा का परिदर्शन भी किया था। उसने यहाँ युगानुगत हिन्दू धर्म की गहराई तक जाने वाले उन सूक्ष्म तन्तुओ को देखा था जो अपनी पुरातनता एव अजरता मे काल को भी चुनौती दे रहे थे। देश-काल को ठीक-ठीक समझने की क्षमता रखने वाले ही ससार मे कुछ करके दिखा जाते हैं । अकवर ने धार्मिक द्वेप की पकिलता को सर्व धर्म-समानत्व के पवित्र वारि मे प्रक्षालित किया था। वह समझ चुका था कि हिन्दू धर्म की काली कमली मे दूसरा रग चढने वाला नही है । अकवर उन हिन्दुओ की अविचल धर्म आस्था को निकट से देख चुका था जो इसके प्रेम-सूत्र मे स्वेच्छा से आवद्ध

---

1 Cambridge History of India–IV p 243

'Forcible opposition to temple destruction was offered only in Rajputana, Malwa, Bundelkhand and Khandesh which were remote from the centre of the imperial authority and even there only when the emperor was not present But we read of reprisals in the second half of the reign by certain Rajput and Maratha Chiefs who demolished converted mosques in retaliation or stopped the chanting of the call of prayer in their locality. In some places Jazia Collector was expelled plucking his beard out'

2 Cambridge History of India p 244

'The Sikh sect which Baba Nanak (1469–1538) had founded at the beginning of the sixteenth century was entirely transformed from a religious body into a military brotherhood in the course of seventeenth century'

होकर उसकी राजसभा के शोभन अलकार बन चुके थे। इस देश के लोक-हृदय का विधिवत् अध्ययन करने के पश्चात् अकबर ने इस्लामेतर भारतीय धर्मों के प्रति न केवल आदर का भाव रखना प्रारम्भ किया वरन् वह स्वय इस्लाम धर्म की जड सीमाओ से बाहर निकला, अपने को मुस्लिम कहना बद किया तथा सार्वजनिक प्रार्थनाओ मे मुहम्मद साहब के नामोल्लेख पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यद्यपि वह राजनैतिक कारणो से इस्लाम धर्म का खुला विरोध न करके उसके प्रति अपनी आस्था का निर्वाह किये जा रहा था, परन्तु इस्लाम धर्म का अधानुसरण उसने नही किया। मुस्लिम जनता का विश्वास उस पर बना रहे, किसी प्रकार का धार्मिक उपद्रव अथवा अशान्ति शासन मे न हो, इसके लिए प्रदर्शन मे वह एक मुसलमान के रूप मे इस्लाम धर्म के कृत्य प्राय सम्पादित करता था। सन् १५७९ मे अकबर ने अपनी इस्लाम धर्म की निष्ठा का परिचय देने के लिए सालाना रस्म अदायगी के पहले अजमेर-दरगाह की यात्रा की।[1]

जिन हिन्दू राजाओ ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी उनको प्रसन्न रखने के लिए उसने ४० वर्षों के भीतर लगभग २१ हिन्दुओ को उच्च पदो पर नियुक्त किया। इस प्रकार नियुक्त उच्च हिन्दू अधिकारियो मे सभी प्राय राजपूत थे। अकबर ने ऐसा इसलिए किया था कि अधीनता स्वीकार

---

1 Akbar the Great Moghul, By Vincent Smith C S E

'The pretence or profession of a desire to define and propagate the teaching of Islam was soon dropped and in the course of a year or two, Akbar had definitely ceased to be a Muslim As early as January 1580, when Aquaviva and his companions were travelling from Surat to Gujrat on their way to capital, they had met the imperial courtiers who told the escort that Akbar had forbidden the use of the name of Muhammad in the public prayers Afterwards he went much farther and definitely renounced all faith in the Prophet, although he continued to perform occasional acts of conformity for political reasons In September 1579, Akbar although no longer a sincere believer in the efficacy of the prayers of Muslim saints made a pilgrimage as had been his custom to the shrine of Ajmer'

करने वाले राजा भी अधिकांश राजपूत ही थे।[1]

(क) पूर्ववर्ती सामाजिक मान्यताएं व विभिन्न आचार परिपाटियां—

कतिपय प्रमुख मुसलमान शासकों ने इस बात का पर्याप्त ध्यान रखा कि हिन्दुओं की भावनाओं को किसी प्रकार का आघात न पहुँचे। इसके लिए वे सचेष्ट रहते थे। उनके धार्मिक-विद्वेष को शान्त करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयास होते रहे। हिन्दुओं की अनुचित जातीय भावना के प्रति आदर भाव रखा गया। हिन्दू-मुस्लिम विवाहों को प्रोत्साहन नहीं दिया गया।[2] इतना ही नहीं, हिन्दू मुसलमानों के विभिन्न त्योहार राजकीय वैभव के साथ सम्पन्न होते थे। विजया दशमी पर राजकीय गज तथा अश्व पूरी शृंगार-सज्जा में पंक्ति बद्ध खड़े किये जाते थे तथा उनकी कवायद का निरीक्षण किया जाता था। रक्षा-बन्धन के दिन हिन्दू सामन्त तथा ब्राह्मण बादशाह की भुजा पर राखी बांधते थे। शिवरात्रि भी समारोहपूर्वक मनाई जाती थी। उधर मुस्लिम त्योहार ईद और शबेरात भी उसी वैभव के साथ मनाये जाते थे।[3] मुहम्मद हुसेन साहब 'आजाद' भी इसी तथ्य का पोषण करते हुए लिखते हैं कि नौबत यहां तक पहुंची कि हमकौम और गैरकौम का फरक न रहा। सिपाहदारी और मुल्कदारी अलीलुकदर आहद तुरकों के बराबर हिन्दुओं को मिलने लगे। राजपूतों की मुहब्बत, उनकी हर बात बल्कि रैयत रसूम और लिबास भी उसकी (अकबर की) आंखों में खुशनुमा दिखने लगे। चोगे और उमामा को उतार कर जामा और खिड़कीदार पगड़ी अख्तियार कर ली। दाढ़ी को रुखसत कर दिया। तख्त और देहीन को छोड़ कर सिंहासन पर बैठने और हाथी

---

1 'In the course or about forty years, he (Akbar) appointed in all twenty one Hindus to ranks above 500, but of these seventeen were Rajputs, that is to say to consolidate his hold over the chief who submitted to his rule'

India at the Death of Akbar—
'An Economic Study' W.H Moreland p 70

2 'The Hindu feelings, even irrational feelings of caste, were uniformly respected No attempt was made to promote inter marriage between the Hindus and Muslims'

Journals of Indian History, Vol. I Part I, p 103

3. Journals of Indian History Vol. I Part I, p. 113

पर चढने लगा। फरसोफरोश, नीवारिया और दरवार के सामने आरायश सव हिन्दुआने होने लगे। हिन्दू और हिन्दुस्तानी लोग हर वक्त खिदमतगारी मे हाजिर।[1]

मुगल शासनकाल के विविध तथ्यों का परीक्षण हमे यह निष्कर्ष ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है कि अकवर शासकीय प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक शान्ति के लिए धार्मिक कट्टरता अथवा परधर्म-निरसन को तिलाजलि देना अधिक उचित समझता था। यही कारण है कि उसने इस्लाम-धर्म के आग्रह से मुक्त होकर एक ऐसे इवादतखाने का निर्माण कराया जहा सभी धर्मों के आचार्य, देश के विश्रुत विद्वान् एव समाजपरायण व्यक्ति प्रत्येक प्रकार की धार्मिक-समस्याओ पर वादविवाद के लिए आमन्त्रित किये जाते थे।[2] इस्लाम की जटिल रूढियो एव अध-परम्पराओ को अकवर घृणास्पद दृष्टि से देखता था। वह इस्लाम-धर्म को पुनरुज्जीवित करना चाहता था और कदाचित् उसने इसी अभिप्राय से एक नवीन धर्म की स्थापना की जो 'दीन-इलाही' नाम से विख्यात हुआ। अकवर को अभीप्सित था कि इस्लाम-धर्म अपनी जडता से मुक्त होकर भारत की सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियो के अनुरूप ढल कर भारतीयो का प्रिय विश्वास वन जाय। अकवर के 'दीन-इलाही' ने एक वात स्पष्ट कर दी कि मध्य एशिया की शक्तिया अरब के सेमेटिक दर्शन मे अपना मार्ग खोजती हुई तथा ईरान के एकेश्वरवाद की वीथियो मे विचरण करती हुई अततोगत्वा भारतीय परिस्थितियो के अनुकूल वन गई। उस विशाल इबादत खाने मे विभिन्न विश्वासो के समन्वित दर्शन नें इस्लाम का एक प्रकार से भारतीयकरण कर दिया।[3] अकवर के इवादत खाने मे इस्लाम धर्मावलम्बियो के सभी सम्प्रदाय के विद्वानो को धार्मिक वाद-विवाद मे आमन्त्रित किया गया। इस्लाम की सकीर्ण एव सीमित

१—दरवारे अकवरी—पृ ६५, ले० मुहम्मद हुसैन आजाद।
२—दीन इलाही—पृ ८७।

3 'The Din-I-Ilahi of Emperor Akbar clearly demonstrated how the Central Asian forces winding their course through the semitism of Arabia and filtering through the monism of Iran were ultimately reorganised by the touch of Hindustan The contribution of the different cultures, as represented in that great Hall of Worship to the transformation and Indianisation of Islam, was immense, though the process had already begun.'—The Din-I-Ilahi, Preface, p 29

परिधि के भीतर अपने विचारो को बद्ध रखने मे अकबर को परितोष नही प्राप्त हो रहा था। उसने अपने अतिम काल मे अबुलफजल के परामर्श से सर्व-धर्म-समन्वय के निमित्त हिन्दू विद्वानो को भी धर्मचर्चा के लिए इबादत खाने मे आमत्रित किया था।[1] अकबर प्रतिभासम्पन्न विद्वानों से धर्मचर्चा करने में अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करता था। महात्मा दादू दयाल एक बार जब फतहपुर सीकरी पधारे थे तो अकबर ने जिज्ञासुभाव से चालीस दिन तक उनके धर्मोपदेश का ध्यान पूर्वक श्रवण किया था।[2] यह तथ्य जनगोपाल की 'दादू जन्म-लीला-परची' मे लिखित 'गोष्ठी करी दिवस चारीसा, पार न पायो बिसवा वीसा'–से भी प्रमाणित होता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि अकबर की शासकीय एव धार्मिक नीति ने हिन्दू मुसलमानो की धार्मिक असहिष्णुता का आशातीत परिहार किया था। हिन्दू मुसलमानो के प्रति सहानुभूति और सद्भावना रखने लगे थे। मुसलमान हिन्दुओ के प्रति मैत्री एव सदाशयता का परिचय देने लगे थे। भले ही यह कथन परस्पर विरोधी प्रतीत हो किन्तु यह अवश्य मानना पडेगा कि सम्पूर्ण मुगल शासन-काल मे हिन्दू-मुसलमानो का परस्पर मैत्रीभाव उनके पारस्परिक वर्ग-विद्वेष एव धार्मिक अनुदारता से होड लेता रहा। इस काल मे जहा हमे हिन्दू-मुसलमानो की परस्पर उदार भावना के मनोमोहक चित्र दृष्टिगोचर होते हैं, वही दूसरी ओर साम्प्रदायिक विद्वेष एव धर्मोन्माद-प्रेरित निर्मम वध और हत्याओ के जघन्य दृश्य हृदय को विकम्पित भी कर देते है। कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुस्लिम-मैत्री और वैमनस्य दोनो के अनेकानेक जीवन्त उदाहरण मुगल शासन-काल में प्राप्त होते हैं।

---

1 'In the second period, the other sects of the faith were invited to discussions It was only during the last period, when the ever-expanding mind of Akbar, not satisfied with the circumscribed limits of the sects of Islam, wanted to quench his thirst for knowlege by drinking at the fountain of the savants of all climes, as dreampt by Abul-Fazl that the Hindus were admitted into the Ibadat-Khana along with representatives of other faiths'—The Din-I-Ilahi, p 138

2 'Akbar is said to have conversed with Dadu for 40 days and was much delighted to see the devotional side of the Saint'

—The Din-I-Ilahi, p 138.

इधर हिन्दू समाज में सती प्रथा की प्रबल आधी चल रही थी। आए दिन नवपरिणीता युवती विधवाओ को इच्छा-अनिच्छापूर्वक अपने मृत पति के शव के साथ अग्नि-समाधि लेनी पडती थी। सती प्रथा उस युग के समाज का एक सस्कार बन गयी थी। जो विधवाए सती होने मे किसी प्रकार का सकल्प-विकल्प करती, उनको ब्राह्मण जाकर समझाते थे और उन्हें सती होने के लिए प्रेरित, विवश और बाध्य करते थे। विधवा स्त्रिया सती होने के लिए प्राय बाध्य की जाती थी। सती होने के समय का दृश्य अत्यन्त करुणोत्पादक होता था। उस समय सती होने की कई प्रणालिया प्रचलित थी। इन प्रणालियो के जनक प्राय. ब्राह्मण थे। कही-कही सती होने वाली स्त्री को अग्नि मे न जला कर पृथ्वी मे गाड दिया जाता था। यह धरागर्भित करने की क्रिया अत्यधिक रोमाचकारी होती थी। सर्वप्रथम वे सती होने वाली स्त्री को जीवित पृथ्वी मे गले तक गाड देते थे, तदनन्तर दो-तीन व्यक्ति एक साथ उस पर कूद पडते तथा उसका कठ मरोड देते। जब वह पूर्ण रूप से शान्त हो जाती तो टोकरियों से उस पर मिट्टी डाल कर ढक देते तथा पैरो से रौद कर बराबर कर देते थे।[1] इस सती प्रथा को समाप्त करने का प्राय समस्त मुगल शासको ने प्रयास किया, किन्तु हिन्दुओ के धर्म मे हस्तक्षेप न समझा जाय इस भय से वे शासकीय विधान द्वारा उसे भग न कर सके, अप्रत्यक्ष रूप से वे अवश्य ही सती-प्रथा को रोकने का अनवरत प्रयास करते रहे।[2]

(ख) हिन्दु-मुसलमानो का पारस्परिक व्यवहार—

मुस्लिम शासको द्वारा यद्यपि हिन्दू समाज के अधविश्वासो के विघटन का प्रयास चलता रहा किन्तु ब्राह्मणो द्वारा इन अधविश्वासो का पोषण अपने

---

1 'In some parts of the Indies, instead of burning the women who determine not to survive their husbands, the Brahamans bury them alive by slow degrees upto the throat, then two or three of them fall suddenly upon the victim, wring her neck and when she has been effectually and completely choked, cover over the body with earth thrown upon it from successive baskets and tread upon the head'
—Travels in the Mogul Empire—Francis Bernier, p 315

2. The Mahametans (Mohammadans) by whom, the country is governed doing all in their power to suppress the barbarous custom (Sati-Pratha). They do not indeed forbid it by positive law because it is a part of their policy to leave the idolatrous population which is much more numerous than their own in the free exercise of their faith
—Travels in the Mogul Empire—Francis Bernier, p 315

प्रभाव मे किसी प्रकार हीन सिद्ध नही हुआ। समाज इन ब्राह्मणो के धार्मिक कर्मकाण्डो के चक्र मे निरतर परिभ्रमित हो रहा था। ब्राह्मणधर्म की स्थिति विकृत हो गई थी। धार्मिक कृत्यो के माध्यम से घोर अधार्मिकता का व्यापार फैला हुआ था। इस अधार्मिकता को ब्राह्मण ही प्रोत्साहन देते थे। अनाचार मदिरो के भीतर भी प्रशस्त पथ प्राप्त कर चुका था। मदिरो मे युवती-भोग की लज्जास्पद क्रियाए अबाध रूप से चल रही थी और वे चल रही थी धर्मानुमोदित अवस्था मे।[1]

हिन्दू धर्म की निर्मलता के ऊपर भ्रष्ट ब्राह्मण-आचार्यों द्वारा पोषित एव प्रचारित अधविश्वासो का मलाच्छादन चढ गया था। धर्म के एक पार्श्व मे नग्न शृगार अपने विलास नूपुरो की मधुर झन्कार कर रहा था और दूसरे पार्श्व में विवश करुणा कातर चीत्कार कर रही थी। इन्ही ब्राह्मणो द्वारा रुग्ण व्यक्ति को किसी निकटवर्ती सरिता तक ले जाया जाता था। उसके पैरो को पानी मे डुबोने के पश्चात् उसे गले तक पानी मे डुबो देते थे और जब यह

---

1 'The Brahamans encourage and promote these gross errors and superstitions to which they are indebted for their wealth and consequence'

'These knaves select a beautiful maiden to become (as they say and as they induce these silly ignorant people to believe) the bride of Jagannath who accompanies the God to the temple with all the pomp and ceremony which I have noticed, where she remains the whole night, having been made to believe that Jagannath will come and lie with her. She is commanded to inquire of God if the year will be fruitful and what may be the processions, the festivals, the prayers and the alms which he requires in return for his bounty In the night one of these impostors enters the temple through a small back door, enjoys the unsuspecting damsel, make her believe whatever may be deemed necessary and the following morning when on her way to another temple whether she is carried in that triumphal chariot by the side of Jagannath, her spouse, she is desired by the Brahamans to state aloud to the people all what she heard from the lustful priest as if every word has preceeded from the mouth of Jagannath'—Travels in the Mogul Empire—Francis Bernier, Ed –A Constable p 305-306

समझ लेते थे कि वह व्यक्ति मरणासन्न है तो उसके सम्पूर्ण शरीर को जल मे विसर्जित कर देते थे। वे करतल ध्वनि करते तथा नाना प्रकार के उद्घोष कर के उसे वही छोड देते थे। ऐसा करने का कारण यह था कि आत्मा जीवन के कर्मो की मलिनता से मुक्त हो जाय, इसीलिए शरीर को प्रक्षालित किया जाता था।[1] आश्चर्य तो तब होता है कि उस युग के विद्वान् आचार्य भी इस प्रकार के कृत्यो का समर्थन करते थे। यह है वह करुण चीत्कार जिसकी ओर हमारा सकेत है। उस युग मे धर्म का चरम पतन मानव के चरित्र का अपलाप तो कर ही रहा था, उसका प्राणघाती भी बना हुआ था। अधविश्वासो की वेदी पर मनुष्य अपने चरित्र और प्राण दोनो की सहर्ष बलि दे रहा था।

मुगल शासको मे अकबर एक ऐसा शासक था जिसने इस प्रकार के हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम-धर्म के अधविश्वासो एव रूढियो से समाज को मुक्त करने की चेष्टा की।[2] उसने सती-प्रथा, बहुविवाह, बालविवाह, द्यूतक्रिया आदि को समाप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु हम देखते हैं कि समाज मे नैतिक मूल्यो के उन्नयन की क्षमता शासन मे कभी नही रही। समाज का उदात्तीकरण तो उदार महात्माओ, साधको, कवियो और साहित्यकारो के द्वारा ही सम्भव हो सका है। अत मुगल शासको के प्रयत्नो का फल जो कुछ भी हुआ हो, उन हिन्दू मुसलिम साधको और सतो के अवतरण ने निश्चय ही उस युग के समाज को अधविश्वासो के प्रवाह एव पतन से बचा लिया। उस युग की सामाजिक व्याधियो के निवारणहेतु इन सतो और साधको की महती आवश्यकता थी। प्रत्येक युग का यह सत्य सिद्ध करता रहा है कि पापो के विपुल प्रसार मे पुण्य का पल्लवन होता है—अधर्म की पराकाष्ठा धर्म का प्रजनन करती है। उस युग के सतो का अवतरण भी जैसे इसी अधर्मोत्पीडन का प्रतिफल था। कबीर, नानक, तुकाराम, चैतन्य, दादू प्रभृति सत साधना के साथ-साथ समाज-सुधार की ओर भी प्रवृत्त हुए तथा ब्राह्मण-धर्म के अनाचारो का खुल कर

१—देखिये वही, पृ० ३१५-६६

2. 'Akbar sought to abolish the barbarous practice of widow-burning and the equally barbarous custom of compulsory widow-hood and to discourage childmarrige and polygamy but he never enforced his ordinances, wise and human as they were, at the point of sword'—Epcchs of Indian History—Vol. I, part I, p 103

निराकरण किया। उनके इस निराकरण के कार्य को मुगलो की विजय से वल मिला।[1]

सोलहवी और सत्रहवी शती मे यूरोप के ईसाई पादरी भी अपने धर्मप्रचार के निमित्त भारत मे आये। परन्तु भारत की धरती मे उनके द्वारा वोये गये ईसाई धर्म के वीज न तो उगे ही और न कोई फल ही दे सके।[2] मुगल शासन की ध्वजा यद्यपि शत-शत इस्लामी आवर्तो मे लहराई और फहराई किन्तु इस्लाम हिन्दू-मानस को पराजित नही कर पाया। इस्लाम का जो प्रभाव हिन्दू विचारधारा पर पडा था वह धर्म के क्षेत्र मे परिलक्षित हो उठा और यहा भारत का प्राचीन भक्तिदर्शन इस्लाम के सूफी सिद्धान्त से विना टकराये मेल खा गया। एक ओर रामानन्द, कवीर और मीरा के भावपूर्ण पद तथा दूसरी ओर इस्लाम के सूफी सतो के ख्याल इन दोनो के वीच अधिक अतर ढूढने की चेष्टा करना वालू मे से तेल निकालना है।[3] हम कहेगे कि हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम-धर्म ने मित्र की भाति एक दूसरे को प्रभावित किया, शत्रु की भाति पराजित नही।

इसमे किसी को मतभेद न होगा कि भारत मे यदि किसी शासक को उत्कर्षशाली वनना है तो उसकी पहली शर्त है कि वह भारतीयो की धार्मिक एव सामाजिक स्वतत्रता का हनन अथवा अपहरण न करे। मुगल शासको मे अकवर और जहागीर ने इसका विशेप ध्यान रखा। इसी प्रसग मे हम यह भी कहेंगे कि भारत में यदि कुछ हिन्दू जनता मुसलमान वनी तो इस लिए नही कि

---

1 '. The rise of reformers like Kabir, Nanak, Tukaram, Chaitanya etc who evidenced popular revolt against Brahmanical orthodoxy, was to a great extent promoted by the social aspects of Muhammadan conquest' Havell's 'Aryan Rule in India', quoted by M N Roy,—in his book 'Historical Role of Islam'. p 105

2 'In spite of the efforts of Missionaries throughout India and especially in the south, there is no proof that Hinduism is in any way losing its hold over the people.'

—Epochs of Indian History. Ed John Adam, p 104

३–भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण—ले० श्री के० एस० पणिक्कर पृ० २३८।

इस्लाम-धर्म के दर्शन से वह विशेप आकृष्ट हुई थी वरन् इस्लाम-धर्म की सामाजिक व्यवहार प्रणाली ही उनके आकर्षण का केन्द्रबिन्दु थी।[1] यह भी तथ्य है कि हिन्दुओ के धर्म-दर्शन एव साहित्य ने मुसलमानो को अधिकाधिक प्रभावित एव अभिभूत किया और मुसलमानो के हृदय मे निश्चितत हिन्दूसस्कृति के प्रति गौरवमडित भाव की स्थापना हुई।

पजाब के अनेक स्थानो मे मुसलमान हिन्दू देवी-देवताओ की उपासना करते थे। दुर्गा, भवानी तथा शीतला मुसलमानो के आराध्य देवता हैं। पश्चिमी बगाल मे मुसलमानो द्वारा लक्ष्मी के गीत गाये जाते थे। कुछ लोगो का तो कहना है कि बगाल का 'मुश्किल आसान' सम्प्रदाय हिन्दुओ को अग्नि पूजा का ही अवशेप था।[2] यद्यपि कही-कही हिन्दू भी मुसलमानो के पीर बदर तथा पचवीर की पूजा करते थे परन्तु ऐसे उदाहरण सख्या मे बहुत कम थे। हिन्दुओ के साहित्य से भी मुसलमान बहुत प्रभावित हुए थे। सस्कृत और हिन्दी मे लिखने वाले अनेक मुसलमान कवियो के नाम किसी से छिपे नही हैं। मलिक मुहम्मद जायसी, खुसरो, रहीम, रज्जब आदि की साहित्यिक रचनाए आज भी हमारे हिन्दी साहित्य की निधि बनी हुई हैं। मुसलमान हिन्दू ज्यौतिष-शास्त्र, इन्द्रजाल आदि में अपूर्व निष्ठा रखने लगे। यहा तक कि हुमायू ने अपने सभा-सदन का निर्माण हिन्दू शैली में करवाया था। उस सदन मे ७ कक्ष थे। जिनका नामकरण सात ग्रहो के आधार पर किया गया था तथा उनका प्रयोग

---

1 'It was not the philosophy of Islam but its sociological programme which won so many converts for it in India' — (Havell's 'Aryan Rule in India' quoted by M N Roy in his book 'Historical Role of Islam in India)' p 98

2 'The man of the Punjab Muslims in many places worship local godlings such as Magti and Lachi The Mirasis of Amritsar give offerings to Durga Bhawani Sitala the goddess of pox is worshiped by Pindi Musalmans'

'Songs of Lakshmi are still sung by Muslim Faqirs in Western Bengal villages According to some, the Mushkil Asan cult of Bengal is a relic of the fire worship of the Hindus'—The Din-I-Ilahi p 9

हुमायू ग्रहो के फल के अनुसार करता था।[1] मुगल शासन-काल में अनेक हिन्दू ग्रन्थो का फारसी मे अनुवाद कराया गया। मौलाना फैजी ने योगवासिष्ठ, लीलावती, नलदमयन्ती तथा सिहासन वत्तीसी का फारसी मे अनुवाद किया। हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद का अनुवाद किया और मुल्ला शीरी ने हरिवश पुराण का अनुवाद किया। रामायण और महाभारत का अनुवाद कई विद्वानो ने मिल कर किया जिसमे अकवर स्वय भी सम्मिलित था। हिन्दू सतो, साहित्यकारो और विद्वानो की मुगल शासको के दरवार मे अप्रतिहत गति थी। हिन्दुओ द्वारा लिखे गये साहित्य की समृद्धि तथा दरवार मे उसका प्रभूत सम्मान देख कर मुसलमान कभी-कभी वादशाह से रुष्ट हो जाते थे तथा शिकायत करते। अकवर के शासनकाल मे हिन्दी को विशेष प्रश्रय मिला।[2]

उस युग के प्राय सभी सतो ने इसी हिन्दी अथवा हिन्दी की शाखाओ उप शाखाओ मे अपने साधनाविपयक सिद्धान्तो की व्याख्या की। उत्तर भारत के सतो ने तो उस युग मे प्रचलित बोल चाल की हिन्दी मे ही अपनी पद्यबद्ध धार्मिक व्याख्याए प्रस्तुत की। इतना अवश्य_मानना पडेगा कि किसी प्रान्त विशेप के सतो की कृतियो मे उस प्रान्तीय भाषा का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। दक्षिण के अनेक वैष्णव एव शैव सतो द्वारा तामिल भापा मे लिखे गये सहस्रो देवस्तोत्र प्राप्त होते हैं। शैव एव वैष्णव मतो ने कालान्तर से अपने अपने मत-दर्शन के सुदृढ आधार की स्थापना की। ग्यारहवी शती मे दक्षिण के

---

1 'Even Humayun had furnished his audience Hall According to the Hindu manner it had seven rooms named According to the seven stars He used these rooms according to the influence of the stars on their life.'—The Din-I-Ilahi, p 51

2 'Almost all Hindu poetry of merit is closely associated with the unrestricted practice of the Hindu religion, which was absolutely assured by the government of Akbar Muhammadans alone had reason to complain that the imperial principles of universal toleration were often disregarded to the detriment The Muhammadan literature of the time, written mainly by courtiers and officials, appears to be far inferior in originality to the Hindi poetry The impetus given to Hindi literature by the policy of Akbar lasted long after his death, throughout the reign of Jahangir .....'—Akbar, the great Mogul, Vincent Smith, 1958, p 305-306.

परम वैष्णव रामानुज ने शकराचार्य की अद्वैत-उपासना से भिन्न विशिष्टाद्वैत-उपासना का उपदेश किया। इनके सम्प्रदाय का नाम श्रीसम्प्रदाय पड़ा। रामानुज ने अपने सम्प्रदाय का भारत-व्यापी-प्रचार करने के लिये ७४ गद्दिया सारे देश मे स्थापित की तथा प्रत्येक गद्दी मे एक महन्त नियुक्त किया। यह निर्विवाद सत्य है कि मध्यकालीन भारत मे बहुदेवोपासना का सर्वथा उच्छेदन हुआ। उस काल का प्रत्येक महात्मा अथवा सत, चाहे वह किसी सम्प्रदाय या पथ का क्यो न हो—एक ईश्वर की उपासना का ही उपदेश करता था। इस प्रकार एक प्रभु की उपासना का समर्थन उस युग के धार्मिक काव्य मे अत्यन्त मनोरम शैली मे उपलब्ध होता है।

काश्मीर मे एक स्त्री जिसका नाम लालदे अथवा लल्ला था, उच्चकोटि की शैव साधुनी के रूप मे प्रसिद्ध है। वह एक टेढवा मेहतर जाति की स्त्री थी, जो सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर वाले परिवार की हो कर भी उच्च विचार रखती थी। इसके विषय मे प्रसिद्ध है कि यह शैव सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाली एक भ्रमणशील भगिन थी, किन्तु धार्मिक मतभेदो से बहुत दूर रहा करती थी और इसके सिद्धान्त अत्यन्त सरल व समन्वयात्मक थे[1]। १४ वी शताब्दी मे वह सारे काश्मीर मे अर्ध नग्न रह कर ईश्वर की एकता पर स्वरचित भजन गाती और नृत्य करती रहती थी।[2] वह शिव, केशव, जिन व नाथ मे कोई भेद नही मानती थी। कुछ विद्वान् लल्ला योगेश्वरी के ईश्वर-सम्बन्धी समन्वयात्मक विचारो का प्रभाव कबीर पर भी मानते हैं। लल्ला के पदो का एक सग्रह 'लल्ला-वाक्यानि' नाम से विख्यात है जिसमे ६० पद सस्कृत रूपान्तर सहित सकलित हैं। १५ वी शती में गुजरात मे नरसी मेहता भी भगवान कृष्ण की लीला पर स्व-रचित पदो का गायन कर रहे थे।

मध्यकाल वस्तुतः भारत की देश-व्यापी धर्म-साधना का युग है। इस युग मे बगाल मे अगणित सत, महात्मा और कवि हुये हैं जिन्होने अपनी साधना और

---

१ उत्तरी भारत की सत-परम्परा की भूमिका, पृ० १०१।

2 "In Kashmir, in the fourteenth century the woman Saiva saint Lalla Yogishwari went about half-naked, dancing and singing in Kashmiri her pungent verses on the theme of divine unity"

Cultural Unity of India, Gertrude Emerson Publications Division, Ministry of Information & Brodcasting, Govt of India, New Delhi, p 47

सिद्धान्तो को बंगला भाषा के पदो मे अभिव्यक्ति प्रदान की। इन महात्माओ में जयदेव ही एक ऐसे महात्मा हुये जिन्होने सस्कृत भाषा मे अपनी सरस कृष्ण-भक्ति की मधुर पीयूष-धारा बहाई। उस समय वगाल मे प्राय. समस्त धर्म-सम्प्रदायो का पल्लवन हुआ। बौद्ध धर्म भारत के अन्य भागो मे समाप्त हो जाने पर भी अपने विकृत रूप मे यहा जीवित था। उस समय वैष्णव, शैव और शाक्त सभी साथ-साथ यहाँ प्रतिष्ठित हो रहे थे। शाक्त उपासक शक्ति को ही निखिल विश्व की अधिष्ठात्री मानते थे। शाक्त धर्म का अल्पाधिक प्रभाव वगाल के तात्कालिक प्रचलित समस्त सम्प्रदायो पर पडा। यहाँ तक कि वैष्णव धर्म भी शाक्त प्रभाव से अछूता न रहा तथा कभी-कभी इन सम्प्रदायो मे अन्तर आकना कठिन हो जाता था।[1] १२ वी शती मे तो कुछ ऐसे महात्मा भी थे जिन्हे शैव एव वौद्ध दोनो अपना मानते हैं। १४ वी शती मे ब्राह्मणो ने चडी-दास पर दुराचार का अभियोग लगा कर जाति से बहिष्कृत कर दिया था। इस पर चडीदास बौद्धो के सहजिया सम्प्रदाय मे सम्मिलित हो गये। किन्तु वे ग्राम-ग्राम में घूम कर राधा और कृष्ण के पदो का गायन करते थे। इससे लक्षित होता है कि वे वौद्ध धर्मावलम्वी हो जाने पर भी शुद्ध वैष्णव बने रहे। मैथिल कवि विद्यापति इनके समयुगीन थे। १५ वी शती के अन्तिम चरण मे बगाल में महाप्रभु चैतन्य का अवतरण हुआ जो एक उच्चकोटि के भावुक वैष्णव महात्मा थे। यद्यपि चैतन्य द्वारा रचे गये अधिकाश पदो का पता नही चला तथापि उनकी करुणामूलक भक्तिभावना, उनकी नृत्य विभोर मुद्राओ एव चित-विमुग्ध-कारी सकीर्तन मे व्यक्त हो कर समाज पर अमोघ प्रभाव डालती थी। चैतन्य प्रभु की राधाकृष्ण-उपासना ने असख्य जनो को वैष्णव भक्त बना दिया।

इधर उत्तर भारत भी अध्यात्म निरूपण करने वाले आचार्यों तथा कवियो से सुसम्पन्न था। १६ वी शती मे दो सत कवियो की कृष्णभक्ति एव प्रेरणादायक पदो ने भग्नोत्साह जनता को आशा, प्रेरणा तथा नैतिक साहस प्रदान किया। उनमे एक सत सूरदास थे दूसरी थी राजपूताने की मीरांवाई। परन्तु उत्तर भारत में महात्मा रामानन्द (१५ वी शती) तथा गोस्वामी तुलसीदास (१६वी शती) दो राम-भक्त सतो ने अपनी मर्यादाप्रधान रामभक्ति द्वारा वहुसख्यक जनता

---

1 "Ultimately to a lesser or greater degree, Shaktism influenced all other religious sects in Bengal even Vaishnavism, and it was sometimes difficult to make any clear distinction between the sects." Cultural Unity of India, p 48.

का ध्यान कृष्ण की ओर से हटा कर मर्यादा पुरुषोत्तम राम मे केन्द्रित कर दिया। महात्मा रामानन्द रामानुज-सम्प्रदाय के अनुयायी थे तथा सस्कृत के प्रकाड पडित थे। रामानन्द उपासना के क्षेत्र में सकीर्णता तथा सम्प्रदायगत द्वेष को अधर्म मानते थे। उनकी उत्कट इच्छा थी कि उनके शिष्य द्वारा रामभक्ति एव राममहिमा का गायन हिन्दी मे किया जाय। नैतिक आचार उनकी दृष्टि मे आध्यात्मिक मुक्ति तक पहुचने का सोपान है। वे विभिन्न धर्मों मे प्रचलित समाज की जातीय असमानता का निषेध करते थे। यही कारण था कि रामानन्द ने चमार, नाई, जाट तथा मुसलमान जुलाहे तक को अपना शिष्य मानने मे कोई आपत्ति नही की।[1] गोस्वामी तुलसीदास यद्यपि रामानन्द के समसामयिक नही थे, फिर भी उन पर रामानन्द का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। तुलसी ने अपने रामचरित मानस की रचना कर के आहत-अत करण जनता के चित्त में अपनी सुगम धर्मनिरूपणी भक्ति द्वारा आश्वासन और विश्वास के अनन्त स्पन्दन जागृत कर दिये। कहना चाहिये कि तुलसी की वाणी उत्तरी भारत की जनता के कठ से प्रविष्ट हो कर हृदय की अतल गहराइयो में उतर गई।

अपने दृष्टिकोण तथा अपनी उक्तियो मे अत्यन्त मौलिक एव सर्वथा भिन्न एक दूसरे महात्मा कबीरदास थे जो एक मुसलमान जुलाहा के पुत्र थे, जिनका जन्म काशी मे हुआ तथा वही पर उन्हे अपने गुरु रामानन्द का साक्षात्कार हुआ। कबीर धर्मोपदेश द्वारा जनता को न केवल भक्ति अथवा मुक्तिलाभ का यत्न बताना चाहते थे—वे धर्म की अध रूढियो का मर्दन कर उसका परिष्कार भी करना चाहते थे और इससे भी अधिक धर्म को सम्प्रदायगत परिधि से बाहर निकाल कर उसके माध्यम से ही सम्पूर्ण समाज का उन्नयन करना उन्हें इष्ट था। तर्कसम्मत सत्य तथा स्वतन्त्र चिन्तन पर कबीर की प्रबल निष्ठा थी। वह सचमुच एक निर्भीक जागरूक साधक थे। वह धर्म को विभिन्न वर्गों एव सम्प्रदायो की इयत्ता तथा सीमा से बाहर ला कर उसे प्रशस्त एवं उन्मुक्त वातावरण में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। मदिर, मसजिद राम, अल्लाह, हिन्दू, मुसलमान, जप और अज़ान के मिथ्या भेदो का निराकरण करना चाहते थे। १५ वी शती में सूफियो का प्रवेश भारत में हो चुका था। एकेश्वरवादी उस युग की सभी

---

1 'He (Ramanand) refused to recognize social inequalities and even the barriers of different religions, accepting among the direct disciples a Cobbler, a Barber, a Jat peasant and a Muslim weaver' Cultural Unity of India, p. 50.

रहस्यवादी उपासना-पद्धतियो का प्रभाव कबीर पर निश्चित ही पडा होगा[१] सिक्ख धर्म–सस्थापक गुरु नानक पर कबीर के उपदेशो और धर्मसाधना का सर्वाधिक प्रभाव पडा। गुरु नानक भी कबीर की भाति ही एक व्यावहारिक रहस्यवादी सत थे। वे हिन्दू तथा इस्लाम धर्म को ईश्वरोपासना के दो मार्ग मानते थे। वे हृदय-हृदय मे व्याप्त ईश्वर की खोज का उपदेश देते थे। वे सच्चे पुरुषार्थी गृहस्थ को विरक्त साधु से श्रेष्ठ मानते थे। कबीर और नानक ये दोनो महात्मा गृहस्थ थे, दोनो के परिवार थे। सन् १६०४ मे सिक्खो के पाचवे गुरु अर्जुन ने सत गुरुओ की वाणी का 'आदि' ग्रन्थ नाम से सकलन किया तो उसमे अनेक वैष्णव सतो के पद भी सम्मिलित कर लिये। नामदेव, तुकाराम, रामानन्द, कबीर, रविदास या रैदास आदि महात्माओ के साखी और पद उक्त आदि-ग्रन्थ में सकलित हैं। इसमे कबीर के पदो का बाहुल्य है। कबीर की वाणी का प्रभाव देशव्यापी माना जा सकता है। नानक की भाति ही एक दूसरे महात्मा दादू हुये, जिन्होने कबीर के धार्मिक दृष्टिकोण को अविकल भाव से ग्रहण कर लिया। दादू अहमदाबाद के एक रुई धुनने वाले मुसलमान के पुत्र थे।[२] महात्मा दादूदयाल प्राय राजस्थान मे विचरण करते रहे तथा वहा की असख्य जनता का विश्वास दादू के सिद्धान्तो मे स्थिर हो गया। दादू को कबीरपथी गुरु-परम्परा मे छठा गुरु माना जाता है। क्रम इस प्रकार है १ – कबीर, २ – कमाल, ३ – जमाल, ४ – विमल, ५ – बुड्ढन, ६ – दादू। दादू जी रामजप का उपदेश करते थे। वे वेदान्त के राम को स्वीकार करते थे। मदिर और मूर्ति पर उनकी तनिक भी आस्था नही थी। मारवाड, जयपुर, अजमेर आदि प्रदेशो मे दादूपथी सबसे अधिक पाये जाते हैं। महात्मा रज्जबदास इन्ही सत के शिष्य थे। महात्मा दादू के आदेश से महात्मा रज्जव ने 'सर्वंगी' नाम की कृति मे प्राय. अपने युग तक के सभी महात्माओ की वाणियो का सकलन किया था। हो सकता है कि 'सर्वंगी'

---

1 'Sufism indeed was quite familiar to fifteenth century India and Kabir must often have come in contact with wandering Sufis Its strange mixture of unorthodox Islam, Advaita Vedant, Arab Mysticism, Persian Romanticism, Greek Neo-Platonism, Nestorian Christianity and intense Bhakti for the form less God attracted personalities like his which recognised no Geographical boundaries and refused to be fettered by dogma or creed.' Cultural Unity of India, p. 51

२ दादू को मुसलमान-पुत्र न मान कर दादूपथी ब्राह्मण-पुत्र मानते हैं।

से प्रभावित हो कर गुरु अर्जुन ने उसी शैली मे 'आदि-ग्रन्थ' का सकलन किया हो ।[1]

(ग) सतो की दीक्षा-परिपाटी :—

सतो की दीक्षा-परिपाटी तथा उनकी विभिन्न आचार पद्धतियो का विवेचन करने के पूर्व सत शब्द पर विचार कर लेना समीचीन होगा । 'उत्तरी भारत की सतपरम्परा' की भूमिका मे प० परशुराम चतुर्वेदी ने सत शब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ विस्तार से विचार किया है । उन्होने 'सत' शब्द की व्याख्या करने वाले तथा 'सत' के लक्षणो का निर्देश करने वाले कालिदास, व्यास, भर्तृहरि, छादोग्य उपनिषद्, ऋग्वेद, तैत्तिरीयोपनिषद, इधर सतो मे कबीरदास, गरीबदास, पल्टू साहब, गोस्वामी तुलसीदास तथा बौद्ध भिक्षुओं आदि के कतिपय मतो का स्मरण किया है । इसी प्रसग मे अग्रेजो के सेट (Saint) शब्द पर भी चतुर्वेदीजी ने विचार किया है। परन्तु सत शब्द की व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति तथा व्यावहारिक जगत् मे सत द्वारा गृहीत आचार सहिता मे हमे किंचित् अतर नही लक्षित होता । सभी सतो और विद्वानो की 'सत' शब्द-सम्बन्धी व्याख्या का सार सर्वस्व यही है कि सत पवित्राचारी, पवित्रात्मा, सहिष्णु, अनुद्धत, विनम्र, परोपकारी एव करुणाशील होता है । सत के इन लक्षणो को दृष्टि मे रख कर हम प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को सत मान सकते हैं जो तपोमय एव त्यागमय जीवन व्यतीत करता है तथा समष्टि को ईश्वर-रूप मान कर अपने व्यष्टि का उसके लिये सदैव उत्सर्ग करने को तत्पर रहता है। सत-असत की व्याख्या जहा कबीर, नानक, पल्टू, दादू, रज्जबदास, सुन्दरदास प्रभृति निर्गुणोपासक सतो ने की वही सगुणोपासक वैष्णवो ने भी की है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो रामचरित मानस के कई स्थलो मे प्रकारान्तरो से सत-असत के लक्षणो का विस्तार से वर्णन किया है । यहा हम सत शब्द की लम्बी व्याख्या न प्रस्तुत कर के उसके अर्थ की व्यापकता को समेटना चाहेंगे, तभी सत-शब्द की सार्थकता यहा समुचित रूप से व्यक्त हो सकेगी । भाषा-विज्ञान भी किसी शब्द के अर्थ-विस्तार को समेट कर उसके सीमित मूल अर्थ-विन्दु पर सन्निविष्ट करने के पक्ष मे है ।

---

1 'A few years before, Guru Arjun compiled the sacred Scriptures of the Sikhs, Dadu, requested his disciples to gather songs and hymns from Hindu, Islamic and Sufi sources which could help the devotee in his search for the universal God This was perhaps the first collection of its kind in the world.'—Cultural Unity of India, p 52

इस तथ्य से सभी विद्वान् परिचित है कि सत शब्द का साम्प्रदायिक सदर्भ मे प्रयोग सर्वप्रथम १३ वी तथा १४ वी शती मे प्रादुर्भूत होने वाले महाराष्ट्र के विट्ठल अथवा वारकरी सम्प्रदाय के महात्माओ ने किया। वारकरी सम्प्रदाय निर्गुणोपासक वैष्णव सतो का सम्प्रदाय था जिसके आदि प्रवर्तक सत ज्ञानेश्वर माने जाते हैं। इस वारकरी सम्प्रदाय की ईश्वर-सम्बन्धी आस्थाओ पर काश्मीर के शैव सम्प्रदाय का प्रभाव निर्विवाद रूप से पडा था। यहाँ सम्प्रदायो की दार्शनिक पीठिका प्रस्तुत करना हमारा न तो उद्देश्य है और न आवश्यकता। हमे निर्णय यह करना है कि 'सत' का प्रयोग जब हम करते हैं तो महात्माओ की किसी सरणि अथवा धारा का बोध कराने के लिये, या किसी भी पथ अथवा सम्प्रदाय के महात्मा को हम सत कहेंगे ? डॉ० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल ने अपनी 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोइट्री' मे सत शब्द का जिस आशय मे प्रयोग किया है उससे स्पष्ट है कि वे केवल निर्गुण धारा के महात्माओ को सत शब्द से अभिहित करने के पक्ष मे हैं। इस निर्गुण और सगुण को ले कर भी अनेक धारणाये प्रचलित हैं। कुछ लोग कबीर को सगुणोपासक वैष्णव सत मानते है, कुछ उन्हे शुद्ध निर्गुणोपासक सत मानते हैं, और कुछ का यह विश्वास है कि कबीरदास निर्गुण-सगुण के सकीर्ण धरातल से बहुत ऊपर उठ गये थे। किन्तु यहा जब हम कबीर अथवा उनकी परम्परा के साधको का उल्लेख करेंगे तो शुद्ध निर्गुणोपासक सत के रूप मे ही।

यह हम ऊपर कह आये है कि सत शब्द का साम्प्रदायिक सदर्भ मे प्रयोग सर्वप्रथम वारकरी (विट्ठल, विठोबा) सम्प्रदाय मे किया गया। विट्ठलसम्प्रदाय के सभी अनुयायी सत माने जाते थे। यह सर्व-ज्ञात है कि विट्ठलसम्प्रदाय शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के उपासना-मार्ग का अवलम्बी है। विट्ठलसम्प्रदाय के आदि प्रवर्तक सत ज्ञानेश्वर के समर्थ शिष्य सत नामदेव हो चुके हैं जिनका उल्लेख कबीर ने अपनी कृतियो मे सादर भाव से बारम्बार किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि कबीर की निर्गुण ब्रह्म की भावना पर जहा अनेक साधना-पथियो तथा देशी-विदेशी सतो का प्रभाव पडा है वहा वारकरी सम्प्रदाय एव नामदेव की साधना का प्रभाव भी कबीर पर किसी प्रकार कम नही है। इस प्रकार हम मान सकते है कि सत-असत-सम्बन्धी विश्लेषण मे भी कबीर इसी निर्गुणोपासक वारकरीसम्प्रदाय से प्रभावित हुए होगे। इस स्थिति मे हमे यह स्वीकार करने मे कोई बाधा नही प्रतीत होती कि वस्तुत निर्गुण सम्प्रदाय के साधुओ के लिए ही सत शब्द का प्रयोग उपयुक्त होगा। इधर जब हम हिन्दी भाषा मे अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करने वाले निर्गुणोपासक महात्माओ पर ध्यानपूर्वक विचार करेंगे तो उनकी परम्परा का मूल उद्गम हमे कबीर में ही प्राप्त होगा, तब हम

यदि सत शब्द का प्रयोग केवल कबीर की परम्परा के साधुओ के लिये करें तो नितान्त उपयुक्त होगा। यद्यपि हमने जहा भारत के साधना-पथो एव सम्प्रदायो का उल्लेख किया है वहा शैव, वैष्णव, शाक्त, निर्गुण, सगुण सभी प्रकार के उपासना के मार्गो का स्मरण किया है। इस दृष्टि से हमें सतो की परिपाटी का विवेचन करने में निर्गुण-सगुण दोनो शाखाओ की आचार-पद्धतियो का विश्लेषण करना चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि हमने जहां विभिन्न साधना-मार्गों का उल्लेख किया है वहा हमारा प्रयोजन केवल सूत्र-रूप में समस्त मार्गो की साधना का एक समग्र अविकल चित्र प्रस्तुत करना था, उनकी सविस्तार व्याख्या अथवा उनके सिद्धान्तो का व्यापक विवेचन नही। किन्तु यहा यदि हम सगुण और निर्गुण दोनो शाखाओ की आचार-प्रणालियो का विवेचन करेंगे तो निश्चित ही हम न तो अपने विषय के साथ सच्ची सहानुभूति दिखा सकेंगे और न सत-साधना के साथ ही न्याय कर सकेंगे। अत हम अपने विवेचन मे यहा केवल निर्गुण सत-परम्परा की धारा को आचार-पद्धतियो को बाँधने का प्रयास करेंगे।

रज्जबजी के युग मे प्रचलित नाना धर्म-साधना-सम्प्रदायो एव पथो के अनुयायी सतो द्वारा कुछ साम्प्रदायिक आचार-परिपाटिया निर्धारित की गई थी। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त, नाथ प्रभृति सम्प्रदायो एव पथो मे साधक के लिये आवश्यक आचारो तथा कर्मकाण्ड पर सम्प्रदायो की ओर से ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इतना ही नही भक्त अथवा साधक की वेशभूषा, वस्त्र-सज्जा आदि का निर्धारण भी हो चुका था। परन्तु सतसाधना की जिन आचार-परिपाटियो पर हम यहा विचार करना चाहते है, उनमे प्रायः वाह्य सज्जा एव धार्मिक कर्मकाण्ड का खडन किया गया। हम कह आये हैं कि सत-परम्परा से हमारा प्रयोजन उस निर्गुण सतधारा से है जिसका उन्मेष कबीर से हुआ। उसे सत साधना के जिन प्रमुख प्रवर्तको से गति एव शक्ति प्राप्त हुई वे कबीर, रविदास, नानक और दादू थे। यहा हम तीन महात्माओ द्वारा प्रतिपादित शरीर-सज्जा, आचार एव कर्मकाण्ड-सम्वन्धी दृष्टिकोण पर विचार करेगे।

रविदास—सत रविदास अथवा रैदास की उपासना की दार्शनिक पीठिका की चर्चा यहां पर विशेष रूप से न कर के केवल इतना कह कर समाप्त करेगे कि 'ब्रह्म अथवा आत्मा' के परस्पर सम्बन्ध के विषय मे सत रविदास शकर के अद्वैतवाद के अनुयायी थे। अद्वैत वेदान्त के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म शरीर के साथ माया से प्रभावित जो आत्मा है उसका दूसरा नाम जीव है। आत्मा और ब्रह्म एक ही है, दोनो में न कोई अतर है और न किसी प्रकार दोनो को अलग ही

किया जा सकता है। दोनो अभिन्न हैं। ब्रह्म माया से परे होने के कारण ईश्वर कहलाता है। आत्मा उसी का अश अथवा प्रतिबिम्ब है। इसी मत का अनुसरण करते हुए सत रविदास भी आत्मा को ब्रह्म से अलग नही मानते। दोनो मे भेद मानना उनके विचार से एक सासारिक भ्रम है जिसकी उत्पत्ति माया द्वारा होती है। यहा पर रविदास ने अद्वैत दर्शन को अपनी भाषा मे सहज एव छोटी-छोटी जाति के लोगो के लिए सुगम बना दिया। वे स्वय चमार जाति के थे। हम रविदास और कबीरदास के दार्शनिक दृष्टिकोण मे कोई मौलिक अतर नही मानते। कबीर ब्रह्म की व्यापकता मे आत्मा का अस्तित्व 'जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल हैं, बाहर भीतर पानी, फूट कुम्भ जल जलहि समाना' कह कर बता रहे थे तथा सत रविदास 'सलिल गवन कियो लहर महोदधि जल केवल जल माही' कह कर आत्मा-परमात्मा के अविच्छेद्य सम्बन्ध का परिचय दे रहे थे। मिथ्या-डम्बरी धर्म पर रविदास की आस्था नही थी।

कबीर—कबीर की दृष्टि मे पौराणिक हिन्दू धर्मोपासना, मिथ्याडम्बरो के क्लेशकर बन्धनो मे जकड गई थी। वे ऐसा अनुभव कर रहे थे कि स्वर्ग-नरक की निराधार प्रेरणाओ एव वर्जनाओ के कठोर नियत्रण मे सच्चे धर्म की आत्मा सिसक रही थी। विधि-निषेधो के मिथ्या तुग स्तूपो के शिखरो को छूने का मानव-हृदय बारम्बार प्रयत्न कर रहा था किन्तु वह विवश होकर बैठ जाता था। धर्म की वेदी को रूढियो ने ऐसा आच्छादित कर लिया था कि अब वहा मानव-हृदय का श्रद्धा-सम्वलित-भाव घोर अविश्वास और अशान्ति का अनुभव कर रहा था। कबीर ने बाह्याचारो, धर्मरूढियो, अधविश्वासो के मिथ्या स्तूपो को अपनी वाणी के वज्र-प्रहार से ढहाने का भरसक प्रयास किया। उनका यह प्रयास निश्चय ही बहुत परिणामकारी सिद्ध हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुन्दर शब्दो मे कहा है—'बाह्याचार-बहुल शुष्क साधना की भूमि मे कबीर खडे थे, सहज ही गल जाने वाले जीव नही थे।' कबीर ने जिन बाह्याचारो का निराकरण करना चाहा वे प्रधानत ५ श्रेणियो मे विभक्त किये जा सकते हैं। १ जाति-पाति[1] २ मूर्तिपूजा ३ ग्रन्थ-ज्ञान ४ व्रत-पूजा

---

१ सतन जात न पूछो निरगुनिया।
साध ब्राम्हन साध छतरी साधै जाती बनिया।।
साधन मा छत्तीस कौम है, टेढी तोर पुछनिया।
साधै नाऊ साधै धोबी, साधै जाति है बरिया।।
साधन मा रैदास सत हैं, सुपच ऋषि सो मगिया।
हिन्दू तुरक दुई तीन बने हैं, कछु नाहीं पहिचनिया।।

तीर्थ स्थान, ५–साधक की वाह्य सज्जा।[1] धर्म के जिन साधनो को अपनाने पर कबीरदासजी का विशेष आग्रह था वे थे . १–सद्गुरु की खोज, २–पक्षातीत सहज साधना, ३–मन का निग्रह, ४–ग्रन्थ तथा सम्प्रदाय विनिर्मुक्त भक्ति, ५–एक ब्रह्म की उपासना। कबीर के इन पाच विधिमूलक निर्देशो के प्रमाणभूत पद हम नीचे दे रहे हैं।[2] कबीर मानवता के अखड धर्म के पक्षपाती थे। वे मानवता

---

१ मन ना रगाये रगाये जोगी कपरा।
आसन मारि मदिर मे बैठे, ब्रह्म छाडि पूजन लगे पथरा ॥
कनवा फडाय जोगी जटवा बढौले, दाढी वढाय जोगी होइ गैले बकरा।
जगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होइ गैले हिजरा ॥
मथवा मुडाय जोगी कपडा रगौले, गीता बाचि के होइ गैले लबरा।
कहहि कबीर सुनो भई साधो, जम दरवजवा बाधल जैबे पकरा ॥
(डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'कबीर' पुस्तक के अत मे दिये गये पदो से)

२ साधो सो सतगुरु मोहि भावै।
सत्त प्रेम का भर भर प्याला आप पिवै मोहि प्यावै ॥
परदा दूर करै आंखिन का ब्रह्म दरस दिखलावै ॥
जिस दरस मे सब लोक दरसै अनहद सब्द सुनावै ॥
एकहि सब सुख दुख दिखलावै सब्द मे सुरत समावै ॥
कहै कबीर ताको भय नाही निर्भय पद परसावै ॥
पछा पच्छी के कारनै, सब जग रहा भुलान।
निरपछ ह्वै कै हरि भजै, साधू सत सुजान ॥

तथा

सतो सहज समाधि भली।
साईं ते मिलन भयो जा दिन ते सुरत न अत चली ॥
आख न मूदू कान न रूधू काया कष्ट न धारू।
खुले नयन मैं हस हस देखू सुन्दर रूप निहारू ॥
कहू सो नाम सुनू सो सुमिरन जो कछु करू सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखू भाव मिटाऊ दूजा ॥
जह जह जाऊ सोइ परिकरमा जो कछु करो सो सेवा।
जब सोऊ तब करू दडवत पूजू और न देवा ॥
सब्द निरतर मनुवा राता मलिन वचन का त्यागी।
ऊठत बैठत कबहु न बिसरै ऐसी तारी लागी ॥
कहै कबीर या उन्मनि रहनि सो परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परम सुख तेहि मे रहा समाई ॥
मैमन्ता मन मारि रे, नान्हा करि करि पीस।
तब सुख पावै सुन्दरी, ब्रह्म झलक्कै सीस ॥

को नाना सम्प्रदायो और पथो मे विभक्त करने के पक्ष मे नही थे। कवीर विष्णु-उपासक रामानन्द के शिष्य थे, इसीलिये कवीरपथी वैष्णवसम्प्रदाय की नाना उपासना-शाखाओ के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते थे। यद्यपि कवीरपथी हिन्दू देवी-देवताओ की पूजा कभी नही करते थे और न उनके धार्मिक कर्म-काण्ड पर ही आस्था रखते थे, कही-कही ऐसे भी कवीरपथी पाये जाते हैं ,जो अपनी मूल जाति अथवा वर्ग की धार्मिक परम्पराओ को भी मानते हैं, किन्तु जिन्होने सामाजिक मर्यादाओ का परित्याग कर दिया है, वे सामान्य सामाजिक रीतियो के पालने से पराङ्मुख रहते हैं। वे अपने स्तुति और आराधना के पदो मे भी अदृश्य कवीर को ही सम्बोधित करते हैं। न तो वे कोई मत्र पढते हैं और न प्रणाम की ही कोई निर्धारित पद्धति मानते है, न उनकी सम्प्रदाय-मान्य वस्त्र-सज्जा है, कुछ तो सर्वथा नग्न रहते है, परन्तु यदि कही वस्त्र धारण करना शिष्टाचारवश आवश्यक हो तो उन्हे वस्त्र पहनने मे कोई आपत्ति भी नही। कवीरपथ के महन्त एक छोटी सी टोपी सिर पर धारण करते है। ललाट आदि मे कभी-कभी वैष्णवमुद्रायें अथवा पतला चन्दन का श्वेत तिलक धारण करते हैं। बाह्य वेशरचना के सम्बन्ध मे कवीरपरम्परा के सतो मे किसी विशेष सज्जा के प्रति आग्रह नही है।[1] कवीरपथ, दादूपथ और नानकपथ, इन तीनो पथो मे अन्त साधना पर ही विशेष बल दिया गया। वाहरी आडम्बर अथवा सज्जा की तो सतो द्वारा उलटे निन्दा की गयी। कबीर, दादू और नानक ने पद-पद पर वेश एव कर्म के बाह्याडम्बरो की भर्त्सना की। कवीर ने तो स्पष्ट कह दिया था 'मेरा एक निरजन अल्लाह है'। 'हिन्दू तुरक दहू' मेरा नही

1 'Those' however, who have abandoned the fetters of society, abstain from all the ordinary practices, and address their homage, chiefly in chanting Hymns, exclusively to the invisible Kabir they use no mantra nor fixed form of salutation, they have no peculiar mode of dress, and some of them go nearly naked without objecting however to clothe themselves in order to appear dressed, where clothing is considered decent or respectful the Mahant wear a small scull cap the frontal marks, if worn, are usually those of the Vaishnava sects, or they make a streak with Sandal, or Gopichandan along the ridge of the nose a necklace and rosary of Tulasi are also worn by them, but all these outword signs are considered of no importance, and the inward man is the only essential point to be attended to —The Religious Sects of the Hindus p 39

है । न तो मै 'व्रत राखू' और न 'महरम' जानता हू । जो 'निदाना' रहता है 'मैं तिसही सुमिरू ।' न मैं 'पूजा करू' न 'नमाज गुजारू', 'एक निराकार' को ही हृदय से नमस्कार करता हू । 'न हज जाऊ' न 'तीरथ पूजा करू'' । जब मैंने एक को 'पछाड' लिया तो 'दूजा क्या' है । अब तो मेरा 'सब भरम' भाग गया । 'एक निरंजन सू मन' लग गया है ।[१]

कबीर बहुरगी भौतिकता से बचने मे ही सच्ची साधना की सफलता मानते थे । यह रग-मुक्ति की प्रवृत्ति कबीरपथी साधुओ और गृहस्थो के परिधान (पोशाक) मे भी देखने को मिलती है । वे प्राय श्वेत वस्त्र धारण करते हैं । कुछ दिन पहले तक हाथ का कता और बुना वस्त्र ही पहनते थे । हिन्दू, मुसलिम, जुलाहे तथा कपडे का व्यापार करने वाले छोटी-छोटी जाति के लोगो मे कबीर-पथी अधिक सख्या मे पाये जाते हैं । सदाचार, सयम, इन्द्रियनिरोध, बाह्याडम्बर से मुक्त शुद्ध, पवित्र जीवन ही कबीरपथियो को अभीष्ट है । भारत मे जहा-जहा कबीर-मठ, कबीर-चौरे हैं, सर्वत्र कबीर के चित्र तथा उनकी कृतियो की प्रात सध्या आरती होती हैं । कबीर के पदो और साखियो का कही-कही सवाद्यगान भी होता है । कबीरपथी साधू कबीर के पदो का पाठो-पदेश करते हैं । आरती के अत मे कही घुटनों के बल झुक कर, कही-कही साष्टाग, चित्र एव रचना कृतियो को सभी उपस्थित कबीरपथी प्रणाम करते है । राम-राम, गुरु की दया, बदगी, दण्डवत् आदि शब्दो से प्रणाम करते हैं ।[२] लगभग यही पद्धति दादूपथियों के दादूद्वारो मे भी देखने को मिलती है । दादू-पथी महात्मा गैरिक एव श्वेत दोनो प्रकार के वस्त्र पहनते हुए पाये जाते हैं । परन्तु उनकी गैरिक वस्त्र-सज्जा के पीछे कोई साम्प्रदायिकता का भाव नही रहता । वस्त्र जल्दी मलिन न हो, स्यात् इसीलिये वे रगे वस्त्र धारण कर लेते है, कभी श्वेत वस्त्र । किसी वेश का आग्रह नही करते हैं । 'सत्यराम' का सम्बोधन इस सम्प्रदाय मे प्रचलित है । कबीरदास की इस पथ मे बडी प्रतिष्ठा है । दादूद्वारो मे अन्य अनेक निर्गुण सतो के पदो, साखियो का पाठ समान्यत होता रहता है,

---

१ कबीर-ग्रथावली, पद ३३८ ।

2 ' that they should reply as they are addressed, wheather the phrases be Bandagi, Dandavat, or Ram Ram the proper salutation of an inferior to a superior amongst them, if any be particularly proper, is Bandagi Sahib, Service, Sir to which the latter replies, Guru-ki-Daya, the mercy of the Lord be upon you'

—The Religious sects of Hindus Foot note p 40

परतु दादू और कबीर के पदो का विशिष्ट महत्त्व समझा जाता है। 'दादू-वानी' की आरती दोनो समय दादूद्वारो मे होती है। दादूपथी सत दादू-वानी, कबीर-वानी तथा ग्रथसाहिब का दादूद्वारो मे पाठ करते रहते हैं। ये लोग प्रात और सध्या की गोष्ठी को 'सत्सग' कहते हैं तथा यदि कोई दादूपथी सत अपने शिष्य के यहा जाता है तो उसे 'रामत' कहते हैं। कबीरपथियो मे तो कही-कही छोटी जाति के लोग छोटे दानो की कण्ठी कण्ठ मे धारण करते है, कही-कही कण्ठी मे एक ही बडा दाना होता है। कबीरपथी साधुओ की अपेक्षा दादू-पथी तथा नानकपथी महात्मा देश-प्रदेश मे परिभ्रमण अधिक करते रहते हैं। इन दोनो पथो के साधको का प्राय सारा जीवन यात्रा मे ही बीतता है।

गुरु नानक—

गुरु नानक देव के सम्बन्ध मे यह प्रख्यात है कि वे अपनी यात्रा के अवसर पर अपने शिर पर मुसलमान कलन्दरो या सन्यासियो की टोपी या पगडी धारण करते थे, अपने ललाट पर हिन्दुओ की भाति केशर का तिलक लगाते थे और गले मे हड्डियो के मनको की माला डाल देते थे। इनके शरीर पर इसी प्रकार की एक लाल या नारगी रग की जाकेट रहा करती थी जिस पर ये एक सफेद चादर डाले रहते थे। इनकी वेश-भूषा से लोगो को सहसा पता न लगता था कि इन्हे किस धर्म या सम्प्रदाय मे दीक्षित समझे, इन्हे हिन्दू माने अथवा मुसलमान।[1] आगे चल कर नानक पथ ७ शाखाओ मे विभक्त हो गया। प्रत्येक शाखा के अनुयायी अपनी शाखा का उद्गम अथवा मूल प्रवर्तक गुरु नानक को ही मानते थे। यद्यपि इन सातो शाखाओ के समस्त अनुयायी गुरु नानक के सिद्धान्तो पर ही आस्था रखते थे, किन्तु व्यवहार एव क्रिया का पक्ष सबका भिन्न था।[2] पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी 'उत्तरी भारत की सत-परम्परा' पुस्तक मे नानकशाही पथ की नौ शाखाओ का उल्लेख किया है।[3]

---

१ उत्तरी भारत की सत-परम्परा, ले० प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २९३-९४।

2 'The Sikhs, or Nanak Shahis are classed under seven distinctions, all recognising Nanak as their primitive instructor, and all professing to follow his doctrines, but seperated from each other by variations of practice, or by a distinct and peculiar teacher

—The Religious Sects of the Hindus P 149

३ १–उदासी सम्प्रदाय, २–निर्मला सम्प्रदाय, ३–नागधारी सम्प्रदाय, ४–सुथराशाही सम्प्रदाय, ५–रैयासदी, ६–अकाली सम्प्रदाय, ७–भगतपथी, ८–गुलाबदासी, ९–निरकारी सम्प्रदाय। (उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० वही)

विलसन महोदय ने इन सम्प्रदायो की सख्या सात ही मानी है ।[1]

नानकपथी साधना भी मनोनिग्रह, सदाचार, अत करण की पवित्रता और प्रेमभाव पर ही प्रधानत केन्द्रित थी। बाह्य सज्जा तथा बाह्याचार के लिये इस साधना मे भी कोई स्थान नही था। यद्यपि पथ की अनेक शाखाओ-प्रशाखाओ मे आगे चल कर बाह्य आडवर ने धीरे-धीरे अपना स्थान जमा लिया, परन्तु पथसाधना के मूल उत्स का निष्क्रमण विन्दु धर्म की अतर्मुखी सूक्ष्म साधना ही थी। सिखधर्म के गुरुओ का उद्देश्य धर्म को आदर्श की जडता से पगु बनाना नही था। धर्म सामान्य लोकोपयोगी बन सके, तथा लोक-परलोक दोनो मे वह मगलप्रद हो—इस पर गुरुओ का विशेष ध्यान था। वस्तुत वह एक व्यावहारिक धर्म रहा जिसका पूर्ण अनुसरण समाज मे रह कर ही किया जा सकता था। गुरु नानक ने जाति-पाति की सीमाओ से बाहर आ कर धर्म को सर्व वर्ण-सुलभ तथा सर्व वर्ण-ग्राह्य बनाने की चेष्टा की। गुरु नानक वर्ण-भेद-मुक्त स्थिति मे मानव के सामाजिक विकास के लिये अधिक अवकाश देखते थे। 'इस धर्म के अनुसार आदर्श व्यक्ति वही हो सकता है जिसमे ब्राह्मणो की आध्यात्मिकता, क्षत्रियो की आत्मरक्षा-भावना, वैश्यो की व्यवहार-कुशलता एव शूद्रो की लोक-सेवा एक साथ वर्तमान हो और इसी कारण जो आत्म-चिन्तन से लेकर कठिन से कठिन सासारिक उलझनो मे भी एक समान अविचलित व निर्द्वन्द्व रह सके।'[2] कुछ विदेशी विद्वान् गुरु नानकदेव के सम्बन्ध मे परस्पर विरोधी विचार व्यक्त करते हैं। कोई उन्हें हिन्दू मान कर चलना चाहते हैं, कोई इस्लाम धर्मावलम्बी मानने के पक्ष में हैं, परन्तु गुरु नानक के हृदय मे कबीर की भाति ही वर्ग, पथ, सम्प्रदाय, वर्ण अथवा जाति का आग्रह नही था। हा, यदि गुरु नानक ने कही मुसलमानो के विरुद्ध बाणी मे कभी कुछ कहा तो वह केवल मुसलमानो का हिन्दुओ के प्रति नृशस क्रूर अत्याचार देख कर और यदि हिन्दुओ को उन्होने कभी कुछ फटकार बताई तो वह केवल उनके धर्माडम्बर और विवेकहीन कर्मकाण्ड को देख कर। नानकपथ अनेक शाखाओ मे फैल गया, किन्तु सिद्धान्तो के विशिष्ट अतर उनमे नही लक्षित हुये। सिखधर्म के विकास का उत्तरार्द्ध मुसलमानो के अत्याचारो के प्रतिरोध मे खडा है। धर्म के इसी भाव से अनुप्राणित होकर अनेक बार सिखो ने मुसलमानो से युद्ध किया।

---

1 The Religious Sects of the Hindus pp 151-153
१—उदासी, २—गजबख्शी, ३—रामराई, ४—सुथराशाही ५—गोविंदसिंही, ६—निर्मला ७—नागा।

२ उत्तरी भारत की सत परम्परा, ले० प० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३३९।

मराठी संत—

मुसलमानों की नृशंसता एव भारतीय सस्कृति-विरोधी इस्लामी कार्यकलाप का प्रतिरोध करने का उपदेश महाराष्ट्र के सतो ने भी दिया। महाराष्ट्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने मे एक बात का पता चलता है कि मराठी सत-साधना मे आध्यात्मिकता और सामाजिकता दोनो का समाहार हुआ है। महाराष्ट्र का सामाजिक इतिहास और वहा के सतों का काव्य-साहित्य बराबर समानान्तर गति से आगे बढता रहा। मुकुन्दराज, महात्मा चक्रधर, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, समर्थ गुरु रामदास प्रभृति सतो ने सच्ची समाज-परायणता तथा निस्पृह वैराग्य का उपदेश दिया। इन सतो में एकनाथ, तुकाराम तथा रामदास ने मुसलमानो की नृशसता एव अत्याचार को रोकने के लिए अपने सदुपदेशो द्वारा वीरो के निराश हृदयों मे प्राण-चेतना उत्पन्न कर दी। १३वीं शताब्दी तथा १७वी शताब्दी के मध्य मे इन सतो ने सर्वव्यापी निराकार राम की उपासना का उपदेश मराठी भाषा मे किया। यदि कहें तो कह सकते हैं कि महाराष्ट्र के उन संतो की साधना तथा मराठी भाषा की रूप-रचना का इतिहास एक साथ प्रारम्भ होता है। मराठी भाषा की समृद्धि इन्ही सतो की वाणी ने की।

मराठी सन्तो में सन्त ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के द्वारा 'विट्ठल वारकरी' सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ। तभी विठोबा-भक्त वारकरी सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने जाते हैं। कुछ विद्वान् सत नामदेव को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानते हैं[1] और कुछ सत ज्ञानेश्वर को।[2] वारकरी सम्प्रदाय एक प्रकार का स्मार्त सम्प्रदाय है जिसमे पच देवो की पूजा का विधान है। परमात्मा को निर्गुण ब्रह्म मानते हुये तथा अद्वैतवाद के समर्थक होते हुये भी इस सम्प्रदाय के उपासक भक्तिसाधना को उत्कृष्ट मानते हैं। कीर्तन करना तथा पंढरपुर के मदिर की परिक्रमा करना इस सम्प्रदाय की उपासना का प्रमुख ध्येय है। प्रत्येक पक्ष की एकादशी को वे पढरपुर जाते और विट्ठल का दर्शन करते। कम से कम आषाढ और कार्तिक की एकादशी को वारी या पारी करना आवश्यक था। अत. इन

---

१ "वारकरी सम्प्रदाय आज भी महाराष्ट्र मे है। इसके प्रवर्तक नामदेव दर्जी थे।" —मराठी सतो का सामाजिक कार्य, ले० डॉ० विष्णुभिकाजी कोलटे, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई—४, पृ० ४२—४३।

२ उत्तरी भारत की संत परम्परा, जिसके प्रवर्तको मे सर्वश्रेष्ठ ज्ञानदेव व ज्ञानेश्वर (स० १३३८-५२) माने जाते हैं पृ० ८३।

सब विट्ठल महात्माओ को जनता 'वारकारी' कहने लगी।[1] वारकरी सम्प्रदाय प्राचीन मान्यताओ के सम्बन्ध मे मध्यमार्गी दृष्टिकोण रखता है। मूर्तिपूजा आदि इस सम्प्रदाय में विधि विहित मानी जाती है। किन्तु भारत के दक्षिण पश्चिम मे कुछ सुधारवादी शैव सतो ने जो वीर शैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे—प्रतिमापूजा, जातीयता, तीर्थ-यात्रा, बलि आदि का घोर खण्डन किया। लिंगायत सम्प्रदाय के महात्माओ ने १२वी शताब्दी मे अनेक गीत कन्नड भाषा मे लिखे।

(घ) नव-दीक्षित सतो के प्रति समाज की भावना

सत एव महात्मा प्रत्येक युग और समाज की आध्यात्मिक सम्पत्ति होते हैं। अध्यात्म देश-काल की सीमाओ का उलघन कर युगानुगत सामाजिक भाव को पावन करता रहता है। पवित्रात्मा सतो का आचरण अध्यात्म का अमर स्रोत है। सतो के आचार-व्यवहार मे, उनकी साधना और तप मे हमे अध्यात्म की शक्ति का दर्शन होता है और समाज तदनुसार आचरण ग्रहण करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। सच्चे महात्माओ के प्रति समाज सर्वदा प्रणत एव श्रद्धालु रहता है। जन-जन के हृदय मे महात्माओ के प्रति नैष्ठिक पूजा-भाव व्याप्त रहता है। हा, यह ठीक है कि सभी महात्माओ के प्रति श्रद्धा का एक स्तर नही होता। साधना की कोटियाँ होती हैं, फलत. महात्माओ की भी कोटियाँ होती हैं। प्रत्येक कोटि के महात्माओ के प्रति एक-सी श्रद्धा-भावना नही होती। इसी प्रसग मे यह भी सकेत कर देना उचित होगा कि प्रत्येक सत की साधना और तप की क्षमता एक सी नही हो सकती। प्रत्येक मनुष्य के शारीरिक एव मानसिक सामर्थ्य के भिन्न-भिन्न स्तर हैं। साधना के स्तर-निर्माण मे मनोबल और शरीरबल दोनो का ही योग रहता है। साधनावस्था मे शारीरिक एव मानसिक दोनो प्रकार के कष्ट झेलने पडते हैं। मनोबल शरीरबल को बहुत दूर तक सहायता पहुँचाता है, किन्तु शरीर यदि पूर्णत. निर्बल है तो कठोर तप अथवा कठिन सयम किसी प्रकार सम्भव नही हो सकता। जो महात्मा जितना ही अधिक तपोनिष्ठ तथा लोकोपकारी है उसके प्रति उतना ही अधिक समाज का पूजा-भाव होगा।

ऐसी दशा मे प्रश्न यह उठता है कि रज्जबजी के युग मे नवदीक्षित सतो के प्रति समाज का क्या भाव था। यो, उस युग के नव-दीक्षित सतो के प्रति समाज की भावना का कोई प्रमाण-पुष्ट लेखा प्रस्तुत करना यहाँ सभव नही,

---

१ मराठी सतो का सामाजिक कार्य, पृ० ४२।

और न ही यहाँ उसकी विशेप उपयोगिता है—तथापि हम इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि नव-दीक्षित सतो के प्रति न केवल रज्जवजी के युग मे प्रत्युत् प्रत्येक युग मे समाज की भावना का कोई विशेप रूप नही होता। समाज का जो भाव किसी विशिष्ट महात्मा के प्रति होता है, हम नही कह सकते कि वही भाव उसके नव-दीक्षित शिष्यो के प्रति भी होता है। विशिष्ट महात्माओ के ससर्ग से उनके शिष्यो के प्रति भी समाज की आदर-बुद्धि रहती है। इसका कारण यह है कि नव-दीक्षित सतो अथवा उनकी साधना का कोई व्यक्तित्व नही होता, इसीलिये उनके प्रति समाज को भावना का भो कोई विशिष्ट समग्र रूप नही आ पाता। दोनो पक्षो मे निर्विशेषता रहतो है।

स्पष्टीकरण के लिये उदाहरण ले लें। रविदास, नानक, दादू, नामदेव जैसे विशिष्ट महात्माओ के अनेकानेक शिष्य हुए परन्तु उनके नव-दीक्षित सतो मे वहुतो के नाम तक समाज को विदित नही थे। फिर भी उन सभी के प्रति समाज का सद्भाव था, इस सद्भाव का सूत्र भी विशिष्ट महात्माओ की साधना से ही आवद्ध था। कहने का आशय यह है कि गुरु-महात्माओ के प्रति समाज का जो श्रद्धा-भाव होता था वह शिष्य-साधको के प्रति भी हो जाता था। कभी-कभी ऐसा भो होता था कि नव-दीक्षित सतो मे कतिपय सत अपनी विशेप साधना से उच्च भूमिका मे पहुच जाते और स्वय सिद्ध-महात्मा की कोटि प्राप्त कर लेते थे। ऐसे नव-दीक्षित महात्माओ को समाज पूरी प्रतिष्ठा देता था। दादूजी के शिष्य रज्जव, छोटे सुन्दरदास, निश्चलदास प्रभृति ऐसे ही महात्मा थे। विशिष्ट महात्माओ के साथ विचरण करने वाले नव-दीक्षित सतो को समाज पूरा आदर देता था, परन्तु यह आदर वस्तुत उन विशिष्ट महात्माओ के कारण ही होता था जिनके वे शिष्य होते थे। अपने आराध्य अथवा पूज्य से सम्वन्धित सभी व्यक्तियो एव वस्तुओ के प्रति आदर-वुद्धि का होना स्वाभाविक है। रज्जवजी के युग मे नव-दीक्षित सतो के प्रति समाज की भावना इसी स्थिति मे थी। महात्मा रविदास, दादूदयाल, हरिदास निरजनी आदि के साथ जहाँ भी उनके शिष्य जाते थे वहाँ सामान्य लोगो के द्वारा गुरु के प्रति अर्पित की गई पूजा-सामग्री एव पूजा-भाव के भागीदार समस्त शिष्य भी होते थे। यहाँ विशिष्ट महात्माओ का आध्यात्मिक ऐश्वर्य ही प्रधान होता था। शिष्यजन तो अपने गुरु के माहात्म्य का फल भोगते थे। इन शिष्यो के प्रति समाज का कोई अलग से स्वतत्र भाव नही होता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रज्जवजी के युग मे एक ओर मुसलमान शासको द्वारा इस्लाम धर्म की प्रतिष्ठापना के लिये प्रयत्न चल रहा था, दूसरी

और भारत की हिन्दू जनता अपनी आस्थाओ एव धार्मिक विश्वासो मे अडिग थी। एक ओर ब्राह्मणो द्वारा धर्म के पतित रूप का प्रतिपादन हो रहा था, दूसरी ओर विवेकी निर्गुण धारा के सतो द्वारा धर्म के अपरूप का मूलोच्छेद करने वाली पावन गिरा सचेष्ट थी। एक ओर सगुणोपासक वैष्णव ब्रह्म के अवतारवाद की प्रतिष्ठा कर रहे थे, दूसरी ओर निर्गुणी वैष्णवो द्वारा एक निराकार ब्रह्म का मडन किया जा रहा था। वैष्णव, शैव, शाक्तो, कबीर पथियों, नानक पथियो, दादू पथियो, रविदासियो, मलूकदासियो, प्रभृति सम्प्रदायो एव पथो मे उपासना की दृष्टि से नाना शाखाये-प्रशाखायें उद्भूत हो गई थी। इन सम्प्रदायों और पथो के नव-दीक्षित सतो के प्रति सामान्यत. समाज अतिशय आस्थावान् था। पंथ के प्रमुख प्रवर्तको मे उपासनागत विरोध एव विवाद भले ही चलते हो, किन्तु नव-दीक्षित सतो को इन विरोधो एव विवादो में पडने के लिये न तो अवकाश ही था और न आवश्यकता। वे अपनी प्रारम्भिक धर्म-साधना की सफलता के लिये एकाग्र भाव से दत्तचित्त रहते थे। इस्लामी सूफी संतो का महत्त्व रज्जबजी के समय के बहुत पहले स्थापित हो चुका था। सूफियो का विश्वात्मभावमूलक वर्ग-जाति-मुक्त सहज दर्शन सभी निर्गुणोपासक सतो पर अपना अमोघ प्रभाव डाल चुका था। यह है उस युग के भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति जिसे हम महात्मा रज्जब के अवतरण की पूर्व-पीठिका मान सकते हैं।



अध्याय ३

दादू के सिद्धान्तो का सामान्य परिचय

(क) दादू-सम्प्रदाय का आविर्भाव, (ख) दादू के सिद्धान्त (ग) दादू-पथ और रज्जवजी ।

सिद्धिलब्ध महात्माओ तथा महापुरुषो की जीवन-निर्माण-प्रक्रिया की कहानी अतिशय विलक्षण एव मनोरजक देखी गई है । जीवन के सामान्य धरातल से मुड कर साधना की उच्चभूमि पर आरोहण करने वाले प्रत्येक महात्मा की जीवन-चर्या की पृष्ठभूमि अतीव कुतूहलपूर्ण एव विस्मयकारिणी है। सामान्य धरातल एव साधनाभूमि का मध्यवर्ती मोड ही महात्माओ की समस्त साधनागत उपलब्धियो का मूलाधार है और इस मध्यवर्ती मोड का आधार-पीठ है वह दैवयोग जिसकी व्याख्या करने मे छिछले तर्क-वितर्क तथा पदार्थ-सीमित विज्ञान अविरत उद्योग करने पर भी असफल रहे । ६ वर्ष के बालक को सम्पूर्ण शास्त्रो मे कैसे गति प्राप्त हुई,[1] अग्नि-प्रवेश करने पर भी शरीर पर आँच न आई, गिरि-शृगो से गिरने पर भी किसी अवयव को किंचित् आघात न लगा,[2] नेत्र-विहीन होने पर भी ससार का स्थूल-सूक्ष्म कैसे प्रत्यक्ष होता रहा,[3] मृत किस प्रकार जीवित हो गया,[4] मदिर का द्वार कैसे घूम गया,[5] गम्भीर गहरी सरिता को कोई चरणो से चल कर किस प्रकार पार कर गया,[6] लोह-शृखलाओ से आवद्ध वन्दी विना उपाय के कैसे मुक्त विचरण करने लगा,[7] आदि । कुछ ऐसी रहस्यमयी सिद्धियाँ हैं जिनका न तो तर्क के पास कोई समुचित उत्तर है और न विज्ञान के पास कोई प्रामाणिक विश्लेषण ।

(क) दादू-सम्प्रदाय का आविर्भाव

प्रत्येक युग-पुरुष के कतिपय स्वनिर्मित सिद्धान्त होते हैं, किन्तु सिद्धान्तो की रचना अथवा स्थापना मे अनेकानेक पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक महापुरुषो के

१–स्वामी शकराचार्य ।
२–प्रहलाद ।
३–सूरदास ।
४–सत्यवान ।
५–नामदेव ।
६–गोस्वामी तुलसीदास ।
७–वसुदेव ।

श्रेष्ठतम अनुभवो और अनुभूतियो का योग होता ही है। जिस प्रकार व्याधि-नाशक औषधि का निर्माण विभिन्न प्रकार के द्रव्यो के रासायनिक मिश्रण से होता है, उसी प्रकार किसी महापुरुष की इस युग-व्याधिनाशक सिद्धान्त-औषधि का निर्माण भी अन्य महापुरुषो के विभिन्न सिद्धान्त-तत्वो के रासायनिक मिश्रण द्वारा होता है। कभी-कभी यह भी होता है कि किसी महात्मा द्वारा पूर्ववर्ती महात्मा के सिद्धान्तो एव मान्यताओं का खण्डन हो, किन्तु खण्डन या मण्डन, दोनो ही स्थितियाँ पूर्ववर्ती सिद्धान्त के प्रभाव को ही सिद्ध करती हैं। उदाहरण-स्वरूप स्वामी शकराचार्य के अद्वैत का यद्यपि अपने-अपने ढग से रामानुज, निम्बादित्य, वल्लभाचार्य और चैतन्य स्वामी आदि धर्माचार्यों ने खण्डन किया, किन्तु इन समस्त आचार्यों के दर्शन मे शकर के अद्वैत दर्शन का प्रभाव तो मानना ही पडेगा। भले ही वह खण्डन के रूप मे हुआ हो। जल अग्नि को शान्त कर देता है और अग्नि काष्ठ को अग्नि बना देती हैं, यहाँ हम यह नही कह सकते कि जल ने अग्नि को प्रभावित नही किया अथवा अग्नि ने काष्ठ को प्रभावित नही किया। प्रभाव विरोधी अथवा अविरोधी, क्रियात्मक एव प्रतिक्रियात्मक दोनो प्रकार का हो सकता है। जिस प्रकार समाज मे वश-परम्परायें और पीढियाँ होती हैं, उसी प्रकार विचारो की भी परम्परायें और पीढिया होती हैं। किसी व्यक्ति की पूर्व-पीढियो या उत्तर-पीढियो को जानने पर उसकी वश-परम्परा का परिचय मिलता है, इसी प्रकार विचारो की भी पूर्व-पीठिका एवं उत्तर-पीठिका होती है। जैसे एक ही वश-परम्परा मे परस्पर विरोधी स्वभाव, विरोधी आचार-व्यवहार के व्यक्ति उत्पन्न हो सकते है, इसी प्रकार एक ही विचार-परम्परा से परस्पर विरोधी विचार भी समुद्भूत हो सकते है। विरोधी अथवा अविरोधी विचारो का यह समुद्भवन मूल विचार-धारा के प्रभाव का ही साक्षी है।

प्रभाव-सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष की छाया मे महात्मा दादूदयाल की मत-परम्परा का वश-वृक्ष कौतूहल जनक एव महत्त्वपूर्ण है। भगवान् बुद्ध के नैरा-त्म्यवादी एव निरीश्वरवादी दर्शन का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव स्वामी शकराचार्य पर हुआ। उन्होने अद्वैत दर्शन की अत्यन्त तर्क-सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की, किन्तु बौद्ध सिद्धान्तो के प्रभाव ही के कारण कुछ लोगो ने शकराचार्य को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा। शकराचार्य के अद्वैत दर्शन से प्रभावित होकर ही रामानुज ने अपने विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया। रामानुज के नारायणी विशिष्टाद्वैत दर्शन से प्रभावित होकर स्वामी रामानन्द ने 'निर्गुण राम' की प्रतिष्ठा की और विश्वासो की नाना सकीर्णताओ की निर्ममतापूर्वक काट-छाँट की। रामानन्द के दर्शन से कबीरदास प्रभावित हुए और कबीर की मान्यताओ का व्यापक प्रभाव

महात्मा दादूदयाल मे विद्यमान है। यो दादूदयाल पर रैदास, कबीर, नानक तथा कतिपय सूफी साधको का प्रभाव भी परिलक्षित होता है, परन्तु दादूजी की पूर्व-साधना-परम्परा का सक्षेप मे यही इतिहास हो सकता है। दादू की साधनात्मक मान्यताओ का प्रभाव भी अगणित शिष्य-प्रशिष्य-परम्पराओ के माध्यम से समस्त राजस्थान और पजाव के कुछ खण्डो मे प्रसारित हुआ। दादू की पूर्ववर्ती विचार-परम्परा को यदि एक वाक्य में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि वुद्ध का निरीश्वरवादी शून्यवाद, 'ब्रह्मवाद' मे, शकर का 'अद्वैतवादी ब्रह्मवाद' रामानुज के 'विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्मवाद' मे, रामानुज का 'विशिष्टाद्वैतवादी ब्रह्मवाद' रामानन्द के 'निर्गुणवादी रामवाद' मे तथा रामानन्द का 'निर्गुणवादी रामवाद' कवीर के 'निर्गुणवादी रहस्यवाद' मे और कबीर का 'निर्गुणवादी रहस्यवाद' दादू के शुद्ध चैतन्यवादी 'ब्रह्मवाद' मे रूपान्तरित हो गया। इतना हमे ध्यान मे रखना होगा कि इस साधना-परम्परा मे क्रियात्मक एव प्रतिक्रियात्मक दोनो प्रकार का प्रभावान्वय अथवा 'परब्रह्मवाद' निर्विवाद रूप से विद्यमान है। इसी प्रसग मे हम यह भी सकेत करना चाहेंगे कि किसी नवीन-दर्शन का प्रेरक मूल दर्शन-स्रोत जब काल विशेष और देश विशेष की वैचारिक समस्या का सतृप्तिकारी समाधान नही प्रस्तुत कर पाता तब परवर्ती नवीन दर्शन प्रादुर्भूत होता है। स्वामी रामानद के सम्बन्ध मे स्व० डा० वडथ्वाल का यह कथन—'युग युग से जमा हुए घने अधकार की, आकाश को छूती हुई दृढ प्राचीरे आत्मा को वदी वनाये रहती हैं। कडी लौह-शृङ्खलाये व्यक्ति को अधविश्वासो मे बाँधे रहती हैं। अन्याय की कारा मे व्यक्ति का स्वातन्त्र्य यत्रणा की असह्यता से कराहता रहता हैं। अवसाद भरा जगत परित्राण की आशा को सर्वदा के लिए त्याग देता है। जान पडता है कि हँसती-खेलती सरलता के दिन कभी नही लौटेगे, तब सहसा एक दिव्य विभूति धरा पर उतर आती है। और आन की आन मे दुर्भेद्य प्राचीरें खड-खड ढह पडती हैं, लौह-शृखलाये झन-झन टूट गिरती हैं, व्यक्ति की यत्रणायें भी उड जाती है और स्वातत्र्य सूर्य उसे तपे तपाये सोने की आभा मे मढ देता है। मध्ययुग के धार्मिक इतिहास मे रामानद ऐसी ही विभूति थे।''[1] उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है। भारतीय धर्म-साधना में स्वामी रामानद के धर्मभाव का महत्त्वपूर्ण योग है। कवीर के 'निरपख', 'जाति-पाँति खण्डन', 'निरवैरता', सहज समाधि', 'निर्गुण राम'

१—डा० वडथ्वाल—'रामानद की हिन्दी रचनायें' नामक पुस्तक की भूमिका, पृ० १ सम्पादक—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक—काशीनागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

आदि विभिन्न विश्वासो पर रामानद का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है । स्वामी रामानद के विचारो मे धार्मिक सहिष्णुता मूर्तिमान हो उठी थी । उदारता का उनके (रामानद के) नाम के साथ अटूट नाता जुड गया है । 'जाति-पाँति पूछै नहिं कोई । हरि को भजै सो हरि को होई ।' उनका नाम लेते ही यह अर्द्धाली स्मृतिपटल पर चमक उठती है । जिन शूद्रो के लिये आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो चुका था और समाज मे सिर उठा कर रहने का अधिकार भी सदा के लिए वद कर दिया गया था, उनके लिए उन्होने भगवान की यथार्थ दया का द्वार उन्मुक्त कर दिया । जीवन के तमसावृत्त व्यूहो से बाहर निकलकर ज्ञान-ज्योति के कक्षो मे जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया, निरीह तिरस्कृत व्यक्ति को भी मनुष्य समझने का अधिकार प्रदान कर दिया । उन्होने भगवान के समक्ष किसी को भी ऊँच-नीच नही ठहराया । कदाचित् उनकी इसी बहुमुखी उदारता के फलस्वरूप 'स्वामीजी, सगुण भक्ति-धारा तथा निर्गुण भक्ति-धारा एव उभय-भक्ति-धाराओ के केन्द्र विन्दु हैं, जिनसे एक ओर तो तुलमीदास आदि रामभक्तो के द्वारा सगुण भक्ति का प्रचार भारत-भूमि में हुआ तथा दूसरी ओर कबीर आदि 'निरगुनियाँ' सतो के द्वारा निर्गुण भक्ति का प्रचार जनता के बीच किया गया ।'[1] अपनी इसी उदार धर्म-दृष्टि द्वारा 'उन्होने वह वातावरण उपस्थित कर दिया जिससे हिन्दू धर्म एक निष्क्रिय सस्था मात्र नही रह गया, बल्कि वस्तुत विश्वबन्धुत्व की ओर सक्रिय रूप से अग्रसर होने वाली सजीव सस्था बन गया । उनका वैरागी समाज इस बात का पुष्ट प्रमाण है जिसमे केवल नीच जाति के ही शिष्य नही है, प्रत्युत एक मुसलमान भी प्रमुख शिष्य हो गया है जिसने हिन्दुओ के दार्शनिक सिद्धान्तो का अत्यधिक प्रचार किया ।'[2] एक सदिग्ध लेखक श्रीफानी विरचित 'दविस्ताने मजाहिब' में तो दो मुस्लिम अमीरो—मिर्जा मलीद और मिर्जा हैदर के हिन्दू बना लिए जाने का भी उल्लेख है ।[3]

कबीर की सधुक्कडी भाषा पर रामानन्द की हिन्दी भाषा का प्रभाव भी असाधारण है । कहना चाहिये कि धार्मिक विचारो और सिद्धान्तो के अतिरिक्त रामानन्द की हिन्दी का जो प्रभाव कबीर की वाणी मे लक्षित होता है वह उनके अन्य ११ शिष्यो[3] मे शायद ही किसी शिष्य की भाषा मे हो । इस भाव और

१–भागवत सम्प्रदाय–पृ० ८३, ले० श्री बलदेव उपाध्याय ।

२–रामानन्द की हिन्दी रचनायें—भूमिका पृ० ३१ ।

३–अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि ।
पीपा, भावानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसुरि की घरहरि ।।

भाषा के प्रभाव के प्रमाण के लिए स्वामी रामानन्द और कबीरदास की एक-एक रचना यहाँ उद्धृत करना हम आवश्यक समझते हैं ।

पच्छिम दिसा धुन अनहद गरज अमिरस झरै उपजै ब्रह्म ग्यान ।। १
आकासे उडध न अचवै आतम तत्त विचारी
नरसी जल में घर करै मनसा चढै पहाड ।। २
.न गरजै हीरा निपजै घटा पडै टकसाल
जो कोई दास कबीर से पारखी कोई नर भये उतर पार ।। ३

—रामानन्द[1]

अनहद बाजै नीझर झरै उपजै ब्रम्ह गियान ।
अविगति अंतरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ।।
आकासे मुखि औधा कुआ, पाताले पनिहारि ।
ताका पाणी को हसा पीवे, बिरला आदि बिचारि ।।
अमृत बरसै हीरा निपजै, घटा पडै टकसाल ।
कबीर जुलाहा भया पारखू, अनभै उतरया पार ।

—कबीर[2]

उपर्युक्त दोनो खडो मे 'झरै' 'उपजै' 'निपजै' आदि क्रिया—रूपो, 'आकासे' 'पाताले' आदि सज्ञा-शब्दो के विभक्ति-प्रयोगो तथा 'घटा पडे टकसाल' सरीखे पदो के प्रयोग यह स्पष्ट रूप से लक्षित करते है कि स्वामी रामानन्द के भाव और भाषा दोनो का प्रभाव कबीर की रचनाओ पर पड़ा था । यहाँ रामानन्द की हिन्दी रचनाओ तथा कबीर की रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रसगोचित नही जान पडता किन्तु, भाषा और भाव की चर्चा का केवल एक ही उद्देश्य था कि रामानन्द का कबीर पर सर्वतोमुखी प्रभाव साकेतिक ढग से उपन्यस्त हो जाय ।

महात्मा दादूदयाल की उपासना-पद्धति इतनी सीमा तक सार्वजनिक क्यो बनी, इसका कारण है इनके सम्प्रदाय का पक्षातीत होना । दादूजी स्वय मुसलमान होकर भी असख्य हिन्दुओ के श्रद्धाभाजन बन गये । महात्मा दादूदयाल के जन्म, कुल और जाति को लेकर विद्वानो मे मौलिक मतभेद है । राजस्थान के दादूपथी, दादूदयाल को ब्राह्मण मानते हैं । दादू सम्प्रदाय के मत के अनुसार दादूजी अहमदाबाद के नागर ब्राह्मण लोदीरामजी को सम्वत् १६०० की फालगुन सुदी ८ को प्रात काल साबरमती नदी मे बहते हुए प्राप्त हुए थे । उनके कोई सतान नही

१– रामानन्द की हिन्दी रचनायें—सम्पादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२ ।
२– वही ।

थी। महात्मा का उन्हें इसी तरह सन्तान मिलने का निर्देश था। उन्होने इसी नदी के प्रवाह मे प्राप्त हुए शिशु को अपना पुत्र माना और पुत्र-स्नेह से उसका पालन-पोषण करना आरम्भ कर दिया। ग्यारह वर्ष की आयु तक दादूजी का बाल्य-काल वही व्यतीत हुआ। जाति-प्रथानुसार लोदीरामजी ने इनकी शिक्षा आदि का भी प्रबन्ध किया। ११ वें वर्ष मे इन्हे एक दिन काकरिया तालाब पर अपने साथियो के साथ खेलते हुये एक महात्मा मिले। महात्मा अत्यन्त वृद्ध थे। उनको देख कर बच्चे दूर भाग गये, किन्तु दादूजी ने उनको नमस्कार किया। वृद्ध महात्मा ने उपदेश दिया और चले गये।[1] स्व० सुधाकर द्विवेदी ने दादू दयाल की रचनाओ की सम्पादन-भूमिका मे दादू का जन्म-स्थान अहमदाबाद न मान कर जौनपुर माना है तथा उन्होने दादू की एक साखी के 'मोट' शब्द के आधार पर दादू को चमार-पुत्र सिद्ध किया है।[2] वे वहाँ 'मोट' का अर्थ चमडे का मोट मानते हैं। द्विवेदीजी की इस धारणा से राजस्थान के दादू-पथी अत्यन्त क्रुद्ध हुए और सम्वत् १९६७ मे द्विवेदीजी की धारणा के सत्यासत्य के निर्णय के लिए एक विशाल सभा का आयोजन किया जिसमे दादूजी के जीवन-विशेषज्ञ अजमेर के सुप्रसिद्ध विद्वान प० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी ने काशी के विद्वज्जनो की विराट सभा मे द्विवेदीजी के उत्तरदायित्व की शिथिलता तथा भूल पर विशद प्रकाश डाल कर उनके द्वारा लिखे गये दादू-जीवन-चरित्र को अप्रामाणिक सिद्ध किया। जन-गोपाल कृत 'श्री दादू-जन्म-लीला परची' मे भी दादू का लोदीराम ब्राह्मण का पुत्र होना वर्णित है। 'जन्म-लीला परची' के सम्पादक श्री सुखदयाल दादू ने भूमिका मे उन सभी विद्वानो के इस मत का खण्डन किया है कि दादू ब्राह्मणेतर जाति के थे। श्री तारादत्त गैरोला ने अपनी Psalms of Dadu नामक पुस्तक मे रज्जवजी का एक पद लेकर दादूजी को धुनियाँ जाति का सिद्ध करने की चेष्टा की है।[3] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने

१–श्री दादू महाविद्यालय रजत-जयन्ति ग्रथ– पृ० ३, सम्पादक–सुरजनदास स्वामी, आचार्य, एम ए, प्रकाशक–श्री दादू महाविद्यालय रजतजयन्ती-महोत्सव समिति, मोती डूगरी, जयपुर।

२– साचा समरथ गुरु मिल्या, तिन तत दिया वताय।
दादू मोट महावली, सव घृत मथि करि खाय॥
दादूदयाल की वानी–भाग १, गुरुदेव को अग, इण्डियन प्रेस, प्रयाग।

३– रज्जव जी की सर्वंगी–साधमहिमा को अग।
धुनीग्रहे समुत्पन्नो, दादूयोगेन्द्रो महामुनि।
उत्तमयोगधारणम् तस्मात् क्व ज्ञातिकारणम्॥

दादूजी को तेली बताया।[1] आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी 'दादू' पुस्तक मे दादूजी को मुसलमान ही माना है तथा उनका पूर्व नाम दाऊद कहा है। इस प्रकार दादूजी की जाति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे दो मत हैं। एक मत दादूजी को ब्राह्मण सिद्ध करता है, जो प्राय: दादू-पथियो का है, दूसरा मत उन लोगो का है जिनमे से कोई उन्हे धुनियाँ, मुसलमान और कोई चमार, तेली आदि मानता है। इसी प्रकार इनके पिता का नाम कुछ लोग सुलेमान तथा गुरु का नाम शेख बुरहानुद्दीन भी बताते हैं। दादूजो के जातिसम्बन्धी दूसरे मत का खण्डन करते हुए 'श्री दादू-जन्म-लीला परची' के सम्पादक श्री सुखदयाल दादू, एडवोकेट लिखते हैं कि द्विवेदीजो, गैरोलाजी, सेनजी, दयानद सरस्वती आदि महान प्रतिष्ठित व्यक्तियो के ये कार्य तो खेदजनक है ही। बाद का साहित्यजगत् भी आखे बद करके अनुकरण करने का अपना विचारहीन कार्य कर रहा है, जो और भी अधिक खेदजनक है। कोई उनको तेली लिख रहा है, तो कोई मोची, कोई मुसल्मान तो कोई धुनियाँ, कोई विवाहित, तो कोई गृहस्थ, कोई कमाल का शिष्य तो कोई वृद्धन का शिष्य। कोई गरीबदासजी को उनका औरस पुत्र बतला रहा है, तो कोई दोनो बहनो के नाम हव्वा-सब्बा रख रहा है, आदि आदि ये सब मिथ्या, मन-गढत हैं और अप्रामाणिक बातें हैं।[2] दादूजी के जीवन-चरित्र पर कई विद्वानो ने लेखनी चलाई है।[3] पुरोहित हरिनारायण शर्मा 'सुन्दर ग्रन्थावली' की सम्पादन-भूमिका, पृष्ठ १२८ पर दादूजी के सम्बन्ध मे लिखते हैं 'दादूजी जाति के नागर ब्राह्मण थे। अहमदाबाद मे लोदीराम नागर ब्राह्मण के घर दैवी विभूति-रूप से जन्म सं० वि० १६०१ मे हुआ था। जेम्स हेस्टिंग्ज सम्पादित 'एनसाइक्लोपीडिया' मे जॉन टेल ने दादूजी को ब्राह्मण माना है। श्री विलसन अपनी पुस्तक 'रिलीजस सेक्ट ऑफ दि हिन्दूज' मे दादूजी को धुनियाँ मुसलमान मानते हैं और इसी प्रकार का वृत्त 'इम्पीरियल गेजटियर

१– सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास'

'.. ......दादूजी का जन्म गुजरात में हुआ था। पुन जयपुर पास 'आमेर' में रहते थे। तेली का काम करते थे। ईश्वर की सृष्टि की विचित्र लीला है कि दादूजी भी पुजाने लग गये।'

२– श्री दादू-जन्म-लीला परची की भूमिका, पृ० १४।

३– १ स्वामी माधवदासजी कृत 'सन्त गुण सागर'
२ स्वामी हरीदासजी कृत 'दादू रामोदय, (सस्कृत)

(शेष पृष्ठ ६१ पर)

ऑफ इन्डिया' के द्वितीय खड मे लिखा है। दादूजी को जाति-पाति का निर्णय करना हमारा लक्ष्य नही है, तथापि विद्वान लेखक प० परशुरामजी चतुर्वेदी के मत को ही हम अपने निष्कर्ष के रूप मे प्रस्तुत करेंगे। उन्होने लिखा- 'दादूदयाल के धुनियाँ जाति का वशज होने का प्रमाण इनके शिष्य रज्जब के इस कथन मे मिलता है—

धुनिगृहे समुत्पन्नो दादूयोगेन्द्रो महामुनिः।
उत्तमयोगधारण तस्मात् क्व ज्ञातिकारणम् ॥

अर्थात् योगेन्द्र महामुनि दादू का जन्म धुनियाँ जाति में हुआ था। इसके अतिरिक्त बंगाली बाउलो के वदना-सम्बन्धी वाक्य—

'श्री युक्त दाऊद वन्दि दादू मारे नाम'

से इनका पूर्व नाम 'दाऊद' होने की भी पुष्टि हो जाती है और इनके मुसलमान होने में भी सन्देह नही रह जाता। दादूदयाल के दो पुत्रो के नाम गरीबदास और मिस्कीनदास थे और इनकी दो पुत्रियां भी कही-कही हव्वा और सब्वा नाम की बतलाई गई हैं, यद्यपि कुछ लोगो के अनुसार उनके वास्तविक नाम नानी बाई व माता बाई थे।[1]

(शेष पृष्ठ ६० का)

३ स्वामी अवधविहारी कृत 'महन्तलीला-प्रदीप'
४ स्वामी नारायणदासजी कृत 'दादू जन्म-लीला'
५ स्वामी राघवदासजी कृत 'भक्तमाल'
६. स्वामी मगलदासजी कृत 'मगल-ग्रथावली'
७ स्वामी रामदयालजी कृत 'दादू सार वर्णन'
८ दादू सहस्रनाम
९. स्वामी चम्पारामजी कृत 'साखी-सग्रह'
१० आचार्य क्षितिमोहन सेन कृत 'दादू'
११. डा० तारादत्त 'गैरोला' कृत 'Psalms of Dadu'
१२ The Imperial Gazetteer of India, Vol II.
१३ Encyclopaedia of Religion & Ethics, Vol X
Ed. James Hastings
१४ Religious Sects of the Hindus—H H. Wilson
१५ श्री फानी कृत 'दबिस्ताने मजाहिब'
१६ श्री वासुदेव झा कृत 'दादू-चरित्र-चन्द्रिका'
१७ मगलदास कृत 'भक्त-नाम स्मरणी'
१८ पुरोहित हरिनारायण शर्मा सम्पादित 'सुन्दर-ग्रथावली'

१– उत्तरी भारत की संत-परम्परा—पृष्ठ ४११।

रामानन्दजी का प्रभाव कबीर पर पडा, जो मुसलमान थे और कबीर का प्रभाव दादू पर पडा। यह भी मुसलमान ही थे। रामानन्द की रूढि एव जाति-बधन-मुक्त उपासना का मार्ग मुसलमानो को पीढियो तक प्रभावित करता रहा, इसी विचार की भूमिका के रूप मे यहा दादूजी की जन्म-जाति-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओ को सक्षेप मे प्रस्तुत करना उपयुक्त समझा गया। अब हम दादूजी के कुल-जाति-सम्बन्धी प्रसग को यही उपसहृत कर उनकी आध्यात्मिक अवतरणिका के सूत्र को पुन ग्रहण करेगे।

इसका सकेत किया जा चुका है कि स्वामी रामानन्दजी की परम्परा-युक्त उपासनापद्धति का कबीर पर अमोघ प्रभाव पडा। कबीर ने इसे स्वय भी स्वीकार किया है—

> कासी में प्रकट भये हैं, रामानन्द चेताये।
> प्यास अहद की साथ हम लाये, मिलन करन को आये।[१]

कबीर द्वारा तीर्थों, मूर्तियो, वेदो, स्मृतियो, चौका-चदन आदि का खण्डन तथा सद्गुरु की कृपा से ब्रह्म का साक्षात्कार भी भारतीय साधना के लिये कोई नवीन वस्तु नही थी। रामानन्दजी समाज के इन मिथ्या विश्वासो का खण्डन कबीर से पूर्व कर चुके थे। कबीर का 'गुरुसवद' भी रामानन्द के सहज दर्शन मे अपना आविर्भाव प्राप्त कर चुका था।[२]

महात्मा दादूदयाल के सिद्धान्तो की भूमिका उसी प्रकार कबीर मे सुविधा से प्राप्त हो जाती है जिस प्रकार कबीर के रूढिगत निषेधकारी विचारो के बीज स्वामी रामानन्द की पक्ष-विनिर्मुक्त साधना-प्रणाली मे उपलब्ध हो जाते हैं। दादू पथियो तथा कतिपय अन्य विद्वानो ने दादूजी का गुरु एक अज्ञातनाम वृद्ध माना है इन्हे बुड्ढन भी बताया गया है। इस प्रसंग मे भी विवादग्रस्त ब्योरे

१— आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखित 'कबीर' पुस्तक के अन्त में दिये गये २६वें पद से।

२— 'ग्रन्थ साहब' से श्री बलदेव उपाध्याय द्वारा 'भागवत-सम्प्रदाय' में उद्धृत—

> कहां जाइये हो घरि लाग्यो रग, मेरो चित चंचल मन भयो अपग।
> जहां जाइए तह जल पषान, पूरि रहे हरि सब समान।
> वेद स्मृति सब मेल्हे जोइ, उहा जाइये हरि इहां न होइ।
> एक बार मन भयो उमग, घसि चोवा चदन चारि अग।
> पूजत चाली ठांइ ठांइ, सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माइ।
> सतगुरु में बलिहारी तोर, सकल विकल भ्रम जारे मोर।
> रामानन्द रमें इक ब्रह्म, गुरु कै एक सबद काटै कोटि करम्म।

मे न जा कर हम यही कहेगे कि दादू को आध्यात्मोन्मुख होने की प्रेरणा किसी भी महात्मा से मिली हो—वे वृद्ध हो या बुढ्ढन, किन्तु दादूजी अपने सिद्धान्त और मान्यताओ के लिए कबीर के ही ऋणी माने जायेगे। इस तथ्य को दादू-पथियो ने भी स्वीकार किया है। यो तो दादूजी ने अपने पूर्ववर्ती महात्मा नानक, कबीर, रैदास, नामदेव आदि के विचारो का अनुमोदन किया। परन्तु यह मान्यता भी सत्यानुसारी है कि दादूजी के इन विचारो मे पूर्ववर्ती महात्मा कबीर की विचारधारा का भी प्रर्याप्त प्रभाव था। दादूजी ने इस बात को अपनी वाणी द्वारा कई स्थानो पर व्यक्त किया है। निर्गुण उपासना मे अपना दृढ विश्वास तथा लययोग की साधना, सम्भव है उन्होने कबीरजी की विचारधारा से ही प्राप्त की हो।[1] इसमे कोई सदेह नही कि दादू की आध्यात्मिक विचारधारा कबीर की आध्यात्मिक विचारधारा मे पूर्णरूपेण प्रभावित थी। दादू-सम्प्रदाय का ऐसा विपुल साहित्य उपलब्ध होता है, जिसके सम्यक् अध्ययन की अब भी आवश्यकता है।[2]

सम्प्रदाय के अनेकानेक महात्माओ की वाणियाँ आज भी हस्तलिखित रूप मे राजस्थान के दादू-द्वारो मे प्राप्त होती हैं जिनमे दादू-सम्प्रदाय सम्बन्धी बहुमुखी सूचनाए भी उपलब्ध हो सकती हैं। दादू पर कबीर के प्रभाव की समुचित व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि कबीर और दादू के मूल सिद्धान्तो की एक सक्षिप्त तुलनात्मक भूमिका प्रस्तुत की जाय। कबीर और दादू दोनो महात्माओ ने मानव-जीवन के सभी पक्षो पर अपनी विधिनिषेधमूलक सम्मतियाँ

१– श्री दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रंथ का इतिहास-खण्ड, पृ० ४।

२– The Imperial Gazetteer of India, Vol II P 417

'In the seventeenth century one Dadu, a cotton-cleaner . founded a sect in Rajputana which was an off-shoot from the Kaluis' teaching. He protested against all temples and images and restricted worship to the mere repetition of the name of Rama His doctrine closely resembles that of the older prophets, the main difference being the exclusion of all references to the Musalman ideas of the Deity, which we often meet in the writings of Kabir He and his successors have left behind them an enormous body of literature which is still current in Rajputana It has not as yet been much studied by Europeans and is, so far as the present writer has examined it, couched in western Hindi'

व्यक्त की हैं। किन्तु दोनो महात्माओ की वाणियो मे कुछ ऐसे भी विषय हैं जो उभयनिष्ठ हैं, उदाहरणार्थ जीव, ब्रह्म, गुरु, सबद, माया, जगत, और जाति आदि विषयो पर इन दोनो महात्माओ ने लगभग एक ही ढग और शैली मे अपने विचार प्रकट किये है।[1]

महात्मा दादूदयाल कबीर के सिद्धान्तो और विचारो से प्रभावित होते हुए भी उनके 'अक्खडपन', 'कटु तीव्र प्रहार','स्वभाव का आपा' और उपदेश-पद्धति की निरकुशता का कोई भी प्रभाव दादू के दार्शनिक चिन्तन मे परिलक्षित नही होता। मृदुलता, शील और विनम्रता से उनकी वाणी ओतप्रोत है। कबीर के यह शब्द—'आपा मेटि जीवत मरै, तौ पावै करतार।' अथवा 'शील सन्तोष के सबद जा मुख बसै, सत जन जौहरी साचो मानी', दादूजी की वाणी और आचार दोनो मे पूर्णरूपेण चरितार्थ होते दिखाई पडे। महात्मा दादू ने यदि बाह्याडम्बरो का खण्डन किया भी तो प्रेमरससिक्त वचनावली मे, जब कि कबीर अपने निषेधो और खण्डनो मे आक्रोश, आवेश, तीव्रता और कटुता का सर्वथा

१– (अ) बलिहारी गुरु आपणे, द्यो हाडी के बार।
मानिख तै देवता किया, करत न लागी बार ॥—कबीर
सतगुरु पसु मानस करै, माणस थै सिध सोइ।
दादू सिध थै देवता, देव निरजन होइ ॥—दादू

(आ) सतगुरु साचा सूरमा, नख सिख मारा पूरि।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकणाचूरि ॥—कबीर
सतगुरु सबदो मारिया, जाण न पावै दूर।
दादू बाहर सारा देखिये, भीतर कीया चूर ॥—द दू

(इ) सतगुरु बपुरा क्या करै, सिखहीं माहै चूक।
भावै ज्यों परमोधि ले, बसि बजाये फूक ॥—कबीर
कहि कहि मेरी जीभ रहि, सुणि सुणि तौ कान।
सतगुरु बपुरा क्या करे, जो चेला मूढ अजान ॥—दादू

(ई) जाका गुरु भी आधरा, चेला खरा निरध।
अधै अधा ठेलिया, दून्यू कूप पडत ॥—कबीर
अधै अधा मिलि चले, दादू बाधि कतार।
कूप पडे हम देखता, अधे अधा लार ॥—दादू

(उ) पोथी पढ़ि पढि जग मुआ, पण्डित भया न कोइ।
एकै आखर पीव का, पढ़ै सो पण्डित होइ ॥—कबीर
पढ़ि पढ़ि थाके पण्डिता, किनहु न पाया पार।
कथि कथि थाके मुनिजना, दादू नाइ उधार ॥—दादू

निराकरण नही कर सके। कही पर वे 'साधो पाडे निपुन कसाई' कह कर ब्राह्मणो को डाटते तथा यह कह कर प्रत्यक्ष उपदेश देते है—'वेद कतेब छाडि देव पाडे, ई सब मन के भरमा, कहहिं कबीर सुनहु हो पाडे ई तुम्हरे है कर्मा', तो कही पर उन्हें 'पोथी पढि पढि जग मुवा' तथा 'पडित बाद बदन्ते झूठा' कहते दृष्टि-गोचर होते है। यदि 'सावत' उपासको का एक स्थान पर खण्डन तथा वैष्णव उपासको के प्रति उनकी आस्था इन शब्दो मे व्यक्त होती है—'वैष्णव की कुटकी भली, नहिं साकत बड गांव' तो दूसरे स्थान पर बेचारे वैष्णव भी उनकी कटु भर्त्सना के आखेट इस शब्दावली से बन जाते हैं—'वैष्नो भया तो क्या भया, बूझा नही विवेक, छापा तिलक बनाइ करि दगधा लोक अनेक।' कबीर ने अपने निर्गुण साधनामार्ग के अतिरिक्त अन्य समस्त साधना-पद्धतियो का निर्ममतापूर्वक बहिष्कार किया। इतना ही नही, कबीर ने अन्य मतो एव साधना-मार्गों को विस्थापित कर अपनी साधना और अपने साधन-मार्ग को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। कबीर की अगणित साखियो और पदो की अतिम पक्तियो मे बारम्बार यही भाव व्यजित हुये है कि अन्य साधक सब इसी पार रह गये, कबीर अकेले तर गये। कही-कही कबीरदासजी अपने नाम के स्थान पर, 'विरक्त' शब्द का प्रयोग करते हैं, किन्तु जहाँ वे विरक्तो के तरने की बात करते हैं वहाँ भी वे सकेत से अपने को ही ध्वनित करते हैं। 'कहै कबीर सुनो भई साधो, यह गत बिरिले जानी' मे यह 'विरले' सज्जन भी कबीरदासजी ही लक्षित होते हैं। 'कबीर जुलाहा भया पारखू, अनभै उतर्‌या पार', अथवा 'कबीर हरि रस यो पिया बाकी रही न थाकि', मे कबीरदासजी की स्वसाधना सम्बन्धी दर्पोक्ति की ही प्रतीति होती है। स्थल-स्थल पर कबीर अपनी सिद्धि और जीवन-मुक्ति का निस्सकोच उद्‌घोष करते हैं। आत्मोत्कृष्टता के प्रति यह उच्च गर्वोक्तियाँ और परोत्कृष्टता के प्रति निम्न कटूक्तियाँ कबीरदासजी जैसे सत के लिए कहाँ तक शोभन हैं, इस पर विचार आवश्यक है। कुछ लोगो के विचार से आध्यात्मिक सिद्धियो का अहकार भी सिद्ध के लिए श्रेयस्कर नही माना जा सकता। कितना अच्छा होता कि आध्यात्मिक एव आनुभूतिक उपलब्धियो के इस अभिमान-शिखर को भी कबीर के, 'सतगुरु सबद-बान' ने भीतर ही भीतर 'चकनाचूर' कर दिया होता। दादूजी मे यदि कही कुछ सन्मार्ग के प्रति नैतिक भाव दृष्टिगोचर भी होता है तो उसमे श्रेय सतगुरु की कृपा एव उनकी प्रेरणादायिनी तत्परता को ही रहता है। कबीर और दादू के लक्ष्य, गन्तव्य और उद्देश्य मे कोई अन्तर नही है, भेद केवल प्रणाली मे है। एक समाज को निर्दिष्ट गन्तव्य तक फटकार से ले जाना चाहता है, दूसरा प्यार से। अपनी इन निर्मम फटकारो और तीव्र कटु प्रहारो के लिये कबीर

स्वय एकान्त-भाव से उत्तरदायी नही। उनके समस्त आवेग, उस युग के समाज की निरकुश आचार-परिपाटियो, धर्म-नेताओ की रूढ भ्रामक मिथ्या चर्चाओ की प्रतिक्रिया मे थे। प्रतिक्रिया सदैव वेगवती होती है। किसी भी आन्दोलन या प्रवाह को गति देने के लिये यह प्रतिक्रिया-जात आक्रोश परम उपयोगी और आवश्यक होता है। कबीरदासजी के अक्खडपने का मूल रहस्य यही है। परन्तु यह सब होते हुये भी आत्मशुद्धि और आत्मसिद्धि की तूरी बजाने की अपेक्षा कबीर अपने सम्बन्ध मे स्वय कुछ न कह कर इसके लिये समाज की तत्त्वग्राहिणी दृष्टि पर विश्वास और भरोसा कर सकते थे, किन्तु मनुष्य शुद्ध धर्म-साधना को उसके आसन से बलात् धकेल कर पतन के जिस पक्ति के गर्त मे फेक देना चाहता था उसके वर्जन और ताडन के लिये कबीर के पास सिवाय इसके कि वे हँस कर मनुष्य को डाट-फटकार कर सन्मार्ग की ओर लाने का प्रयास करते, और कोई उपाय न था।

हमारे आलोच्य सत दादूजी धर्म-साधना, वत्सलता, सहजता और मृदुलता के पुष्प-रस से आप्लावित हैं। श्री सिद्धिनाथ तिवारी का कथन है कि दादू मे कबीर की तरह तीखा स्वर कही नही मिलता है। उन्होने इस बात पर सदा जोर दिया है कि भक्त होने के लिये नम्र और शीलवान होना चाहिये। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, छापा-तिलक, पशु-बलि आदि को अग्राह्य कहते समय इनकी शैली कही भी उद्दण्ड नही हुई है। यह सत्य है कि इन बाह्याचारो से इनकी आत्मा भी उतनी ही मात्रा मे क्षुब्ध हुई थी, जितनी मात्रा मे इन कुसस्कारो ने कबीर के दिल पर आघात किया था, लेकिन जहा कबीर ने कटु-व्यग्यो से इनकी खबर ली है वहा दादू ने तटस्थ चिन्तक की भाति सौम्य भाव से समझा कर जनता के हृदय से उन विपाक्त आचारो को दूर करने की चेष्टा की।'[1] परतु श्रीनिवास के उपर्युक्त मत को कबीर की सम-सामयिक परिस्थितियो की भूमिका मे रख कर इस सम्बन्ध मे कोई निर्णय लेना उचित होगा।

दादू-सम्प्रदाय के आविर्भाव के सम्बन्ध मे इस तथ्य पर सभी विद्वान् एक मत है कि दादूजी ने स्वय किसी सम्प्रदाय का सगठन नही किया था। इनके शिष्यो ने दादूजी के निर्दिष्ट सिद्धान्तो एव साधना-मार्ग का एकरूप समूहबद्ध होकर अनुसरण करना जब आरम्भ कर दिया तो साधको और अनुयायियो के उस समूह सगठन को ही सम्प्रदाय-सज्ञा प्राप्त हो गई। धीरे-धीरे दादूजी की उपासना के सिद्धान्तो के प्रचार और प्रसार के लिये कुछ मदिर बने और दादू-

१– निर्गुण काव्य-दर्शन—पृष्ठ २०६, ले० श्री सिद्धनाथ तिवारी, एम ए।

द्वारो का निर्माण हुआ। इन मदिरो और द्वारो मे महन्त और गद्दीधारी होने लगे—कहना चाहिये दादूजी की साधना नियमित, सगठित और सस्थावद्ध साधको द्वारा पोषित एव प्रचारित होने लगी। कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि जिन महात्माओ द्वारा सम्प्रदायो, वर्गों, पक्षो और पथो के विघटन की जीवनपर्यन्त प्रेरणा दी गई, उन्ही के देहपात के उपरान्त उन्ही के नाम से सम्प्रदाय चल पडे, यह अच्छा नही हुआ। किन्तु क्या ही अच्छा होता कि उन महानुभावो ने यह भी विचार किया होना कि ससार में महापुरुषो के इतिहास मे ऐसा कोई महापुरुष न मिलेगा जिसके अनुयायियो का एक संगठित वर्ग अथवा सस्थावद्ध सम्प्रदाय न प्रचलित हो गया हो। हा, यह हो सकता है कि उस सम्प्रदाय का निर्माण स्वय उस महापुरुष के द्वारा न हो कर उसके अनुयायियो द्वारा हुआ हो। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, शकराचार्य, रामतीर्थ, रामकृष्ण, दयानन्द, गाधी तथा विनोबा आदि महापुरुषो मे किसी का सिद्धान्त-निचय अनुयायियो के सम्प्रदाय मे बधने से न बच सका। इस सत्य से भी पीछे नही हुआ जा सकता कि सम्प्रदायो के महापुरुषो अथवा आदि प्रवर्तको के समक्ष अन्य व्यक्ति नही होते—यह सम्भव भी नही, किन्तु कभी-कभी इस सत्य के अपवाद भी देखने को मिल जाते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में मत्स्येन्द्रनाथ के समक्ष तथा उनसे भी श्रेष्ठ उन्ही के शिष्य गोरखनाथ हुये, लोक-सेवा के क्षेत्र में गाधी के शिष्य विनोबा उन्ही के समक्ष हुये। यह ठीक है कि कबीर, नामदेव, रैदास, नानक, दादू आदि उदारमना महात्माओ ने सम्प्रदायो का खण्डन किया किन्तु यदि सावधान और गभीर दृष्टि से देखें तो हम पायेंगे कि इन महात्माओ ने उन्ही सम्प्रदायो और धर्म-सस्थाओ का निषेध किया जो रुढि-ग्रस्त, अन्ध-परम्परा-पीडित तथा मिथ्याचारो से जर्जरित हो गये थे। श्रेष्ठ साधना के पथिको की समूहवद्ध नियमित उपासना-पद्धति का ये महात्मा कदापि खण्डन नही करते है।

नियमित तथा सगठित धर्म-सस्थाओ और सम्प्रदायो की स्वतत्र सत्ता का अपना विशिष्ट महत्त्व और मूल्य है। इसे स्पष्ट करने के लिये अन्य महापुरुषो के इतिहास में क्यो भटकें, महात्मा दादू दयाल और उनके नाम से चलने वाले सम्प्रदाय को ही ले लें। दादूजी के पवित्र आचारो और सिद्धान्तो की स्थिति शताब्दियो बाद तक बनाये रखने में उनके शिष्यो-प्रशिष्यो ने साम्प्रदायिक साधना के अन्तर्गत रह कर कितना उपयोग किया—यह स्वय अपने मे एक अध्ययन का विषय है। दादूजो की भावधारा एव उनके सिद्धान्तो को जनता तक पहुचाने का प्रयास इन्ही साम्प्रदायिक साधको ने किया। उनके प्रेममय वचनो को अन-

वरत गा-गा कर सुना-सुना कर लाखो अन्त करणो की प्रसुप्त आध्यात्मिकता को जागरित किया । अपने जीवन मे उनके कथित सिद्धान्तो को सार्थक कर समाज-रचना मे अप्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप मे जो सहायता पहुचाई उसका मूल्य केवल आक्षेप बुद्धि से आका नही जा सकता । दादू के पश्चात् उनके वास्तविक शिष्य रज्जबजी, सुन्दरदासजी, बखनाजो, सन्तदासजी, जगजीवनदासजी, जगन्नाथदासजी, चैनजी, वाजिन्दजी, जनगरीबजी, टीलाजी, जैमलजी आदि सत पुरुषो ने अपनी साधना, अपनी रचना तथा अपने-अपने आदर्श-जीवन द्वारा जन-समुदाय की अल्प सेवा नही की है।[1] रज्जबजी,बखनाजी, वाजिन्दजी, नीजामजी आदि जाति के मुसलमान थे, पर उन्होने जातीय तथा सीमित धर्म-भावना का परित्याग कर अपने उपदेष्टा के उपदेशो को अपनी जीवनचर्या के प्रत्यक्ष उदाहरणो से सार्थक सिद्ध किया था। ब्राह्मण जगन्नाथजी, वैश्य सुन्दरदासजी तथा पठान रज्जबजी ने अपने को जातीय सकीर्णता से पृथक रखा, तथा विश्व-मानव-भाव से प्रेरित हो कर के ही वे एक-दूसरे के अत्यन्त समीप रहे। इन जन-सेवा प्रवृत्तिपरायण दयालु महात्माओ की शीतल-आत्मा से न जाने कितने दारुण दुख-दावानल-दग्ध प्राणियो ने अपरिमित शान्ति तथा सन्तोष का प्रसाद पाया हैं। प्रेम, दया, शील, सदाचार, त्याग, सेवा और निरभिमानता आदि गुणो को आचरण मे ढाल कर अपने जीवन से दुबल मनोवृत्ति वाले असख्य प्राणियो को साधना की उच्च-भूमि पर प्रतिष्ठित किया—साम्प्रदायिक सतो का यह योग कुतर्कों की कटुता से कभी क्षीण नही हो सकता। यह तो हुआ इन सतो को आध्यात्मिक साधना का योग—किन्तु इन महात्माओ की 'बानियो' का साहित्यिक महत्त्व भी अक्षुण्ण है। यदि एक ओर सूर और मीरा की वाणी की महत्ता है तो दूसरी ओर रज्जब, बखना, टीला, जनगोपाल, एव सुन्दरदासजी की रसमयी रचनाएँ भी उपेक्षणीय नही हैं। हिन्दी-साहित्य मे भूपण, मतिराम, बिहारी का स्थान विशेष है तो रज्जब, स्वरूपदास, भीखजन, चम्पाराम का स्थान भी नियत करना होगा। यदि गिरधर की कुण्डलियो और रहीम के बरवै महत्त्वपूर्ण हैं तो सुन्दरदासजी के सवैये और वाजिन्द के अरिल भी कम महत्त्व के नही। नाभादास की भक्तमाल के समक्ष ही इधर राघोदास की भक्तमाल है। रसपुजजी का 'वृत्ति-विनोद, स्वरूपदासजी का 'पाण्डव-यशेन्दु-चन्द्रिका', सुन्दरदासजी की ग्रन्थावली, चम्पारामजी का 'क्षीरार्णव', भीखजन की 'भीख बावनी' चतुरदासजी का 'एकादश', मगलदासजी

१– श्री दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रन्थ—भूमिका, पृ० ५८-५९।

का 'सुन्दरोदय', निश्चलदासजी महाराज का 'विचार सागर' व 'वृत्ति प्रभाकर' व आत्मारामजी का 'आत्मप्रकाश' आदि ग्रथ हिन्दी साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए हैं। निष्कर्ष यह कि धर्म-सस्थाओ और सम्प्रदायो का महत्त्व उपेक्षा का विषय नही है।

निर्गुण सत-परम्परा के महात्माओ की धर्मचर्या की सहजता एव अकृत्रिमता की ओर सभी विद्वानो ने सकेत किया है। बाह्य कर्माडम्बर, वाह्याचारो का प्रदर्शन, सत्साधना-विरोधी क्षुद्र धार्मिक विश्वास और मान्यताये इन सतो को कदापि प्रिय नही थी। यद्यपि दादूजी अपनी मान्यताओ और सिद्धातो के लिये नामदेव, कबीर, रैदास और नानक के ऋणी हैं, परन्तु दादू के सिद्धान्तो पर कबीर का विशेप प्रभाव विद्यमान है—यह हम अभी कह चुके हैं। यो उक्त समस्त सतो मे जीव, जगत्, माया, ब्रह्म, जाति पाति-खण्डन, मदिर-मस्जिद एव पूजा-नमाज की आलोचना का एक रूप दर्शित होता है—फिर भी दादू के एतद्विपयक विचारो मे कबीर की पृष्ठ-भूमि तथा कबीर की विचारधारा को ही माने तो कोई अनौचित्य नही।

ख दादू के सिद्धान्त—

सद्गुरु—यह कहने की आवश्यकता नही की दादूजी की उपासना-पद्धति मे 'अहम्' के लिये कोई अवकाश नही है फिर चाहे वह 'अहम्' साधना की श्रेष्ठता से ही सम्वन्ध क्यो न रखता हो। दादूजी गुरु-कृपा को ही समस्त सिद्धियो का साधन मानते हैं। किन्तु यह कृपा अधिकारी सतगुरु की होनी चाहिये। गुरु को गभीर और गुरुवत् होना चाहिये, उसमे दीनता और विनय का भाव होना चाहिये। उसे सूक्ष्म धी वाला, शीतल एव सहज कृपालु तथा ध्यानी होना चाहिये। सद्गुरु के यही लक्षण हैं।[1] सतगुरु जब स्वय रामरस मे प्रमत्त होगा तभी राम की अनुभूति पल भर में शिष्य को करा सकता है तथा पार उतार सकता है।[2] दादूजी जहा सद्गुरु के लक्षण बताते हैं वही शिष्य के जिज्ञासु होने की अनिवार्यता भी स्पष्ट कर देते हैं। शिष्य गुरु से सारा ज्ञान सीखने पर भी यदि अपने मन के मैल से मुक्त न हो सका और विष का हलाहल पीता रहा तो

१– दादू दयाल की वाणी—सम्पादक श्री मगलदास स्वामी जयपुर।
गुरुदेव को अग—दीन गरीवी गहि रह्या, गरवा गुरु गभीर।
गुरु लक्षण—सूखिम सीतल, सुरति भांति, सहज दया गुरु धीर ॥४९

२– दादू सतगुरु ऐसा कीजिये, राम रस माता।
पार उतारे पलक मे, दरसन का दाता ॥ ५०

उसमें गुरु बेचारे का क्या दोष है ।[1] सद्गुरु अपने शिष्य को प्रबोधित करने की तीन प्रणालियो का क्रमश. अनुसरण करता है–पहली प्रणाली गुरु की यह है कि वह शिष्य को निर्वाक्, निश्शब्द हो कर अपना सकेत मन से व्यक्त करता है। यदि शिष्य गुरु की इस मानसवार्ता को नही समझ पाता तो वह फिर नयनो से सकेत करता है—बोलता फिर भी नही। यदि शिष्य गुरु का यह 'नैन-सैन' भी नही समझता तो वह 'वैन' का आश्रय लेता है ।[2] यदि शिष्य के कान सुनते रहे और वैन से कहते-कहते सद्गुरु की जीभ थक गई तो फिर शिष्य को निपट मूढ समझना चाहिए–ऐसे शिष्य के लिए वेचारा गुरु क्या कर सकता है[3] ? और यदि गुरु-शिष्य दोनो ही अविद्यान्ध रहे तो फिर वही दशा होगी जो अन्धे के मार्ग-निर्देशन से नेत्रविहीन की होती है । वे दोनो कूप मे गिरते हैं ।[4]

दादूजी की दृष्टि मे सद्गुरु का शब्दोपदेश शास्त्रो और धर्म-ग्रन्थो से भी ऊपर है । उसके उपदेश से उस सन्मार्ग की प्राप्ति हो जाती है जिसे वेद और कुरान भी नही बता पाते तथा जिस पर चल कर ब्रह्म का मिलाप हो जाता है ।[5] यह मिलाप तभी सम्भव है जब मन रूपी घोड़े पर 'चैतन्य' अश्वारोही बनता है । उसके एक हाथ मे 'लय' की लगाम हो, दूसरे हाथ मे गुरु-शब्द की चाबुक—तभी यह साधना-पन्थ तय किया जा सकता है ।[6]

नाम-जप – कबीरपरम्परा के सभी सन्त-राम-नाम-जप, राम-नाम-स्मरण तथा राम-नाम-ध्यान पर सर्वाधिक बल देते हैं । महात्मा दादूदयाल तथा उनके अनुयायी सन्त राम-नाम की महिमा को स्वीकार करने मे कबीर से भी आगे बढ गये । दादूजी मानते हैं कि हरि-नाम ही सर्वश्रेष्ठ है, उसीका हृदय

१– ज्ञान लिया सब सीखि सुणि, मन का मैल न जाई ।
गुरु विचारा क्या करै, विषै हलाहल खाई ।। ११

२– गुरु पहली मन सो कहै, पीछे नैन की सैन ।
दादू सिख समझै नहीं, कहि समझावे बैन ।। १०९

३– कहि कहि मेरी जीभ रही, सुणि सुणि तेरे कान ।
सतगुरु बपुरा क्या करै, जो चेला मूढ अजान ।। १११

४– अन्धे अन्धा मिलि चले, दादू बांधि कतार ।
कूप पडे हम देखता, अन्धे अन्धा लार ।।

५– गुरुदेव को अग—
सोई मारग मनि गह्या, जेहि मारग मिलिये जाइ ।
वेद कुरानू ना कह्या सो गुरु दिया दिखाइ ।। ८०

६– मन ताजी चेतन चढै, ल्यो की करै लगाम ।
सबद गुरु का ताजिणा, कोई पहुचे साधु सुजान ।। १३६

मे ध्यान करना चाहिए। ब्रह्म-ज्योति हृदय मे ही स्थित है—केवल श्वास-प्रश्वास के तार मे उसीके नाम का स्मरण होना चाहिए। हर साँस मे उसी को याद करना आवश्यक है।[1] यदि उस साधक ने उस नाम को श्वास-श्वास मे रमा लिया तो त्रिगुण और इन्द्रियाँ स्वयमेव नष्ट हो जायेगी और कर्म का बन्धन सहज ही मे टूट जायेगा।[2] प्रतिक्षण नाम का जप करते-करते यदि प्राण भी प्रयाण कर दे तो भी नाम-जप का तार नही टूटना चाहिए, क्योकि आत्मोद्धार का अन्य कोई आधार अथवा अवलम्ब नही है।[3] यदि कोई तर्क-ज्ञान द्वारा उस राम का आदि-अन्त जानना चाहे तो यह किसी प्रकार सम्भव नही, क्योकि जो असीम है उसका प्रत्यक्षीकरण ससीम के द्वारा नही हो सकता। उसका आद्यन्त जानने की चेष्टा करने की अपेक्षा नाम का अविकल जप ही श्रेष्ठतर है।[4] दादूजी नाम के जप मे हरि के किसी विशेष नाम का आग्रह नही करते। वे नाम-जप का ही महत्त्व बताते हैं। उनके अनुसार तो अनन्त नामो मे जो नाम मन भावे वह लेना चाहिए।[5] ससार-सागर को नाम की नाव पर बैठ कर ही पार किया जा सकता है, अत. इस नौका को प्राप्त करने मे प्रमाद नही करना चाहिए।[6]

जीव और ब्रह्म—दादूजी कबीर की भाँति ही उस अविनाशी की स्थिति उपासक के अभ्यतर मे ही मानते हैं। जो लोग उसे खोजने और प्राप्त करने के लिए बाहर भटकते हैं वे भ्रम मे हैं।[7] कबीर ने भी कस्तूरी को मृग की कुण्डली

१– सुमिरण को अग–
दादू नीका नाव है, हरि हिरदे न बिसारि।
मूरति मन माँहै बसै, साँसे साँस सभारि ॥ ५

२– सहजै ही सब होइगा, गुण इन्द्री का नास।
दादू राम सभालता, कटै काम के पास ।। १३

३– छिन छिन राम सभालता, जे जिव जाइ त जाउ।
आतम के आधार को, नाहीं आन उपाउ ॥ ११

४– दादू राम अगाध है, वेहद लख्या न जाइ।
आदि अत नहि जाणियै, नाव निरतरि गाइ ॥ १९

५– सुमिरण को अग–
दादू सिरजन हार के, केते नाँव अनन्त।
चिति आवै सो लीजियै, यों साधू सुमिरै सत ॥ २३

६– दरिया यह ससार है, राम नाव निज नाव।
दादू ढील न कीजियै, यहु औसर यहु डाव ॥ ३०

७– पूजणिहारे पासि है, देही माँहै देव।
दादू ताको छाड़ि करि, बाहरि मांडी सेव ॥ २६८

मे ही बता कर यह सिद्ध किया कि प्रत्येक शरीर के भीतर ही वह तत्त्व प्रतिष्ठित है, किन्तु दुनियाँ देख नही पाती। साधक को उस निराकार अविनाशी की सेवा मे ऐसा तन्मय हो जाना चाहिए कि अन्य समस्त वस्तुओ का विस्मरण हो जाय, किन्तु सेवा का ध्यान अवश्य रहना चाहिये—उसे भी विस्मृत न कर देना चाहिए। तभी राम तत्त्व का ज्ञान सम्भव है।[1] साधना की इस अवस्था मे पहुँच जाने पर सेवक और साई की सम्बन्ध-मर्यादा उलट जाती है। तब साँई सेवक के वश मे हो जाता है और सेवक के दरबार मे साँई स्वय सेवा करने लगता है। किन्तु इसके लिए सेवक को अपनी इन्द्रियो और गुणो का परिवार साँई को सौंपना पडता है।[2] दादूजी की सेवा का प्राण है प्रेम। साँई के प्रति सच्चा प्रेम-भाव ही उसकी सेवा है, उपासना है। प्रेम-भावना की पालकी मे जब आत्मा-रूपी वधू आकर बैठ जाती है तो उस प्रियतम परमात्मा के साथ प्रेम-क्रीडा मे जो आनन्द प्राप्त होता है उसका वर्णन करना कठिन है।[3] इस प्रकार मन और पचेन्द्रियो को उस परमात्मा मे लगाये रखने से साधक सर्वदा प्रेम-रस मे डूबा रहता है तथा त्रिभुवननाथ सदैव उसके समक्ष रहते हैं।[4] मन को उस ब्रह्म मे लगा देने से मन की समस्त दासियाँ इन्द्रिया भी उसी ओर लगी रहती हैं, अत पहले मन को उसकी ओर लगाना चाहिए। जहाँ मन जायेगा उधर ही नेत्र भी जायेंगे, और नेत्रो के उस ओर लग जाने पर आत्मा का उधर लग जाना सहज हो जाता है,[5] क्योकि नेत्र ही वाह्य दृश्यो मे रम कर चित्त की वृत्तियो को भी विक्षिप्त कर देते हैं। साधना की इस अवस्था मे पहुँच कर साधक और साध्य उसी प्रकार एक हो जाते हैं जैसे पाला और पानी एकीभूत हो जाते है।[6]

१– सेवग बिसरै आपको, सेवा बिसरि न जाय।
दादू पूछै राम को, सो तत कहि समझाइ ।। २६८

२– दादू सेवग साईं बस किया, सौंप्या सब परिवार।
तब साहिब सेवा करै, सेवग के दरबार ।। २७१

३– प्रेम लहरि की पालकी, आतम बैसे आइ।
दादू खेलै पीव सौं, यहु सुख कह्या न जाइ ।। २७६

४– दादू भीगै प्रेम रस, मन पचो का साथ।
मगन भये रस में रहे, तब सन्मुख त्रिभुवन नाथ ।। २८५

५– जहाँ राम तह मन गया, मन तहँ नैना जाइ।
जहँ नैना तहँ आत्मा, दादू सहजि समाइ ।। २६१

६– दादू जब दिल मिला दयाल सो, तब अतर कुछ नाहि।
ज्यों पाला पाणी को मिल्या, त्यो हरिजन हरि माहि ।। ३०४

राम-रस का एक वार स्वाद प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसे कितना ही पीजिये तृप्ति नही होती, प्यास बढती ही जाती है।[1] अतृप्ति की इस दशा मे तो साधक की इच्छा होने लगती है कि दो श्रवणो के स्थान पर अपार श्रवण हो जायँ तथा एक रसना के स्थान पर अनेक रसनाएँ हो जायँ। इतना ही नही, रोम-रोम रसना वन जाय, जिससे अनन्त श्रवण और अनन्त जप हो सके।[2] सगुणोपासक गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी 'राम-चरित-मानस' मे पार्वती द्वारा भगवान शकर से इसी अतृप्ति को व्यक्त कराया है। वहाँ रघुवीर की कथा-सुधा को मन श्रवण-घटो से पीता है किन्तु अघाता नही।[3] अविनाशी का इस प्रकार परिचय पा लेने तथा राम-रस के पी लेने से साधक को मृत्यु से मुक्ति मिल जाती है, क्योकि इससे साधक उसी परमात्मा का अग बन जाता है जो स्वय अविनश्वर है। अविनाशी का अग वन जाने से साधक भी अविनाशी अथवा अमर्त्य बन जायेगा।[4] लययोग-साधक का परमात्मा मे एकरूप ध्यान लगा रहना चाहिए। इसका तार भग न हो। यदि जीवित दशा मे यह तार न टूटे तो मरण के उपरान्त भी यह तार नही टूट सकता और परमात्मा से आत्मा मिल जायेगी।[5] इस लययोग के लिए आवश्यक है कि शरीर, मन, श्वास तथा पचेन्द्रियो को अपने अधीन करके सबो को परमात्मा के ध्यान मे लगा दिया जाय।[6] मन को सहज (निर्द्वन्द) तथा शून्य (निर्विकल्प) की दो दशाओ मे

१– परचै को अग—
ज्यों ज्यों पीवै राम रस, त्यों त्यो बढै पियास।
ऐसा कोई एक है, विरलै दादू दास॥ ३२१

२– दादू जैसे श्रवणा दोइ हैं, ऐसे हूहि अपार।
राम कथा रस पीजिये, दादू बारम्बार॥ ३१७
रोम रोम रस पीजिये, ऐसी रसना होइ।
दादू प्यासा प्रेम का, यों बिन तृप्ति न होइ॥ ३२४

३– राम चरित मानस, उत्तरकाण्ड—
नाथ तवानन शशि स्रवत, कथा-सुधा रघुवीर।
श्रवन पुटन मन मान करि, नहिं अघात मति धीर॥

४– परचै पीवै राम रस, सो अविनाशी अग।
काल मीच लागै नहीं, दादू साईं सग॥

५– लै को अग—
दादू लौ लागी तब जानिये, जे कबहू छूटि न जाइ।
जीवत यौं लागी रहै, मूवा मझि समाय॥ २

६– तन मन पवना पच गहि, निरजन ल्यो लाइ।
जह आतम तह परमात्मा, दादू सहजि समाय॥ ५

रखने से समाधि की दशा प्राप्त हो जाती है। समाधि का रस (आनन्द) प्राप्त हो जाने पर काल का भय समाप्त हो जाता है।[1] दादू जी से प्रश्न किया गया कि किस मार्ग का अवलम्बन किया जाय ? इस पर द्वैत और अद्वैतवादियो का विवाद दादूजी ने वडी सुन्दर शैली मे शान्त कर दिया। द्वैतवादियो ने जीवात्मा और परमात्मा दोनो की स्थिति स्वीकार की किन्तु अद्वैतवादियो ने केवल ब्रह्म की सत्ता को मान्यता दी—शेष सव मिथ्या माना। परमात्मोपासना में दोनो की कठिनाई सामने आई। अद्वैतवादी ने द्वैतवादी से कहा कि यदि जीवात्मा की सत्ता पर विश्वास किया जाय तो जीवात्मा और परमात्मा मे अतर बना रहता है, अत दोनो को अपृथक् ही मानना चाहिये। द्वैतवादियो ने उत्तर दिया कि यदि जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न हैं तो उपासना में आनन्दानुभूति किस प्रकार होगी ?[2] इस पर दादूजी का मत है कि इस विवाद मे नही पडना चाहिये—एक और दो के चक्कर मे न पड कर साधक को लय (ध्यान) मे तल्लीन रहना चाहिए। इतना ही नही, उस स्वामी की उपासना मे वैसो ही एकनिष्ठा, स्थैर्य और दृढता होनी चाहिये जैसी पतिव्रता स्त्री मे होती है और ऐसी ही पतिव्रता से उसका पति अपार स्नेह रखता है।[3] सेवक को स्वामी किसी भी दशा मे रक्खे उसे उसी प्रकार प्रसन्नतापूर्वक रहना चाहिये, जिस प्रकार साध्वी स्त्री अपने पति की आज्ञानुसार ही आचरण करती है। आज्ञाकारिता ही उसकी टेव होती है।[4] दादूजी इसी प्रसग मे चतुर्विधा भक्ति का निरूपण इस प्रकार

१– सहज सुनि मन राखिये, इन दोन्यू के माँहि।
लै समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नाँहि ।। १०

२– लै को अग–

जव लग सेवग तन धरै, तव लग दूसर आइ।
एकमेक ह्वै मिलि रहै, तौ रस पीवन थै जाइ ।। ६१
ये दून्यू ऐसी कहै, कीजै कौण उपाय।
ना मैं एक न दूसरा, दादू रहु ल्यो लाय ।। ४२

३– निहिकर्मी पतिव्रता को अग–

मन चित मनसा पलक मे, साँई दूरि न होइ।
निहकामी निरखै सदा, दादू जीवन सोइ ।। २७
यहु व्रत सुन्दरि लै रहै, तौ सदा सुहागिन होइ।
दादू भावै पीव को ता समि और न कोइ ।। ३१

४– पतिव्रता ग्रृह आपणै, करै खसम की सेव।
ज्यों राखै त्यों ही रहै, आज्ञाकारी टेव ।। ३५

करते हैं। अपने अह के अस्तित्त्व सहित उपासना से सालोक्यमुक्ति, महत्त्व की उपासना से सामीप्य, अव्याकृत अभेदवृत्ति उपासना से सारूप्य मुक्ति तथा विराट् की उपासना से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है।[1] दादूजी के अनुसार सच्चा साधक चतुर्वर्गों की आकाक्षा नही करता, वह केवल राम मे रत रहता हैं। उसके लिए अष्ट-सिद्धियो और नव-निधियो का किञ्चित् मूल्य नही है।[2] गोस्वामी तुलसीदासजी भी इन वर्गो के स्थान पर राम के चरणो मे रति चाहते हैं।[3]

ससार और माया–अविद्या के स्वप्न मे पडा हुआ प्राणी इस ससार को सत्य मानता है, किन्तु जब अविद्यारूपी स्वप्न के अवसान मे ज्ञान जाग्रत हो जाता है तो इस ससार के मिथ्यात्त्व का बोध हो जाता है।[4] यह ससार जो मिथ्या मृग-मरीचिका हैं उसे जल समझ कर उसमें आसक्त होना प्राणियो के लिये अधिकाधिक आसक्ति का कारण बन जाता है।[5] यह ससार माया का रूप है। जिधर दृष्टि डालिये उधर ही मिथ्या वस्तुयें दृष्टिगोचर होती हैं। अत हमे चाहिये कि उस अनूप तत्त्व परमात्मा की ओर दृष्टि लगावें।[6] इस ससार में प्राणियो के लिये दो प्रकार के रस हैं—एक माया-रस दूसरा राम-रस। माया रस का पान करने से कोमल नवनीत जैसा मन पाषाणवत् जड हो जाता है तथा राम-रस का पान करने से पाषाण की भाति कठोर चित्त नवनीत जैसा कोमल बन जाता है।[7] बेचारा यह ससार माया के कूप में निपतित होता जा रहा है। उस माया

१– सालोक सगति रहै, सामीप सनमुख सोइ।
सारूप सारिखा भया, सायोज एकै होइ॥ ८६

२– राम रसिक बांछै नहीं, परम पदारथ चार।
अठ सिध नव निध का करै, राता सिरजनहार॥ ८७

३– रामचरित मानस—
धर्म न अर्थ न काम रुचि, गति न चहौं निर्बान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह बरदान न आन॥

४– माया को अग–
सुपिने सब कुछ देखिये जागे तो कछु नाँहि।
ऐसा यहु ससार है, समझि देखि मन माँहि॥ १०१

५– झूठा झिलमिल मृग जल, पाणी करि लीया।
दादू जग प्यासा मरै, पशु प्राणी पीया॥ ८

६– दादू नैनहु भरि नहिं देखिये, सब माया का रूप।
तह लै नैना राखिये, जहां है तत्व अनूप॥ १३

७– माखण मन पाहण भया, माया रस पीया॥
पाहण मन माखण भया, राम रस पीया॥ २१

के अनेक रूप हैं—कभी वह कनक बन कर प्राणियो के मन मे तृष्णा का संचार करती है, कभी कामिनी के रूप में काम-तृष्णा जाग्रत करती है ।[1] कबीरदासजी ने भी 'एक कनक अरु कामिनी, दुर्गम घाटी दोय' कह कर यही भाव व्यक्त किया है । दादूजी ने ससार के प्रति घोर विरक्ति प्रकट की है । उनकी दृष्टि मे यह ससार झूठा है, परिवार झूठा है, स्त्री-पुरुष झूठे हैं, यह कुल और जातियाँ सब झूठी हैं, माता-पिता, वन्धु-भ्राता के सम्बन्ध भी झूठे हैं । शरीर झूठा है, सारे धन्धे झूठे हैं, सारे जाल झूठे हैं, अन्धापन मिथ्या है, जन्मान्धता मिथ्या है । मार्ग कैसे प्राप्त हो सकता है, अत मनुष्य इस ग्रह-परिवार को त्याग दे और मिथ्या जगत् को सत्य समझने वाले पागल जाग जा ।[2] माया पन्नगी समस्त जीवो को आगे पीछे उदरस्थ करती रहती है । किसी सतगुरु के उपकार से कोई भक्त इससे मुक्त हो जाते हैं ।[3] दादू जी ने माया और भक्ति इन दो स्त्रियो की कल्पना की है और यह बताया है कि जहाँ उस निरञ्जन की भक्ति होती है वहाँ चार फल, अष्ट सिद्धि और नौ निधिया चेरी वन कर आती हैं तथा माया बेचारी दासी बन कर भक्ति का मुह ताका करती हैं ।[4] तुलसी ने भी अपने रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में भक्ति और माया इन दो स्त्रियो को ज्ञान-पुरुष के साथ प्रस्तुत किया है और यह सकेत किया है कि यदि किसी व्यक्ति के पास ज्ञान है तो माया का प्रभाव पड सकता है क्योकि ज्ञान पुरुष है,

---

१– दादू बूडि रह्या रे बापुरे, माया गृह के कूप ।
मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना विधि के रूप ।। ३९

२– माया को अग–

दादू झूठा ससार, झूठा परिवार, झूठा घरबार
झूठा नरनारि तहाँ मन मानैं ।
झूठा कुल जाति, झूठा पितु मातु झूठा वन्धु भ्रात,
झूठा तनगात सीत करि जानैं ।
झूठा सब बध, झूठा सब धध झूठा सब अन्ध,
झूठा चध कहा मधु छोनैं ।
दादू भागि झूठा सब घर त्यागि, जागि रे,
जागि देखि दिखाने ।। ४३

३– सांपणि एक सब जीव कौं, उचगै पीछै खाइ ।
दादू कहि उपगार करि, कोइ जन ऊबरि जाइ ।। ६८

४– चारि पदारथ मुक्ति बापुरी, अठ सिद्धि नव निधि चेरी ।
माया दासी ताके आगै, जह भक्ति निरजन तेरी ।। ९८

माया स्त्री है। पुरुष पर स्त्री का प्रभाव होता ही है किन्तु यदि ज्ञान के स्थान पर भक्ति है तो माया का प्रभाव नही चल सकता क्योकि भक्ति भी स्त्री और माया भी स्त्री, स्त्री स्त्री को देख कर नही मुग्ध होती।[1] कबीर ने माया का प्रभाव सुरपुर-नागपुर तक बताया। माया शिव के घर भवानी, ब्रह्मा के घर ब्रह्माणी तथा विष्णु के घर लक्ष्मी बन कर उन्हे लक्ष्य-भ्रष्ट करती रही। दादू ने भी इसी तथ्य का अनुमोदन किया है।[2]

भेष और पख— महात्मा दादू ने भेषो और पखो का अत्यन्त तर्क-सम्मत और मधुर शैली मे निषेध किया है। वे अन्त करण की शुद्धता को ही विशेष प्रतिष्ठा देते हैं। तत्त्वविहीन वेषधारी को उन्होने कुम्भकार के आवे से निकले हुये चित्रकारी किये हुये कलश से उपमा दी है। जिस प्रकार बाहर से अनेक प्रकार के मनमोहक चित्र उस कलश मे चित्रित होते है किन्तु उसके भीतर कुछ भी नही है, उसी प्रकार वेष बनाने वाले उस व्यक्ति का वेष पूर्णत अर्थहीन है जिसमें तात्त्विक ज्ञान का अभाव है।[3] सच्चे साधू और वेष बनाने वाले स्वागी मे धरणी-आकाश का अन्तर है क्योकि एक आत्म-तत्त्व के अन्वेषण मे अपनी साधना को लगाता है, दूसरा मिथ्या जगत के भोग मे अपने भेष का उपयोग करता है।[4] दर्शनी, जोगी, जगम, सेवडे, बोध-सन्यासी और शेख सभी कपट-वेश बनाये लोक-वचना करते हैं।[5] अत दादूजी के मत से इन इन्द्रियपरायण भेषो से मुक्त होकर गुरु के द्वारा दिये गये आत्म-परिचयार्थ उपदेश को ही गुदडी मानना चाहिये, नामचिन्तन रूप शब्द ही भेष बनाना है। साधक की आत्मा ही अतीत (साधु) है। अलख (ब्रह्म) की प्राप्ति का यही मार्ग है। दादूजी

१— मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह चरित अनूपा।

२— ब्रम्हा विष्णु म्हेश लो, सुरनर उरझया।
विष का अमृत नाव धरि, सब किनहू खाया ॥ १८३

३— भेष को अग—
कोरा कलश अवाह का, ऊपरि चित्र अनेक।
क्या कीजै दादू वस्तु बिन, ऐसे नाना भेष ॥ ५

४— भेष को अग—
स्वागि साधु बहु अतरा, जेता धरणि अकास।
साधू राता राम सो, छाडि जगत की आस ॥ १४

५— जोगी जगम सेवडे, बोध सन्यासी सेख।
षट् दरसन दादू राम बिन, सबै कपट के भेष ॥ ३२

साधना में वाह्याडम्बर को किञ्चित् स्थान नही देते। वे पक्षातीत साधना के पक्षपाती हैं। जाति-पाति, वर्ग, सम्प्रदाय उनकी दृष्टि मे माधना मे वाधक है। हिन्दू-मुसलमान, यह मानव-कल्पित वर्ग दादूजी की दृष्टि मे भ्रम मात्र है। इनमें कोई मार नही है। हिन्दू कहता है मेरा मार्ग वरेण्य है, मुमलमान अपने को श्रेष्ठ वताता है किन्तु इन दोनो पक्षो से परे ब्रह्म-ज्ञान है।[१] हिन्दू और मुसलमान दोनो इन मिथ्या पक्षो की आराधना मे लगे हैं, उधर साई सत्य की आराधना का आकाक्षी है—ऐसी दशा मे इन पक्षो मे किसे स्वीकार किया जाय?[२] ससार मे अगणित पक्ष मनुष्य ने निर्मित किये है। जितने पक्ष है उतने ही प्रकार के ब्रह्म है। पूर्ण ब्रह्म को त्याग कर पक्षो ने ब्रह्म को विभक्त कर उसे खण्ड-खण्ड कर दिया है। इन पक्षो ने ब्रह्म की अखण्डता को भ्रमवश अपने लिए नष्ट कर रखा है।[३] इस प्रकार दादूजी अपने मत पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि "यदि हमारी इस धारणा से लोग रूठे तो रूठें, हमने जैसा जाना है वैसा ग्रहण किया है।[४]" यदि हम महात्मा दादूदयाल की साधना के सम्बन्ध मे निष्कर्ष रूप मे कहना चाहे तो कह सकते है कि उन्होने वहिर्मुखी साधना के आडम्बर का खण्डन कर अन्तर्मुखी साधना पर वल दिया। माला के भजन के स्थान पर ईश्वर-चिन्तन को महत्त्व दिया। उनके विचार से निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है। जिसका अन्त करण आत्म-स्वरूप की ओर लगा है वही साधक 'साचा' वैष्णव है। सुवुद्धि भूमि अर्थात् स्थितप्रज्ञ-बुद्धि है वही शुद्ध भूमि है। वासनारहित वृत्ति की दशा ही सन्तोष-स्थान है। समष्टि का आधार चेतन जो सबका आधार है, उसी का चिन्तन मूल मन्त्र है। शुद्ध मन का अन्त प्रवाह ही माला है। सद्गुरु का सच्चा उपदेश ही तिलक है। साधक का सत्य के आश्रय का अपरित्याग ही सयम है। अखण्ड ब्रह्मचर्य की रक्षा ही पवित्रता है। वृत्ति की एकाग्रता ही धोती (हठयोग की एक क्रिया) है। मानव-शरीर ही पूजा के जल का कलश है। आसक्तिरहित

१– साँच को अग–
　दादू हिन्दू मारग कहै, हमारा तुरक कहै यह मेरी।
　कहा पथ है कहो अलह का, तू तौ तैसी हेरी॥ ४८
२– दादू दुई दरोग लोग को भखै, साई सांच पियारा।
　कौण पथ हम चलै कहो औघू, साघू करो विचारा॥ ४६
३– खण्ड खण्ड करि ब्रह्म को, पखि पखि लीया वाँटि।
　दादू पूरण ब्रह्म तजि, वधे भरम की गाँठि॥ ५०
४– जे हम जाण्यां एक करि, तो काहे लोक रिसाइ।
　मेरा था सो मे लिया, लोगों का क्या जाइ॥ ६०

शुद्ध प्रेम ही इस कलश का जल है। वृत्ति मे सत्वोद्रेक स्थिर करना ही मदिर बनाना है। अविद्या, माया तथा उपाधि-रहित शुद्ध चेतन की प्रतिष्ठा ही इस मदिर की प्रतिष्ठा है। इन्द्रियो को अन्तर्मुख करना तुलसी-दल चढाना है। अनन्त प्रेम पुष्पार्पण और चित्त की सचेष्टता ही चदन है। नव प्रकार की भक्ति ही शम है। अगाध श्रद्धा ही पूजा है। सकल्प-रहित बुद्धि ही पूजा-पात्र है। ध्वनि ही घण्टा है और आनन्द की अनुभूति ही आरती है। दया लयवृत्ति की स्थिरता अर्थात् समाधि-दशा है। साधक-सन्त-समाज ही तीर्थ है। आत्मोपदेश ही यहाँ दान है, आत्मचिन्तन ही साधक के लिए व्रत है। अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना इन षट्कर्मों की जगह सत्य-ज्ञान ही षट्गुण स्थानीय है। अचचल वृत्ति मे स्वरूप-स्थिति ही अजपाजाप है। स्वरूप-निश्चय साक्षात् परिचय रूप अनुभव ही साधक के आचार हैं। सार्वभौम आत्मा की उपादेयता से भिन्न किसी कर्म का व्यापार न करना ही मर्यादा है। अपना साक्षात्कार ही इस पूजा का परिणाम है।[1] इस विधि से यदि साधक अन्तर्पूजा का विधान करे तो निश्चय ही प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार हो जायेगा।[2] इस अन्त समाधि का निर्देश न केवल निर्गुण परम्परा के सन्तो ने किया प्रत्युत सगुण उपासक गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी किया। रावण की विपुल सेना तथा राम को सैन्य-सज्जारहित देख कर विभीषण अधीर हो गया। उसके हृदय मे राम के प्रति अगाध श्रद्धा थी। प्रेमनिष्ठ व्यक्ति प्रिय की सफलता पर सदैव सशकित रहता है। यही विभीषण की दशा थी। उसने राम से प्रश्न किया कि न तो आप के पास रथ है और न पादत्राण ही है, तब ऐसे बलवान वीर रावण को आप किस प्रकार जीत सकेंगे? राम ने उत्तर दिया कि विभीषण! यहाँ केवल

१– दादू बानी–परचै को अग .—

सत्यराम आत्मा वैश्नो, सुबुधि भोमि सतोष-थान, मूलमत्र मन माला, गुरुतिलक सति सजम, सील सुच्या, ध्यान धोवती, काया कलस, प्रेम जल, मनसा मदिर, निरजन देव, आत्मा पाती, पुहुप प्रीति, चेतना-चदन, नवधा नांव, भाव पूजा, मति पात्र सहज समर्पण, सबद घटा, आनन्द आरती, दया प्रसाद, अननि एकदसा, तीर्थ सतसग, दान उपदेस, व्रत सुमिरण, षटगुण ग्यान, अजपाजाप, अनभै आचार, मरजादा राम, फल दरसन, अभि अन्तरि सदानिरतरि, सति सोज, दादू वर्तते आत्मा उपदेश अन्तरिगति पूजा ॥ पद २३६ ॥

२– वहीं– पिव सौं खेलो प्रेमरस, तो जियरे जक होइ।
दादू पावै सेज सुख, पडदा नाहीं कोय ॥२३७

एक शरीरधारी रावण के सहार का प्रश्न नही है। समार मे व्याप्त अशरीरी रावण वस्तुत दुर्विजेय है, उसका पराभव इस बाह्य सैन्य-सज्जा द्वारा नही किया जा सकता। उसके विनाश के लिए आभ्यन्तर रथ का निर्माण करना होगा। शौर्य एव धैर्य उस रथ के दो चक्र होगे, सत्य एव शील ही ध्वजा एव पताका बनेंगे, बल, विवेक, इन्द्रिय-दमन और परोपकार ये चार अश्व होगे जिनको क्षमा, दया और समता की त्रिरज्जु से नियत्रित करना होगा। ईश-भजन ही वहाँ चतुर सारथी होगा। वैराग्य का चर्म और सतोष की कृपाण होगी। दान परशु, बुद्धि प्रचण्डशक्ति तथा श्रेष्ठ विज्ञान ही कोदण्ड होगा। सयम और नियम ही बाण बनेंगे। निर्मल स्थिर चित्त ही तूणीर होगा। ब्राह्मण-पूजा अभेद्य कवच होगा। इस प्रकार निर्मित धर्म-रथ जिम व्यक्ति के पास होगा उसके लिए समार का कोई शत्रु अविजेय न होगा।[१] तुलसीदासजी का यह सकेत भी दादूजी के द्वारा प्रवर्तित अन्तर्पूजा से पूर्ण साम्य रखता है। निर्गुण-सगुण दोनो धाराओ के महात्मा चित्त-शुद्धिकरण को ही प्रधान मानते हैं।

कबीर की भाँति ही दादू पर भी ग्रथज्ञान का उतना प्रभाव नही था जितना सन्त-संग, सत-वचन तथा स्वानुभूति पवित्राचार का।[२] अत यहाँ पर दादूजी के सिद्धान्तो की पृष्ठभूमि के प्रसग मे न तो हम शास्त्रो-पनिपद्-ज्ञान का विशेष योग मानने के पक्ष मे हैं और न तत्कालीन विविध योगाचार, तत्र-साधना, शैव मत, वैष्णव मत, शाक्त प्रभृति सम्प्रदायो का कोई विशेष प्रभाव स्वीकार करने के पक्ष मे है। हाँ, दादूजी ने उक्त समस्त मतो, सम्प्रदायो एव ग्रन्थ-ज्ञान के अतिवादी स्वरूपो का खण्डन अवश्य किया। निर्गुण सन्तो के विचारो तथा हमारे यहाँ के उपनिपद् और शास्त्र-साहित्य मे प्रतिपादित सिद्धान्तो मे कतिपय ऐसी सगतियाँ, ऐक्य एव परस्पर पोषक उक्तियाँ प्राप्त होती है, जिनके कारण कभी-कभी हम निर्गुण सन्तो के विचारो पर भारतीय उपनिपद् साहित्य का सीधा प्रभाव मान लेते हैं। चाहिये यह कि हम इन निर्गुण सन्त साधना एव अन्य सम्प्रदायो की धर्म-साधना के सैद्धान्तिक पक्षो का तुलनात्मक विवेचन करें। कबीरदास बहुश्रुत एव बहुज्ञ थे— उन पर भले ही कुछ ऐसे

१– श्री रामचरित मानस– लका काण्ड।

२– "दादूदयाल की साधना अनुभूति पर ही आश्रित है और इसी कारण इसके साधन व सिद्धि दोनों मे से किसी का भी विवरण नहीं दिया जा सकता।"

—उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० ४४५

प्रभाव लक्षित हो, किन्तु दादूजी पर तो कबीर, नानक, रैदास आदि का ही अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। दादूजी के समय मे तथा इनके उपरान्त तो साधको की दृष्टि पूर्णत गुरु-निष्ठ एव सम्प्रदाय मे केन्द्रित हो गई थी। दादूजी स्वय, अकेले गुरु-ज्ञान को सिद्ध बना देने मे पूर्ण समर्थ मानते थे। कबीर के समसामयिक तथा परवर्ती सन्तो की सम्पूर्ण आस्था अपने गुरु पर परिसीमित हो गई थी। प्राय सन्तो की बाणियो मे उपलब्ध सारा साहित्य एक-सा प्राप्त होता है। कबीर, दादू, सुन्दरदास, रज्जब तथा दादू के कई अन्य शिष्यो की वाणियो मे प्राय एक से विचार प्राप्त होते हैं। कबीर के बाद तो हम देखते हैं कि निर्गुण परम्परा के सभी सन्तो की बाणियो मे एक ही शब्दावली के अग-शीर्षक मिलते हैं। इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि सन्त अपने गुरु अथवा पूर्ववर्ती साधक से ही प्रभावित रहते थे–उपनिषद् अथवा सस्कृत धर्म-ग्रन्थो के ज्ञान मे न तो वे पारङ्गत ही होते थे और न इसकी आवश्यकता का ही अनुभव करते थे। यह होते हुए भी विभिन्न मतो और सम्प्रदायो की साधना तथा रज्जबजी की साधना-पद्धतियो का तुलनात्मक विवेचन हम अगले अध्यायो मे प्रस्तुत करेगें। यहाँ तो हमे दादूजी तथा उनकी मान्यताओ का साधारण सक्षिप्त परिचय देना अभीष्ट था। यहा दादू-पन्थ मे रज्जबजी की स्थिति एव महत्त्व पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा।

(ग) दादू-पन्थ और रज्जबजी—

हम रज्जबजी तथा उनके गुरु महात्मा दादूदयाल के वैयक्तिक सम्बन्धो पर प्रथम अध्याय मे यथेष्ट प्रकाश डाल चुके है। यहा पर दादू सम्प्रदाय मे रज्जबजी के स्थान और महत्त्व पर विचार करना है। दादू सम्प्रदाय मे १५२ महात्मा हुये – यद्यपि महात्माओ की इस सख्या पर विद्वानो मे मतभेद रहा किन्तु श्री दादू महाविद्यालय, जयपुर से प्रकाशित 'श्री दादू महाविद्यालय रजत जयन्ती ग्रन्थ' की भूमिका मे प्रस्तावित दादू सम्प्रदाय के सक्षिप्त इतिहास मे सप्रमाण बताया गया है कि 'शिष्य-प्रशिष्यो का' स्वतत्र विवरण राघोदासजी की भक्तमाल मे विशेष रूप से किया गया है। हृदयरामजी व लालदासजी कृत दो शिष्य-नामावलिया भी बनी हुई है, इनसे सिद्ध होता है कि महाराज के जितने शिष्य हुए उनमे १५२ प्रधान शिष्य थे। कथानक प्रचलित है कि उनमे सौ तो ऐसे वीतरागी थे जिन्होने व्यवहार सत्ता का प्राय त्याग ही कर दिया था। वे अनवरत आत्म-चिन्तन मे ही सलग्न रहते थे। उक्त ग्रन्थ की भूमिका मे एक स्थान पर ५२ तथा दूसरे स्थान पर १५२ शिष्यो की नामावली प्रस्तुत की गई है जिसमे क्रमश. नवम तथा दशम स्थान रज्जबजी का है। रज्जबजी

के प्रतिभाशाली तथा साधना - गरिमा - मण्डित व्यक्तित्व की एक झलक स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा के इन शब्दो मे हम प्राप्त कर सकते है, "रज्जबजी का अनुभव और ज्ञान तथा सग्रह विशाल था। उनकी ज्ञान-पिपासा, उनका तप, उनका भजन, उनका शास्त्रज्ञान, कथा-कीर्तन, सत्सग और प्रभाव बहुत ही बढ-चढे थे। वे जन्मसिद्ध महात्मा थे। वे पूर्व जन्म से ऐसा सस्कार लेकर आये थे कि 'क्षिप्रम्भवति धर्मात्मा' शीघ्र ही वे ससारी से त्यागी हो गए, मानो भगवत्-कृपा का भण्डार साथ ही था और गुरु के क्षणिक सत्सग से ही सांसारिक मायाजाल से विरक्त हो गये, जैसे लोहा पारस के स्पर्शमात्र से तुरन्त स्वर्ण हो जाता है। वे विवाह-वेश मे 'बनडा' बने हुये ही 'बाबाजी' बन गये। यह बडे ही आश्चर्य की घटना उनके जीवन मे हुई। वे योगी थे और अति दीर्घजीवी होकर शरीर को आश्चर्यजनक रीति से उन्होने छोडा था।"[1] पुरोहितजी इसी प्रसग मे आगे लिखते है, "उनके जीवन-काल मे ही उनका मान, उनके गुरु को ही नही, सर्व शिष्य-मण्डली, भक्तो आदि सब को हो गया था। उनका बचन बहुत ही गम्भीर, सारभरा, अनुभवसिद्ध और प्राय अलौकिक तथा चमत्कारी है। . . उनके नुकीले उपदेश चित्त-कमल के कोमल पत्रो में चुभ जाते हैं।"

इसमें किञ्चत् भी अतिशयोक्ति नही कि दादू-सम्प्रदाय मे साधना एव मति-वैदग्ध्य की दृष्टि से महात्मा दादूदयाल के दो ही शिष्यो का उल्लेख होता है–रज्जबजी तथा छोटे सुन्दरदास। दोनो में अन्तर यही था कि रज्जबजी का आनुभूतिक ज्ञान प्रबल था और सुन्दरदासजी का शास्त्रीय-ज्ञान। रज्जबजी की प्रतिभा और महिमा से प्रभावित होकर ही अनेक सन्तो ने उनकी शिष्यता महात्मा दादूदयाल के जीवन-काल मे ही स्वीकार कर ली। रज्जबजी के शिष्यो की चर्चा तो हम अन्यत्र करेंगे किन्तु यहा पर रज्जबजी के व्यक्तित्व के प्रभाव की ओर न्यूनाधिक सकेत करना आवश्यक है। रज्जबजी के कतिपय शिष्यो ने तो उनकी महिमा का अतीव विमुग्ध वाणी मे चित्रण किया है। चैनदास, रामदास, खेमदास, कल्याणदास, मोहनदास प्रभृति ऐसे ही शिष्य है। रज्जबजी की इस ख्याति, प्रभाव और कीर्ति का श्रेय उनके तपोमय व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा प्रणीत सरस अनुभूतिमूलक दृष्टान्तो से मण्डित उनकी 'बाणी' थी। दादू-सम्प्रदाय में कोई अन्य कृति ऐसी नही है जो आध्यात्मिक अथवा साहित्यिक किसी भी दृष्टि से रज्जब-बाणी की तुलना में ठहर सके। सम्प्रदाय मे रज्जब-बाणी का दादू-वाणी से किसी प्रकार भी कम पारायण नही होता था। कहा तो यह जाता

१– 'सतबाणी' मासिक पत्र, अक १, मगल प्रेस, जयपुर मे पुरोहित हरिनारायण शर्मा का 'महात्मा रज्जबजी,' शीर्षक लेख।

है कि गुरु-वाणी को रज्जब-वाणी कही प्रभावहीन न बना दे इसलिए दादूजी के कुछ भक्त रज्जब-वाणी के पारायण को दादू-शिष्यो के लिये श्रेयस्कर नही मानते थे। तथापि कुछ शिष्य रज्जब-वाणी मे अगाध आस्था रखते थे। राणीला के ऊदरा गाव के स्वामी नारायणदासजी के शिष्य हरिदास रज्जब-वाणी के परम भक्त थे। विश्रुत कवि और पडित होने के नाते वह अपनी रचनाओ मे भी रज्जबजी का भक्तिपूर्वक स्मरण करते थे।[1] रज्जबजी की प्रतिभा की चर्चा करते हुये पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है, "इन्हे कथा-वार्ता करने का बहुत अभ्यास था और दृष्टान्तो के प्रयोग मे तो ये इतने कुशल थे कि इनकी बराबरी का कोई कदाचित् ही मिलेगा।"[2] पुरोहितजी ने भी इसी तथ्य के पोषण मे लिखा है, "रज्जबजी दृष्टान्त के बहुत प्रेमी थे। कथा कहते, तब दृष्टान्तो की भरमार कर देते और कथा उनकी परम सुमधुर, गम्भीर और दृष्टान्त और कथानको से विभूषित हो जाती थी।"[3] रज्जबजी की इसी प्रतिभा पर मुग्ध होकर उनके एक शिष्य ने कुछ सवैये लिखे है जिनमे से दो हम यहा प्रस्तुत कर रहे है—

ज्यू वसि मत्र के आवत वीर, जहा जस दीन तहा तस मूके।
ज्यू धर्मराज के काज करे सब, दूत अनेक रहे ढिग ढूके॥
ज्यू नृप के तपतेज ते कम्पत, पास रहे पर आइ कहूके।
ऐसे ही भाँति सबै दृष्टान्तहि, आगे खडे रहे रज्जब जू के॥ १

साँझ समै ज्यू सबै सुरही, घरिआत चली जस वच्छ के रागै।
भूपति को भय मानि दुनी जु, अनीति बिसारि सुनीति सु लागै॥
मोहन ज्यू वसि मत्र के बीर, प्रमाति चटाचट सार कु जागै।
योंहि कथा के समै दिष्टान्त, सु आई रहे फिरि रज्जब आगै॥ २

दादू सम्प्रदाय मे दो महात्मा, छोटे सुन्दरदास और निश्चलदास, ऐसे हुये जिन्हे बहु-अधीत कहा जा सकता है। ये दोनो महात्मा वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनमे से सुन्दरदासजी रज्जबजी की प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित थे। इसीलिये यद्यपि वे "फतहपुर शेखावाटी मे बस गये थे, परन्तु बीच-बीच में आकर रज्जबजी के सत्सग के लिये सागानेर चले जाते थे और वहा स्थान भी था। अपने गुरु की वाणी के अर्थ और मर्म को सुन्दरदासजीने अधिकतर रज्जबजी से और जगजीवणजी से समझा था।"[4] इतना ही नही "सुन्दरदासजी

१– सतवाणी, अक १ में पुरोहित हरिनारायण शर्मा का लेख।
२– उत्तरी भारत की सत परम्परा, पृ० ४२६।
३– सतवाणी, अक ३, में पुरोहितजी का लेख।
४– सुन्दर ग्रथावली, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० ५७

ने रज्जवजी से बहुत ज्ञान-लाभ किया था और उनकी उक्तियो, विचारो और कविताओ मे रज्जवजी की झलक पडती है। रज्जवजी भी सुन्दरदासजी के शास्त्रीय ज्ञान और योगाभ्यास से अवश्य लाभान्वित हुये होगे।[1] रज्जबजी से सुन्दरदासजी परम प्रीति मानते थे। सम्वत् १७४२ के बाद एक बार सुन्दरदासजी रज्जबजो के दर्शनार्थ पधारे परन्तु उनके ब्रह्मपद प्राप्त होने का समाचार सुन कर अत्यन्त दुखी हुए। 'इस वियोग के समाचार से अपने परम इष्टमित्र और ज्ञान-भण्डार रज्जवजी के शरीरपात से उनके कोमल हृदय पर कुछ ऐसा आघात पडा कि वे तब ही से विरहविभोर हो रुग्ण होते चले गये।·· ·रज्जवजी की मृत्यु से व्यथित होकर सुन्दरदासजी थोडे ही दिन तक रोगग्रस्त रहे।·· वे परमसमाधिस्थ हो गये।'[2] न केवल सुन्दरदासजी को अपितु दादूजी के अनेक शिष्यो को रज्जबजी के निर्वाण पर हृदयविदारक क्षोभ हुआ। इससे यह परिचय मिलता है कि रज्जबजी ने अपने सतसुलभ कृपालु स्नेहोत्पादक स्वभाव से समस्त सतवृन्द को स्ववशीभूत कर लिया था। उनके शिष्यो ने उनके दस बारह थाभे (गद्दिया) चलाए और इनके पथ का नाम रजवावत पडा। रजवावत और दादू पथ में किसी प्रकार की सैद्धान्तिक भिन्नता नही हैं।

अपनी मौलिक प्रतिभा, स्वस्थ सुगठित शरीर तथा मृदु सरल वाणी सम्पन्न व्यक्तित्व द्वारा रज्जवजी दादू-सम्प्रदाय के शीर्षस्थ महात्मा माने जाते थे। दादू-जी स्वय इनसे बडा स्नेह रखते थे। दादू-सम्प्रदाय के विस्तार मे रज्जवजी का साधनाचार तथा उनकी सजीव मार्मिक रचनाओ ने अप्रतिम योग दिया था। वर्ग-भावना विरहित द्वेषरहित साधना तो उनमे साकार हो गई थी। निस्सदेह ऐसे प्रशस्त हृदय, विशालकाय एव दीर्घायु महात्मा ही मानवात्मा का मल दूर कर सकने मे समर्थ होते हैं।

दादू-सम्प्रदाय के सभी महात्मा रज्जवजी को दादूजी का गुणी, ज्ञानी, पराक्रमी एव अधिकारी शिष्य मानते थे।[3] रज्जवजी के प्रमुख शिष्य खेमदास ने तो रज्जवजी के अनन्त गुणो और शक्तियो का वर्णन किया है।

ज्ञान अनन्तरु ध्यान अनन्त हो, बुद्धि अनन्त दई दीनानाथै।
विवेक अनन्त विचार अनन्त हो, भाग्य अनन्त लिख्यो जेंहि माथै।

१– सुन्दर ग्रथावली, प्रथम भाग, भूमिका, पृ० ५९।
२– वही, पृ० ११७–१८।
३– श्री दादू जन्म लीला परची —
सिस्य एक रज्जब अधिकारी।
ज्ञानी गुनी सूर अति भारी॥

सिद्धि अनन्तरु निद्धि अनन्त, रिद्धि अनन्त रहै नित हार्थै।
सब बोल अनन्तरु पाप को, अत हो क्षेम कहैं गुरु रज्जब सार्थै ॥[1]

रज्जबजी के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की उक्तियाँ उनके कई शिष्यो ने तथा सह-साधको ने कही हैं। रज्जब-वाणी के भेंट के सवैये वाले अग मे आठ सवैयो मे रज्जबजी की प्रतिभा, ज्ञान-साधना, तप, उदारता और वैराग्य को लेकर सुन्दर चित्रण किया गया है। रज्जबजी विषयक जानकारी के आधार पर हम कह सकते हैं कि रज्जबजी का दादू-सम्प्रदाय मे वही महत्त्व है जो रामभक्ति शाखा मे गोस्वामी तुलसीदासजी का। तुलसीदासजी ने अपनी निजी वैयक्तिक साधना के साथ-साथ ऐसी विशद भक्ति-प्रेरक काव्य-कृतियाँ लिखी जो सहस्राब्दियो तक राम की भक्ति को तो प्रतिष्ठित बनाये ही रखेगी, काव्य-पिपासु जनो को चिरन्तन तृप्ति प्रदान करती रहेगी। रज्जबजी की मौलिक कृति 'वाणी' तथा नाना सन्तो की वाणियो की सार रूप मे सकलित एव सम्पादित कृति 'सर्वगी', इन विशाल कृतियो ने दादू सम्प्रदाय मे विशेष चेतना उत्पन्न करदो। रज्जबजी की वाणी का आद्योपान्त पारायण करने से हम सहज ही एक निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उसकी तुलना मे दादू-सम्प्रदाय के किसो सन्त की वाणो नही ठहरती। रज्जबजी के कवित्व की कतिपय विलक्षणताएँ ऐसी हैं जो उन्हे सामान्य साधक अथवा महात्मा से पृथक् एक विशिष्ट विभूतिमत्ता प्रदान करती हैं। उन विलक्षणताओ की सक्षेप मे हम इस प्रकार गणना कर सकते हैं—

(क) रज्जबजी ने पठानवशीय होकर भी निराकार निर्गुण भक्ति का प्रतिपादन किया।

(ख) रज्जबजी पठान होने के नाते दादू-सम्प्रदाय के सर्वाधिक बलिष्ठ, पराक्रमी तथा स्वस्थ शरीर के महात्मा थे।

(ग) वे अपने विवाह के लिए जब वर बने हुए जा रहे थे तो मार्ग मे दादूजी के उपदेश से विरक्त हो गये, बारात मे नही गये और महात्मा बन गये।

(घ) वे अपने विरक्त साधु-जीवन मे भी गुरु-उपदेश मान कर दूल्हे की पोशाक पहनते रहे।

(ङ) वे १२२ वर्ष जीवित रहे। इतनी दीर्घायु विरले हो महात्माओ को प्राप्त हुई।

१– जयपुर दादू महाविद्यालय के सग्रह में प्राप्त 'रज्जब वानी' के हस्तलिखित, "रज्जबजी के भेंट के सवैये" अग से।

(च) दृष्टान्तो और लोक-व्यवहार के प्रसगो की भूमिका मे अध्यात्म-निरूपण का उनमें अद्वितीय कौशल था।

(छ) रज्जबजी पठान होकर भी राजस्थानी और हिन्दी पर अच्छा अधिकार रखते थे।

(ज) रज्जबजी ने अपने गुरु द्वारा बताई गई विधि से एक जगल में जा कर प्राण विसर्जित किये।[1] अपनी इन्ही कतिपय विशेषताओ और विलक्षणताओ के कारण वे सब शिष्यो मे अत्यन्त सम्मानित, प्रिय और विश्वस्त थे। दादूजी अपने इस शिष्य का बहुत अधिक समादर करते थे और सदा ही रज्जबजी (जीकारे से) सम्बोधन करते थे।[2]



१– दादू वाणी, स्वामी मगलदासजी द्वारा सम्पादित सुमिरण को अंग—
हरिभजि साफिल जीवना, पर उपगार समाई।
दादू मरणा तहं भला, जहां पसु पखी खाई॥
कबीर मरना तह भला, जहां न अपना कोय।
माटी भखै जिनावरा, मुवा न रोवै कोय॥

२– सतवाणी, अक १, जयपुर में पुरोहितजी का लेख।

अध्याय ४

रज्जब साहित्य मे अध्यात्म और दर्शन

(क) रज्जबजी की आध्यात्मिक एव दार्शनिक अनुभूति; (ख) रज्जबजी का रजबावत-पथ; (ग) रजबावत और वैष्णव धर्म, (घ) रजबावत और शैव तथा शाक्त मत; (ङ) रजबावत और योग-दर्शन, (च) रजबावत और सूफी भावना।

(क) रज्जबजी की आध्यात्मिक एव दार्शनिक अनुभूति—

अध्यात्म क्या है ?—जब हम स्थूल पचतत्त्वो से लेकर महत्पर्यन्त सृष्टि को देखते है तो हमे उसमे चेतन तत्त्व के दर्शन नही होते। महत् के मूल को, जिसे प्रकृति अथवा अव्यक्त कहा जाता है, कोई चेतन सत्ता विकृति की ओर प्रेरित करती है तो हमें इस रचना मे एक प्रेरक चेतन तत्त्व का आभास होने लगता है, जिसे हम शून्य कहते हैं। उसकी भी दो अवस्थाएँ हैं—आकाश भी शून्य है और परम आकाश भी। आकाश के सूक्ष्म होने के कारण उसमे व्याप्य का गुण है परन्तु महाकाश मे इस आकाश की भी स्थिति है। जब हम प्रकृति के विकारो से घिरे रहते है तब मानो हमारा अस्तित्व, बुद्धि, मन, प्राण आदि से अभिभूत होकर भौतिक बन जाता है परन्तु जब हम इनसे अपने को पृथक् अनुभव करते हैं तो अध्यात्म मे प्रविष्ट हो जाते हैं।

दर्शन क्या है ?—बहुत्त्व और नानात्त्व से ओतप्रोत इस ब्रह्माण्ड के मूल मे कोई अपनी अपरिवर्तनीय सत्ता है, दर्शन का क्षेत्र इसी अन्तिम सत्ता का उद्-घाटन करता है। विज्ञान प्राकृतिक दृश्यो के विश्लेषण मे मग्न है परन्तु जब वह उस अभिव्यक्त अन्तिम सत्ता की ओर सकेत करने लगता है तो दर्शन की परिधि मे पहुँच जाता है। हमारे षड्दर्शन इस दृश्यात्मक जगत् पर विचार हुए अन्त मे वेदान्त की भूमिका मे विलीन हो जाते है जिसका प्रथम प्रश्न 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' और उत्तर 'जन्माद्यस्य यत' मे सवरण पाता है।

साहित्य और दर्शन मूलत भिन्न नही हैं। अन्तर इतना ही है कि दर्शन मे बौद्धिक प्रतिक्रियाएँ आविर्भूत होती हैं तथा साहित्य मे रागात्मक प्रतिक्रियाएँ जागृत होती हैं। दर्शन मे विचार की प्रधानता है, साहित्य मे भाव की। दर्शन में विचार-प्रसूत निष्कर्पों का मूल्य और साहित्य में भावविनिसृत अनुभूति का। परन्तु दोनो परस्पर अन्तरावलम्बित हैं। जिस काव्य

अथवा साहित्य में दर्शन का एकान्त अभाव होता है, उसमें शाश्वत तत्त्व की मात्रा कम होती है, वह सदैव मरणकल्प की स्थिति से पीडित रहता है। इसी प्रकार जो दर्शन भावना को नितान्त वहिष्कृत कर देता है वह विचारो का जड-तन्त्र मात्र वन कर रह जाता है। उसमें जीवन की प्रेरक शक्तियो का अभाव रहता है। वस्तुत भाव निरपेक्ष दर्शन अपनी तन्त्रात्मक प्रक्रिया (mechanical process) मे भले ही गतिशील दिखाई पडे, वह लोक-हृदय को प्रभावित करने मे सर्वदा असफल रहता है। ऐसा होते हुए भी दर्शन साहित्य नही है और न साहित्य दर्शन है। दोनो की अपनी विशेषताएँ हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि जिन विचारो और तत्त्वो की दर्शन वटी को सामान्य जन-समाज किसी प्रकार भी निगल न पाया, साहित्य ने उसे भाव-विगलित सरस अभिव्यक्ति का पेय वना कर सुविधा से सब के गले उतार दिया। इसे हम साहित्य की दर्शन पर विजय मानते है।

रज्जवजी के काव्य में दार्शनिक विचार-तत्त्व कवि की अत्यधिक रमणीय एव व्यापक अनुभूतियो का आश्रय पाकर बडे ही आकर्षक एव हृदयग्राही हो गये। उन्होने अपनी वाणी में अगणित लोक-प्रसगो की प्रशस्त भूमिका में जिन विपुल आध्यात्मिक एव दार्शनिक अनुभूतियो की अवतारणा की है, वे हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं। आचार की महिमा स्थापित करने वाला दर्शन ही धर्म का स्थापक होता है, 'आचार प्रथमो धर्म'। दर्शन और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। दर्शन धर्माधर्म का निर्णायक होता है। जो दर्शन अपनी विप्रतिपत्तियो द्वारा आचारकेन्द्रित धर्म को सकीर्ण, सकुचित, रूढ एव जड वना देता है वह दर्शन नही, अदर्शन माना जायेगा। दर्शन का तर्क कोरा वौद्धिक विलास नही है, वह एक ऐसा सम्वल है जिसके द्वारा मानव-हृदय जीवन की उदात्त वृत्तियो का अनुसरण करता है। जिस क्षण तर्क अपने इस काम को छोड देता है उसी क्षण उसे कुतर्क की सज्ञा प्राप्त हो जाती है। ससार के नाना धर्मों की अन्तश्चेतना का जब हम अध्ययन करते हैं तब हमें सर्वत्र तितिक्षा, आत्म-निग्रह, अपरिग्रह, त्याग एव परहित-निरति आदि जैसे भाव ही समस्त धर्मों मे एकसूत्रता स्थापित करते दीखते हैं। जो आचरण एक धर्म की दृष्टि मे निकृष्ट है वह दूसरे धर्म की दृष्टि में उत्कृष्ट नही। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि विश्व-धर्म के विशाल मच पर समस्त धर्म मानव-जीवन-नाट्य के आकर्षक पात्र वनते है तथा अपने सामञ्जस्यपूर्ण क्रियाकलाप द्वारा जीवन को अभीष्ट फलागम तक पहुँचा देते हैं। काव्य और दर्शन दोनो जीवन के प्रेरक सहचर हैं। मानव-हृदय को उसके अशेष सौन्दर्य के साथ व्यक्त करना उसे मधुर एव उदात्त

बनाना दोनो का प्रयोजन है, अत काव्य भी मानव-जीवन को उदात्त धर्म-भावना से अनुप्राणित करता है। रज्जबजी ने अपने काव्य में धर्म के उन समस्त उपकरणो का उपयोग किया है जो जीवन को सरस एव मगलमय बनाते हैं।

रज्जबजी ने कबीर और अपने गुरु दादूजी की विचार-परम्परा मे ही वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषद्, कुरान, कलाम आयत मे प्रतिपादित जटिल धर्म को विना उसे शास्त्रपरम्परा से च्युत किये सहज एव सामान्य जन-सुलभ बना दिया है। रज्जब वानी के बहुविध अगो का पर्यालोचन हमे यह कहने की सहज प्रेरणा देता है कि रज्जबजी ने धर्म-साधना की कोई दिशा अथवा स्थिति अस्पष्ट नही छोडी। निर्गुण सतपरम्परा मे सगुण उपासना की अपेक्षा माधुर्य भाव का प्राय अभाव है। उसका कारण यह है कि निर्गुणोपासक सतो ने ससार के प्रति सक्रिय विरक्ति की वृत्ति अपनाई। उनको यह ससार निस्सशय ही मिथ्या, मृगतृष्णा, गन्धर्व नगर, शीत कोट, पानी का बुद्बुदा, भोडल का भवन, क्षण भगुर, माया का मन्दिर प्रतीत हुआ। विविध रूपा सृष्टि की यह मोह-मयी छलना उन्हे अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। वे ससार को असार समझ कर इससे पूर्णत निस्सग भाव से रहने लगे। उनका प्रबल आग्रह इन्द्रिय तथा आसक्तियो से मुक्ति पाने पर था।

(ख) रज्जबजी का रजबावत पथ—

भारतीय सन्त परम्परा अपनी धार्मिक एव दार्शनिक अनुभूतियो में शकर के अद्वैतवाद से, वैष्णव धर्म के भक्ति तत्त्व से, शैवो एव नाथपथियो के प्राणयोग अथवा हठयोग से, सूफियो के ऐकेश्वरवाद और प्रेम की पीर से, बौद्धो के अहिंसा और करुणा-भाव से एक साथ प्रभावित हुई दृष्टिगोचर होती है। हम पिछले अध्याय में यह स्पष्ट कर चुके है कि प्रभाव और अनुकरण भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। किसी वस्तु की समग्र अनुकृति मे भेद अथवा भिन्नता के लिए अवकाश नही रहता परन्तु किसी वस्तु का प्रभाव प्रभावित व्यक्ति के हृदय मे उस वस्तु की त्रुटियों के प्रति तिरस्कार तथा उसकी विशेषताओ के प्रति स्वीकार भाव उत्पन्न कर सकता है। कभी-कभी तो वस्तु का प्रभाव वस्तु मे भिन्न एव विरोधी निष्कर्षों को जन्म देता है। भारतीय निर्गुणपथी सतो में हम यही बात पाते हैं। वे उपर्युक्त सम्प्रदायो की विशेषताओ से प्रभावित तो हुए, पर उनकी त्रुटियो का बडी निर्ममतापूर्वक उन्होने खण्डन भी किया। यहा पर हम रज्जब जी की अनुभूतियों के सदर्भ में उन साम्प्रदायिक विश्वासो का क्रमश पर्यवेक्षण करेंगे जिनसे रज्जबजी के विचारो, आदर्शों तथा धार्मिक भावो की अनुरूपता

है। रज्जबजी की साधना-पद्धति दादूपन्थी सन्तो में 'रजबावत' नाम से विख्यात है।

इनके अनुयायियो को रज्जबपन्थी अथवा रजवावत कहने की परिपाटी है और इस प्रकार के साधु-सन्त इधर-उधर अनेक स्थानो मे पाये जाते हैं।[1] किन्तु रज्जब-पथ सामूहिक सस्था के रूप में नही चल सका। दादू-पन्थ की ही प्रधानता रही। परन्तु किसी पन्थ का नाम उस पन्थ की उपासना-पद्धति, आदर्शों, विचारो का ही व्यञ्जक होता है। अत हम रज्जबजी अथवा उनके रजबावत पथ की मान्यताओ तथा विचारो के प्रसङ्ग मे उन समस्त सम्प्रदायो की मान्यताओ पर विचार करेंगे जिनसे रजबावत या तो प्रभावित है या साम्य रखता है।

(ग) रजबावत और वैष्णव धर्म—

वैष्णव धर्म को विद्वानो ने भागवत धर्म के नाम से अभिहित किया है। इस धर्म के चार व्यूह (शाखाये) माने गये है। चारो व्यूहो का नामकरण यादव वश के महनीय पुरुषो के नामो से किया गया है। वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—ये चतुर्व्यूह कृष्ण, उनके ज्येष्ठ भ्राता, पुत्र तथा पौत्र पर क्रमशः अवलम्बित है।[2] भगवान विष्णु का वेद मे वर्णन आया है किन्तु अन्य देवताओ की तुलना मे विष्णु को वेद में कम महत्त्व दिया गया है। परन्तु ब्राह्मणो और पुराणो के युग मे विष्णु की महत्ता-वृद्धि उतरोत्तर होती गई और वह वृद्धि यहा तक हुई कि विष्णु सर्वोच्च देवता माने जाने लगे और अग्नि सब से छोटे देवता। विष्णु के महदुत्थान के अनन्तर सस्कृत के महाकाव्यो में वासुदेव विष्णु और नारायण का भेद समाप्त हो गया तथा वे एक ही देवता के भिन्न-भिन्न सम्बोधन मान लिये गये।[3] इस प्रकार पुराणकाल में वैष्णव धर्म सर्वाधिक व्यापक और प्रभावशाली बन गया। वैष्णव धर्म के जिन चार व्यूहो का हमने ऊपर उल्लेख किया है उनमे कृष्ण की उपासना करने वाले एकान्तिक कहलाते थे। 'नारद पाञ्चरात्र' मे एकान्तियो के दो भेद बताये गये

१–उत्तरी भारत की सत परम्परा।

२–भागवत सम्प्रदाय, पृ० ९१ ले० श्री बलदेव उपाध्याय।

3–'In Epic times Vishnu grew to be in every respect the supreme Spirit, and Vasudeva is identified with Vishnu in Chapter 55 and 56 of the Bhism Parva .. , The supreme spirit is addressed as Narain and Vishnu and, is identified with Vasudeva'
—Collected works of Sir Bhandarkar, Vol IV, p 48.

है–एक तो वे जो केवल वासुदेव को ही ईश्वर मानते थे और दूसरे वे जो कई देवताओ को पूजते थे। वैदिक साहित्य के विद्वान् डॉ० मुन्शीराम शर्मा 'सोम' ने अपने 'भक्ति का विकास' नामक ग्रन्थ में पाञ्चरात्र सहिताओ पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होने पाञ्चरात्रो को शैवागम एव तन्त्र-साहित्य से प्रभावित माना है। अपने इस अनुमान के प्रमाण मे उन्होने जो तर्क प्रस्तुत किया है उससे निश्चित ही पाञ्चरात्र सहिताओ पर शैव दर्शन का प्रभाव पुष्ट हो जाता है। पाचरात्र साहित्य में नारद पाञ्चरात्र सहिता ने कृष्ण की भक्ति का प्रबल रूप से पोषण किया है। डॉ० शर्मा 'भक्ति का विकास' के पृष्ठ २६४ में लिखते हैं "नारद पाञ्चरात्र के अतर्गत ज्ञानामृतसार नाम की सहिता को बगाल की रायल ऐशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया था। इसके अनुसार नारद श्रीकृष्ण का माहात्म्य तथा उनकी अर्चाविधि सीखने के लिए शकर के पास जाते है। कैलास पर्वत पर पहुच कर वे सात द्वारो वाले शकर के भवन में प्रवेश करते है। इन द्वारो पर वृन्दावन, यमुना, कदम्ब पर गोपियो के वस्त्र लेकर बैठे हुए श्री कृष्ण, गोपियो का नग्न रूप में स्नान के पश्चात् बाहर आना, कालियदमन, गोवर्धन-धारण, श्री कृष्ण का मथुरा गमन, गोपियो का शोक-प्रदर्शन आदि श्री कृष्ण की बाल-लीलाओ के चित्र अकित थे।" कालिदास के मेघदूत के पूर्व मेघ के १५ वें श्लोक में कृष्ण और विष्णु का भेद समाप्त दीख पडता है–

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता—
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य ।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णो ॥

श्लोक का आशय यह है कि रत्नो की कान्तियो का सम्मिश्रण जैसा दिखलाई देने वाला यह इन्द्रधनुष का टुकडा सामने बाम्वी के अग्रभाग (ऊपर) से निकल रहा है जिससे तेरी (मेघ की) सावली देह इस प्रकार अत्यधिक चमक उठेगी जिस तरह चमकीली कान्ति वाले मोर के पखो से गोपवेषधारी विष्णु (कृष्ण) की (सावली देह)।

यहा विष्णु और कृष्ण को एक देवता में अन्तर्भूत कर दिया गया है। कालिदास का काल नाना-विवाद-निष्पन्न निष्कर्षों के आधार पर चौथी और पाचवी शती सिद्ध होता है। यह अनुमान भी अपने मे शुद्ध प्रतीत होता है कि कालिदास गुप्तवश के चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में रहे होगे। चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, स्कदगुप्त आदि सम्राटो के सिक्को में उनके परम भागवत होने का उल्लेख प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि पाचवी शती मे कृष्ण और विष्णु का भेद समाप्त हो गया। सातवी और आठवी शती में तो विष्णु, नृसिह

किन्तु हमारे विचार से मर्यादा पुरुषोत्तम राम १३वी शती मे ही सामान्य भक्ति-भावना के आधार बन गये। मध्वाचार्य को प्रेरणा से रामोपासना की पूर्ववर्ती पीठिका कुछ भी रही हो, भारतवर्ष मे रामभक्ति को जन-जन के हृदय की विभूति बनाने वाले स्वामी रामानन्द थे जिन्होने जाति-पाति के बन्धनो को छिन्न-भिन्न कर अनन्य अव्याहत भक्ति का उपदेश किया। स्वामी रामानन्द के शिष्यो की सख्या ५०० से अधिक बताई गई है, परन्तु उनमे १२ ऐसे शिष्य थे जो उनके विशेष कृपाभाजन थे। जहा तक रामानन्द के भक्ति-सिद्धान्त-पक्ष का प्रश्न है वे विशिष्टाद्वैतवादी ही कहे जायेंगे किन्तु वे किसी वाद की रूढियो मे नही बधे। वे किसी परम्परा का विवेकपूर्वक मनन करने के उपरान्त ही उसकी विशेषताओ से प्रभावित होते थे। स्वामी रामानन्द के सम्बन्ध मे हम बता चुके हैं कि वे ऐसे अक्षय उद्गम सिद्ध हुये कि उससे एक और निर्गुण भक्ति-तरगिणी फूटी जिसमे कबीर जैसे निर्गुण वैष्णव भक्त का आविर्भाव हुआ, तथा दूसरी ओर सगुण भक्ति की सरिता उद्भूत हुई जिसमे रामभक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जैसे महात्मा का उदय हुआ। रामानन्द की यह रामावत भक्ति-परम्परा उनके गुरु स्वामी राघवानन्द की सत्प्रेरणा का फल है।

स्वामी रामानन्द के शिष्यो में कबीर अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न एव स्वतत्र चिन्तनशील महात्मा थे। उन्होने रामावती मत मे आस्था रखते हुये भी स्वतत्र निर्गुण भक्ति की परम्परा का उन्नयन किया। इनकी निर्गुण भक्ति-पद्धति का प्रभाव यो तो अनेकानेक सतो पर पडा, परन्तु इनका सीधा प्रभाव नानक, दादू, रज्जब और सुन्दरदास पर विशेष लक्षित होता है। यहा हमारा प्रतिपाद्य विषय रज्जब है। अत हम रज्जबजी के आध्यात्मिक विचारो एव अनुभूतियो का विश्लेषण वैष्णव धर्म के साहित्य की भूमिका मे करेंगे।

'रज्जबजी सस्कृत के पूर्ण विद्वान् थे' — यह विचार भ्रामक है। प० कृपारामजी साधु ने रज्जब-वाणी की भूमिका मे इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये है। किन्तु यह मान लेने मे कोई आपत्ति नही हो सकती कि रज्जबजी ने उस भारत देश मे जन्म लिया जहा वेद, वेदाङ्ग, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण, शास्त्र स्मृतिया बहुत पहले जन्म ले चुकी थी तथा जिनके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान, कर्म, उपासना के सूक्ष्म परमाणु देश के सम्पूर्ण वायुमण्डल मे व्याप्त थे। भारत के शीतल आध्यात्मिक ब्रह्मोद्यान का जो सुखदायक ज्ञान समीर प्रवाहित हुआ था उसने निखिल विश्व के अञ्चल को सुरभित किया एव ज्ञानगरिमा से भारत को गौरवान्वित भी किया। यही कारण था कि विदेशो के अनेकानेक विद्वान् संस्कृत भाषा के अध्ययन की कामना की उत्कटता का सवरण न कर सके —

कुछ तो भारत आ कर और कुछ अपने-अपने देश मे ही सस्कृत भाषा का अध्ययन कर यहा की आध्यात्मिक विद्या मे निष्णात हुए । अरब के अल्बेरुनी तथा योरोपीय विद्वान् शापेनहार, मैक्समूलर पाल डायसन (Paul Deuseen) फ्रेडरिक, श्लेगेल, मैक्डानेल, एण्ड्र-यूज, हक्सले, एम० गेटिल, ऐक्वोटिल, डुपेरन, शेलिग, सारवुल, कीथ, ग्रियर्सन, गेटे, शेली, प्रभृति ऐसे व्यक्ति हैं जो भारत के आध्यात्मिक साहित्य पर एक भाव से मुग्ध हैं। जर्मनी के आर्थर शापेनहार भारत के मुस्लिम राजपुत्र दाराशिकोह द्वारा कराये गये कतिपय उपनिषदो के फारसी अनुवाद जो फ्रासीसी मे अनुदित हैं उनसे इतने प्रभावित हुये कि उन्होने भारतीय उपनिषद्विद्या को अपने जीवन और मृत्यु दोनो मे शान्ति प्रदायिनी माना।[1] भारतीय वेद साहित्य तथा भारत की प्रशसा मे मैक्समूलर महोदय भी अतिशय भावापन्न हो गये हैं। जब विदेश की धरित्री में उत्पन्न जिज्ञासुओ की यह दशा थी तो भारतीय वसुन्धरा के रज-कणो में पालित-पोषित नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के आराधन में रत महात्मा रज्जब भारत के दिव्य अध्यात्म में क्यो न मग्न होते : भारतीय अध्यात्म मे सकीर्णता के लिये कोई स्थान नही है। कोई किसी जाति का हो, किसी वर्ण का हो, किसी धर्म का हो, किसी देश का हो, यदि उसकी ब्राह्मी वृत्ति है तो उसको ब्रह्मविद्या में दीक्षित होने का सर्वथा अधिकार है। हम इसकी चर्चा पहले कर चुके हैं कि रामानन्दी परम्परा की सन्तमण्डली में प्राय भारत की समस्त ऊची-नीची जाति के लोगो का प्रतिनिधित्व था, तथा रामानन्द का रामावत सम्प्रदाय अपने पूरे प्रभाव के साथ भारत में व्याप्त हुआ। रामानन्द के धर्म का मर्म यह है कि उन्होने शास्त्रानुमोदित उपासना-पद्धति को रूढ परम्पराओ के जटिल बन्धन से मुक्त कर उसे विवेक-सम्मत बनाया तथा वर्ण व्यवस्था मे खण्डश विभक्त मानवता को सार्वभौम एव सार्वजनीन धर्म की अखण्डता मे बाधने का सजीव प्रयत्न किया। रामानन्द की धर्मशीलता कबीर परम्परा के सन्तो की धर्मशीलता है। इन सन्तो ने रामानन्द से आगे जा कर धर्म को विश्वबन्धुत्व के सूत्र में गूथा, इस आशय की चर्चा हम पीछे एक दो स्थलो में विशद रूप से कर चुके हैं।

रज्जबजी की भगवद्भक्ति

महात्मा रज्जबजी ने जिस उपासना पद्धति का निर्देश किया वह कबीर और दादू की उपासनापद्धति से पूर्ण साम्य रखती है। निराकार, निर्विकार,

---

१—कल्याण के उपनिषद् अक में श्री बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय का लेख पृष्ठ, ८५।
"In the whole world, there is no study so elevating as that of Upanishadas It has been the solace of my life It will be the solace of my death"

निखिल ब्रह्माण्ड मे व्याप्त एक ब्रह्म की उपासना ही रज्जबजी को अभिप्रेत है। इस अध्याय के प्रारम्भ मे हमने स्थूल पर सूक्ष्म को वरीयता प्रदान की है। जब हम अपने प्राचीन उपनिषद्-साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो देखते है कि उसमे निराकार सर्वव्याप्त ब्रह्म की उपासना की ही विशद व्याख्या की गई है। निर्गुण-धारा के इन सन्तो ने भी उसी निराकार ब्रह्म की उपासना का उपदेश किया। इन सन्तो की विलक्षणता यह है कि वे वैष्णव होते हुए भी अवतारवाद का खडन करते हैं जब कि वैष्णव धर्म का आधार ही अवतारवाद है। इन सन्तो ने नाना वैष्णव अवतारो के नामो का अपने काव्यो मे उल्लेख किया है,किन्तु ये नामो की सोपाधि उपासना के पक्ष मे नही थे। वासुदेव, नारायण, विष्णु, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द, मुरारी, यदुपति इत्यादि अवतारो के प्राय समस्त नामो को इन्होने स्थान दिया है, परन्तु इन नामो को किसी सासारिक पुरुष से सलग्न न कर उनको उसी ब्रह्म के लिये प्रयुक्त किया है। यहा पर हम रज्जबजी की आध्यात्मिक अनुभूतियो को भारतीय आध्यात्मिक साहित्य की विविध मान्यताओ के परिप्रेक्ष्य (Perspective) मे परखना चाहेगे।

वैष्णव धर्म का मूल उद्गम वेद है। डॉ० मुशीराम शर्मा ने अपने 'भक्ति का विकास' नामक ग्रथ मे इस विषय का सुन्दर प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। भगवान् की उपासना और भक्ति के जितने रूप वेदोत्तर साहित्य मे प्राप्त होते हैं वे वेदो मे पहले से बीजरूप मे विद्यमान हैं। उनका कथन है, "ससार के प्राचीनतम साहित्य वेद मे भक्तियोग के ये सभी स्तर विद्यमान हैं। वेद प्रभु को सृष्टि का व्यवस्थापक, शासक, राजा, दण्ड-दाता, जीवो को कर्मानुसार फल देने वाला, न्यायी, स्वामी, पिता, माता, बन्धु और सखा सभी रूपो मे प्रकट करता है।"[1] डॉ० शर्मा ने अपने इस कथन के प्रमाण मे ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा यजुर्वेद के मन्त्रो को उद्धृत किया है। भगवान् के उक्त रूपो की उपासना ही भक्ति के नाना भेदो मे रूपान्तरित हो गई। दास्य और सख्य आदि भक्ति-पद्धतिया भगवान के उपर्युक्त रूपो पर ही आधारित हैं। भक्ति प्रमुखत वैष्णव उपासना का ही अपर नाम है। भक्ति का मूल स्रोत यदि हम वेदो को माने तो अनुचित न होगा। प० परशुराम चतुर्वेदी का स्पष्ट मत है कि "वैष्णव धर्म बीजरूप मे कतिपय साधारण वैदिक भावनाओ को ही लेकर चला था। फिर भक्ति-सम्बन्धी एव उपास्य-देव विषयक धारणाओ के क्रमिक विकास के साथ-साथ उसमें क्रमश भिन्न-भिन्न बातो का समावेश होता गया और वह समय पाकर एकान्तिक, शाश्वत, भागवत एव पाँचरात्र के रूपो में ढलता हुआ

१– भक्ति का विकास, पृष्ठ १२८।

एक सुव्यवस्थित वैष्णव रूप मे परिणत हो गया।"[1] इस प्रसङ्ग में हम इतना अवश्य सकेत करेंगे कि विष्णु प्रधानत निराकार, विराट्, विश्वनियन्ता के रूप मे ही चित्रित हुये, किन्तु कालान्तर मे उनके चतुर्भुजी, क्षीरशायी, चतुरायुध-धारी साकार रूप की प्रतिष्ठा हुई। उसके अन्तर्गत अवतारवाद को प्रश्रय मिला। परन्तु हमारे निर्गुणी सन्तो ने भारतीय औपनिषदिक परम्परा के अभिनव सूत्र-धार वनकर विष्णु की अवताराधारित सत्ता को पुन निर्गुण निराकार ब्रह्म की ओर मोड कर उसे ज्ञानी-ध्यानी भक्तो का उपासना-विषय बना दिया। बहिरङ्ग स्थूल उपासना को अन्तरङ्ग सूक्ष्म उपासना मे परिणत कर दिया। निर्गुणी सन्तो में कवीर इस उपासना मार्ग के आदि प्रवर्तक माने जा सकते हैं जिनकी जीव, ब्रह्म सम्वन्धी मान्यताओ के आधार पर दादू, रज्जव, सुन्दरदास, सत हरिदास निरजनी प्रभृति महात्माओ ने इस धारा को प्रोत्साहित किया।

विवेचन की सुविधा एव स्पष्टता की दृष्टि से रज्जबजी की भगवद्भक्ति के मूल उपादानो अथवा अङ्गो का श्रेणी-विभाजन करना आवश्यक प्रतीत होता है। उनकी भक्ति के अङ्गो को हम षड्युग्मो मे विभक्त कर सकते हैं—

(क) सद्गुरु और सवद, (ख) सेवा और सत्सग, (ग) प्रेम और विरह, (घ) नाम जप और ध्यान, (ङ) ज्ञान और वैराग्य, (च) समर्पण और अनन्यता।

रज्जबजी भारतीय वैष्णव-परम्परा के अनुसार अपनी 'बाणी' और 'सर्वंगी' दोनो मे गुरु की वदना करते हैं। गुरु के महत्त्व की मान्यता ससार के समस्त धर्मों मे एक-सी लक्षित होती है। ईसाइयो में पादरी (प्रीस्ट) इस्लाम और सूफियो मे उस्ताद पीर, वैष्णवो, शैवो और शाक्तो में गुरु, बौद्ध और जैनियो मे भी गुरु का महत्त्व निर्विवाद रूप से प्रमाणित होता है। रज्जबजी 'बाणी' के प्रारम्भ मे लिखते हैं–

दादू नमो निरजनं, नमस्कार गुरुदेवत।
वन्दन सर्व साधवा, प्रणाम पारगत॥

ये पक्तिया रज्जबजी के गुरु दादू दयाल की रची हुई हैं जो दादू बाणी के प्रारम्भ में दी गई हैं। रज्जबजी की गुरु में अद्भुत निष्ठा थी। उनका जैसा प्रतिभा सम्पन्न सन्त कवि गुरु-वन्दना अपने गुरु के शब्दो में ही करता है, यद्यपि वे स्वय रचना करने में सक्षम थे। इसे हम उनकी गुरु के प्रति अनन्य प्रणति ही मानेंगे। इसी वन्दना प्रकरण में वे आगे कहते हैं–

सिजदा पूरे पीर कू, गुरु ज्ञातहि डडौत।
रज्जब भय भगवत के, सर्व आत्महू नौत॥

१– वैष्णव धर्म, पृष्ठ १४०।

गुरु आखिर घर साध कवि, सवनि करू असतुति ।
रज्जब की चकचूक परि, खिमा करौ ह्वँ सुति ।।

इन पक्तियो मे रज्जबजी अपने गुरु को पूरा पीर बताते हैं तथा उन्हें नमस्कार करते है, तदनन्तर वे सर्वात्माओ का नमन करते हैं। आगे चल कर पुन गुरु तथा सरस्वती के उपासको (अक्षरधर) महात्माओ तथा कवियो को नमस्कार करते हैं तथा अपनी सम्भाव्य त्रुटियो एव भूलो के लिये क्षमा-याचना करते हैं। वे अपनी त्रुटियो की क्षमा के लिये सुन्दर तर्क भी इन शव्दो में प्रस्तुत करते हैं।

सरीर सवद की एक गति, त्रिविध भाँति तन होय ।
भले बुरे बिच बप वयन, दोप न दीजो कोय ।।

रज्जवजी का कथन है कि जिस प्रकार शरीर भला बुरा और वीच का अर्थात् सतोगुणी, तमोगुणी एव रजोगुणी होता है, उसी प्रकार शव्द की भी तीन गतिया है उत्तम, अधम और मध्यम। जव शरीर की तीन कोटियाँ है तो उससे नि.सृत शव्द को उन तीन त्रुटियो के प्रभाव से मुक्त नही रक्खा जा सकता। अत भले-बुरे और बीच के शव्द क्षम्य हैं।

रज्जबजी की दृष्टि मे माया पानी और मन दूध है, दोनो जव एक मे मिल गये तो बिना गुरु हस के उनका पृथक् करना दुष्कर है।

माया पानी दूध मन, मिले सु मुहकम बधि ।
जन रज्जब बलि हस गुरु, सोधि लही सो सधि ।।

गुरुदेव का अग, सा ५८

मनुष्य के समस्त कर्म ताला हैं, विवश जीव निवद्ध हैं। विना गुरु रूपी कुजी के उसका खुलना कठिन है—

सकल करम ताला भये, जीव जड्या ता माहि ।
रज्ज्व गुरु कूची विना, कबहू खूटै नांहि ।।

गुरुदेव का अग, सा ६४

गुरु की उपासना ही रज्जब की दृष्टि मे सब कुछ है, सर्वोपरि है। यदि सेवा करते बन जाय तो गुरु के सदन मे अपार धन है, किन्तु लेने के लक्षरा जब तक शिष्य मे न होगे तब तक उस धन का सग्रह करना कठिन है।

गुरु घर मांहै धन धरा, सिख सग्रह्या न जाय ।
जब लग लक्षन लेण के, जुगति न उपजै आय ।।

गुरुदेव का अग, सा. १२३

श्रीमद्भगद्गीता मे अर्जुन से कृष्ण ने गुरु से यह धन प्राप्त करने की युक्ति सक्षेप मे बताई है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान, ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन ।।
अध्याय ४–३४

अर्जुन ! तू उस तत्वज्ञान को तत्वदर्शी ज्ञानी गुरुओ के समीप जा कर प्रणाम-पूर्वक युक्ति-युक्त प्रश्नावली द्वारा उनकी सेवा करते हुये प्राप्त कर। इधर रज्जबजी शिष्य मे श्रद्धा का होना आवश्यक बतलाते हैं—

शिष्य सही सोई भया, गहै सीख में सोय ।
रज्जब श्रद्धा सीख सू, दूजा कदे न होय ।।
गुरुदेव को अग, सा १४०

गीता मे भगवान् कृष्ण कहते हैं—

श्रद्धावाल्लभते ज्ञान, तत्पर सयतेन्द्रिय ।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। ४–३९

"ज्ञानपरायण जितेन्द्रिय पुरुष यदि श्रद्धावान् है तो अवश्य तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है तथा ज्ञान प्राप्ति पर शीघ्र ही परम शान्ति लाभ करता है।"

श्वेताश्वतर के षष्टम अध्याय के अत मे शिष्य की गुरु भक्ति का प्रतिपादन किया गया है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन' ।।

यहाँ पर परमेश्वर की भक्ति के समकक्ष ही गुरुभक्ति की प्रतिष्ठा अङ्कित की गई है। कबीर ने इसी उक्ति की छाया मे कहा था—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पाय ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दिया बताय ।।

रज्जबजी तो गुरु को जगन्नियन्ता जगदीश से बडा ही नही बताते प्रत्युत जगदीश की की हुई भूल का परिशोधनकर्त्ता बताते हैं। उनके विचार से भगवान् ने तो सारे ससार के जीवो को शरीर के बधन मे डाल दिया किन्तु गुरु ने उस देहाध्यास से जीव को विमुक्त कर दिया। अत उसकी महिमा कोई नही प्राप्त कर सकता—

जीव रच्या जगदीस नै, बांध्या काया माँहि ।
जन रज्जब मुकता किया, ता गुरु समि कोइ नांहि ।।
गुरुदेव का अग, ६२

गुरु की विभूति का लाभ तभी शिष्य को होता है जब वह स्वय अधिकारी हो—उसका पात्र हो और इधर गुरु योग्य तथा विभूति प्रदान करने मे समर्थ हो। यदि दोनो मूर्ख हुए तो कबीर ऐसे गुरु शिष्य को "अन्धै अन्धा ठेलिया" कह कर कूप मे गिरता हुआ देखते हैं और हमारे रज्जबजी कहते हैं—

रज्जब चेला चखिहु बिन, गुरु मिला जाचध।
कूप मयी यहु कुभनी, क्यू पावहिं प्रभु पध॥

यही भाव कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली के ५ वे श्लोक मे इस प्रकार आया है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वय धीराः पडित मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणा· परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा॥

अर्थात् अविद्या मे पडे हुये अपने आप को बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले मूर्ख लोग नाना योनियो मे भटकते हुए वैसे ही ठोकर खाते हैं जैसे अधे व्यक्ति के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे भटकते रहते हैं। रज्जबजी योग्य शिष्य और सद्गुरु के मिलाप मे ही मगलकारिणी सिद्धियो का दर्शन करते हैं। उनका मत है

सतगुरु परतखि परसतै, सिख की सक्या जाहिं।
ज्यू दिनकर सू दिन द्रसै, त्यू निसि सूझै नाहिं॥
गुरु सयोग वियोग महातम का अग, साखी १

गुरु के प्रत्यक्ष सयोग से शिष्य की समस्त शङ्काओ का उसी प्रकार निराकरण हो जाता है जिस प्रकार भगवान् भास्कर के उदय होने पर दिन हो जाता है। किन्तु सूर्य के अभाव मे रात्रि के अधकार मे कुछ भी नही दिखाई पडता। गुरु के अभाव मे भी अविद्यान्धकार के कारण मनुष्य को अपना गन्तव्य नही सूझता। अत गुरु शिष्य दोनो का सयोग, प्रेम, स्नेह, सहवास आवश्यक है। इसी तथ्य को कठोपनिषद् के शान्तिपाठ मे इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

ओम् सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

हे भगवन्, हम दोनो गुरु शिष्य साथ-साथ रक्षा करे, साथ-साथ भोजन करें, साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें, हम दोनो की अधीत विद्या तेजोमयी हो, हम दोनो परस्पर द्वेष न करें।

रज्जबजी ने गुरु-शिष्य प्रकरण में गुरु और शिष्य की अवस्थायें विविध रूपको के आश्रय में वर्णित की हैं।

(क) गुरु और शिष्य, (ख) सद्गुरु और सच्छिष्य, (ग) समर्थ गुरु एव अनधिकारी शिष्य, (घ) असद्गुरु तथा सुयोग्य शिष्य, (ङ) मूर्ख गुरु एव मूर्ख शिष्य।

यहा पर गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की उपर्युक्त पाच अवस्थाओ के उदाहरण हम रज्जब बाणी से उद्धृत करना आवश्यक एव समीचीन समझते हैं।

(क) गुरु-शिष्य—

सुखदाता दुखभजना, जन रज्जब गुरु साध।
सबद माँहि साईं मिलै, दीरघ दत सु अगाध॥
गुरु दरजी सूई सबद, डोरा डोरी सोइ।
रज्जब आतमराम सों, सतगुरु सीवे सोइ॥
रज्जब आतमराम विच, गुरु ग्याता सु दलाल।
ज्यों चकवा चकवी मिले, सूरज काटे साल॥
गुरु मुखि वासा प्यण्ड में, मन मुखि ह्वै ब्रह्मण्ड।
रज्जब भीतर मैं नहीं, बाहर खण्ड ब्रण्ड॥
अकुर अडानि सिख सार है, पै घाट घड्या नहि जाइ।
ब्रह्म अगनि गुरु बक्त्र है, जब लग पड़े न आइ॥

यहा पर गुरु-शिष्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध निरूपित किया गया है।

(ख) सद्गुरु और सच्छिष्य—

सद्गुरु सूरज लै चढ़ै, सिख सति सलिल सुभाइ।
जन रज्जब नर नीर त्यू, नीचा आपै जाइ॥
गुरु चदन चदन किया, वृक्ष अठारह भार।
डाल पान फल फूल का, रज्जब नहीं विचार॥
गुरु पारस पल में परसि, सिख कचन करि लीन।
सो रज्जब महगे सदा, कुल कालिबा सु छीन॥
प्राण कीट गुरु भृंग बिन, कहो गगन क्यू जाइ।
जन रज्जब या जुगति बिन, विस्टा रहै समाइ॥
मन बन्छा ह्वै चूखिये, सद्गुरु सुरही जोइ।
रज्जब पीवे ठूण दै, दीरघ दरवै गोइ॥

उपर्युक्त साखियो मे गुरु शिष्य दोनो की पात्रता का निरूपण किया गया है।

(ग) समर्थ गुरु एव अधिकारी शिष्य—

गुरु परसिध पारस मिल्या, सिख ही खूटा जोइ।
रज्जब पलटे लोह सब, ककर का क्या होइ॥
सद्गुरु चदन बावना, परस्यो पलटे काठ।
रज्जब चेला चूक में, रह्या बांस के आठ॥

कल्पवृक्ष गुरु को कहा, जै कल्पै नहिं दास।
जन रज्जब रुचि प्यास बिन, निहचै जाइ निरास॥
बिण घडि माल रहट की भरमैं, जल जावै कछु नाहिं।
त्यू रज्जब चेतन बिन चेला, रीता संगति माहिं॥
कामधेन गुरु क्या करै, जै सिख निहकामी होइ।
रज्जब मिलि रीता रह्या, मदभागी सिख जोइ॥

(घ) असद्गुरु तथा सच्छिष्य—

पर कारिज किरपन करै, अपने काम उदार।
जन रज्जब गुरु स्वारथी, सिख सब कीयै स्वार॥
अजा कंठ कुच पै नहीं, क्या पीवै दुहि ग्वाल।
त्यू रज्जब सिख सूम गति, गुरु भेषा बेहाल॥

(ङ) मूर्ख गुरु तथा मूर्ख शिष्य

रज्जब चेला चख्यू बिन, गुरु मिला जाचन्ध।
कूपमयी यहु कुमती, क्यू पावहि गुरु पंथ॥
गुरु घीर घन ह्वै पाइये, सिख सुलषणो लेइ।
उभै अभागी एकठे, कहां लेइ कह देइ॥
बइयर सौं बइयरि मिलीं, कहौ पूत क्यू होइ।
त्यू रज्जब सद्गुरु बिना, सब खोजहु को जोइ॥
भूखे गुरु सिख यू मिले, ज्यू साखे बस डार।
जन रज्जब बोलत घसत, दोऊ जरि बरि छार॥
घरि घरि दष्या देहिं गुरु, सिख न सुलझ्या कोइ।
जन रज्जब सब लालची, तामे भला न होइ॥

वैष्णव-धर्म में गुरु की प्रतिष्ठा निर्विवाद है। वैष्णव-धर्म की निर्गुण सगुण दोनो धाराओ मे गुरु की महिमा स्वीकार की गई है। सगुणोपासक गोस्वामी तुलसीदास भी अपने रामचरितमानस मे 'गुरु बिन होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु' कह कर गुरु की महत्ता के प्रति अपनी स्वीकृति प्रदान करते है। रामचरित मानस के प्रारम्भ में भी वे गुरु की बन्दना करते हैं—

बन्दहु गुरुपद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।
सुकृत शभु तन विमल विभूती, मजुल मगल मोद प्रसूती॥
जन मन मजु मुकुर मल हरनी, किये तिलक गुन गन वस करनी।
अमिय मूरिमय चूरन चारू, समन सकल भवरुज परिवारू॥

श्रीमद्भागवत पुराण में भगवान् दत्तात्रेय के २४ गुरुओ के वर्णन के प्रसंग में आत्मा को ही गुरु बताया गया है—

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
प्रत्यक्षानुमानाभ्या श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ ११–७–२०

अर्थात् समस्त प्राणियो का विशेषकर मनुष्य का हित और अहित का उपदेशक गुरु है। क्योकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमान के द्वारा अपने हित-अहित का निर्णय करने मे पूर्णत समर्थ है। श्रीमद्भागवत् के इसी प्रसग मे आगे यह भी बताया गया है कि अकेले गुरु से ही यथेष्ठ और सुदृढ़ बोध नही होता, उसके लिये अपनी बुद्धि से भी बहुत कुछ सोचने-समझने की आवश्यकता है। ऋषियो ने एक ही अद्वितीय ब्रह्म का अनेक प्रकार से गान किया है।

नह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञान सुस्थिर स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीय वै गीयते बहुधर्षिभि.॥ ११-९-३१

महात्मा दादूदयाल के समस्त शिष्यो पर जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो देखते हैं कि रज्जबजी जैसा आज्ञा-पालक, सुयोग्य, तपोनिष्ठ साधक शिष्य अन्य नही था। यही कारण है कि दादूजी के अन्य शिष्य रज्जबजी को अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे।

सबद—सबद से आशय हैं सद्गुरु के उपदेश और प्रवचन से। इस सबद शब्द का प्रयोग गुरूपदेश के अर्थ मे प्राय. सभी सन्तो ने किया है। रज्जबजी ने गुरु वचनो के लिये बायक तथा सबद दो शब्दो का प्राय प्रयोग किया है। इस 'सबद' शब्द का प्रयोग अनेक रूपको के माध्यम से किया गया है। हम उन रूपको के कतिपय उदाहरण यहा प्रस्तुत करना अपेक्षित समझते है—

गुरु दरजी, सूई सबद, डोरा डोरी सोय।
रज्जब आतम राम सो, सतगुरु सीवै कोय॥

गुरु के सबद (उपदेश) में ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है—

सुख दाता दुख भजता, जन रज्जब गुरु साध।
सबद मांहि साईं मिलै, दीरघ दत सु अगाध॥

परम शान्ति का लाभ सतगुरु के ही बायक में होता है—

सतगुरु रहिता सकल सों, सब गुन रहिता बैन।
रज्जब मानी साखि सो, उस बायक में चैन॥

सद्गुरु का शब्द-शर तीनो लोको को विद्ध कर देता है तथा समस्त त्रिगुणात्मिका वृत्तियों का छेदन करता है—

सतगुरु सबद सुमार सर, जो फोड़ै तिरलोक।
रज्जब छेदै सकल गुण, अहिया पैनी नोक॥

ध्यान के धनुष से बायक-बाण को जब सद्गुरु चलाता है तो मनुष्य की पशुता उस शब्द-शल्य के सहित धराशायी हो जाती है—

ध्यान धनक गहि सतगुरू, मारै वाइक बाण।
रज्जब स्यावज सर सहित, पडे परस्पर आण ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रज्जबजी सद्गुरु की महिमा के साथ-साथ उसके वचनो की महिमा को कम नही मानते। वे तो उसे सद्गुरु ही नही मानते जिसके शब्दो मे प्रभाव और शक्ति नही है। सद्गुरु को शब्दसिद्ध होना चाहिये। सद्गुरु के वचन मत्र का प्रभाव रखते हैं। उनमें मूर्ख को पण्डित, बहिर्मुखी को अन्तर्मुखी तथा अज्ञानी को ज्ञानी, चचल चित्त को ध्यानी बना देने की क्षमता होती है। "सिख सदा सत सबद मधि, गुरु थिर गोविन्द माहिं" की स्थिति ही गुरु-शिष्य दोनो को लक्ष्यभ्रष्ट होने से बचा लेती है। यदि शिष्य गुरु के शब्द से विरक्त हो गया और गुरु ब्रह्म से पृथक हो गया तो दोनो का अपकर्ष अवश्यम्भावी है।

सेवा और सत्सग—रज्जबजी ने उपासना के नाना अङ्गो मे सेवा और सत्सग के महत्त्व की भी चर्चा की है। उनका मत है कि जिसके हृदय मे सेवा का भाव है उसको जीवन मे किसी वस्तु का अभाव पीडा नही दे सकता। साधु, देवता, महात्मा, परमात्मा सभी सेवक के वशीभूत हो जाते हैं।

रज्जब सेवा बन्दिगी, दिलि दाता तन होय।
सतगुर साईं साधु सुर, ताके बसि सब कोय ॥

जिस हृदय मे सेवा का भाव है उसी हृदय को ब्रह्मानुभूति होती है। रज्जबजी कहते हैं—

खालिक खिदमत खूब खित, वैरागर की खानि।
राम-रतन तहा नीकसै, सो ठाहर उरि आनि ॥

यह सेवा बडो-बडो को मुग्ध कर लेती है। यह बदगी महा मोहनी है। इसी सेवा से उस निराकार निरुपाधि ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तथा ससार मे जिसका निबन्धन कठिन है उसको सेवा बाँध लेती है।

सेवा करि अकलहिं कलै, सेवा अवध बधाय।
रज्जब सुर नर सेव बस, सेवा बडी खुदाय ॥

सेवा के वश मे वह ब्रह्म है, सेवा मे समस्त सिद्धिया हैं तथा सेवा मे ही सच्चा सम्मान और वैभव सन्निविष्ट रहता है।

ब्रह्म बदगी में सदा, सेवा में सब सिद्धि
खिदमति में अजमति रहै, रज्जब पाई विद्धि ॥

रज्जबजी का सेवा-सम्बन्धी विचार भारतीय धर्म-साधना की परम्परा से पृथक नही है। 'अध्यात्म रामायण' के अरण्यकाण्ड के दशम सर्ग मे जहा भग-

वान् राम शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश करते हैं वहाँ हम देखते हैं कि सेवा और सत्सग दोनो को भक्ति के नव प्रकारो मे पृथक्-पृथक् स्थान दिया गया है। राम ने भक्ति का पहला साधन सत्सग बताया है—

तस्माद्भामिनि सक्षेपाद्वक्ष्येऽह भक्तिसाधनम्।
सता सङ्गतिरेवात्र साधन प्रथम स्मृतम्॥

हे भामिनि ? मैं भक्ति के साधनो का वर्णन करता हू, जिन साधनो मे पहला साधन सत्सग है। राम ने भक्ति का पाचवा साधन सेवा कहा है—

आचार्योपासन भद्रे सद्बुद्ध्या मायया सदा।

अर्थात् निष्कपट भाव से तथा भगवद्बुद्धि से आचार्य की सेवा करनी चाहिये। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरित-मानस' ग्रथ मे अध्यात्म रामायण की छाया मे ही राम द्वारा शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश करवाया है। श्रीमद्भागवत् के एकादश स्कन्ध के तृतीय अध्याय के २२ वें श्लोक मे भक्ति के प्रसङ्ग मे सेवा का जिन शब्दो मे उल्लेख किया गया है उनमें तथा अध्यात्म रामायण की शब्दावली मे अतिशय साम्य है—

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवत।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरि॥

जिज्ञासु को चाहिये कि गुरु को ही अपना परम प्रियतम, आत्मा और इष्ट-देव माने। उनकी निष्कपट भाव से सेवा करे और उनके पास रह कर भागवत-धर्म की शिक्षा ग्रहण करे।

सेवा और सत्सङ्ग का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यद्यपि रज्जबजी ने अपने वर्णन मे सेवा के साथ सत्सङ्ग को न रख कर सुमिरण को रक्खा है। किन्तु हम यहा दोनो को एक दूसरे का प्रेरक और पूरक मानते हैं। सत्सङ्ग होने पर भी सेवा के अभाव में आचार्यगणो से कुछ भी प्राप्त होना कठिन है तथा कुसङ्ग में दुर्वृत्त-जनो की सेवा करने से दुष्ट प्रवृत्तियो का पुरस्कार ही प्राप्त होगा। अत सेवा और सत्सङ्गादि एक साथ रहते है तो साधक का यत्न अवश्यमव फलीभूत होता है। भगवान् कृष्ण ने अपने प्रिय सखा उद्धव से कहा था कि "जगत् की जितनी आसक्तिया हैं उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वश में कर लेता है वैसा साधन न योग है न साङ्ख्य, न धर्म-पालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग तथा दक्षिणा से भी मैं वैसा प्रसन्न नही होता। कहा तक कहूं व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्ग के समान

मुझे वशीभूत करने मे समर्थ नही है।"[1]

श्रीमद्भागवत् मे ही ऋषियो ने सूत जी के साहचर्य की प्रशसा करते हुये कहा कि "भगवद्प्रेमी भक्तो के लवमात्र के सत्सग से स्वर्ग और मोक्ष की भी तुलना नही की जा सकती फिर मनुष्यो के तुच्छ भोगो की तो बात ही क्या है।"[2] गोस्वामी तुलसीदास ने इसी अभिव्यक्ति के आश्रय में रामचरित-मानस मे लिखा है—

सात सर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसग॥

देवर्षि नारद ने भी सत्सङ्ग तथा महापुरुषो की कृपा के सम्बन्ध मे कहा कि "प्रेम-भक्ति-प्राप्ति का साधन मुख्यतया महापुरुषो की कृपा अथवा भगवद् कृपा के लेश मात्र से होता है।"[3] इसके बाद ही उन्होने कहा कि "महापुरुषो का सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। भगवान् की इस कृपा से ही सत्पुरुषो का सग भी मिलता है (क्योकि) भगवान् मे और उनके भक्त में भेद का अभाव है। अत. उस सत्सङ्ग की ही साधना करो।"[4] भक्त और भगवान् के भेद-भाव को श्रीमद्भागवतकार ने इन शब्दो मे प्रस्तुत किया है—

साधवो हृदय मह्य, साधूना हृदय त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाह तेभ्यो मनागपि॥—९-४-६८

अर्थात् साधु मेरे हृदय हैं और मै उनका हृदय हू। वे मेरे अतिरिक्त और किसी को नही जानते और मै उन्हे छोड कर और किसी को नही जानता।

१– न रोधयति मां योगो न साख्य धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो, नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि, तीर्थानि नियमा यमा।
यथावरुन्धे सत्सङ्ग. सर्वसगापहो हि माम्॥
श्रीमद्भागवत ११-१२-१–२

२– तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिष॥
श्रीमद्भागवत १-१८-१३

३– मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥३८
नारदीय भक्ति सूत्र, ३८ वा सूत्र।

४– महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥३९
लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥४०
तस्मिस्तज्जने भेदाभावात्॥४१
तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्॥४२

श्रीमद्भगवद्गीता के ९ वे अध्याय के २९ वे श्लोक में भगवान् कृष्ण इसी प्रकार कहते हैं—

ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।

अर्थात् जो मुझे प्रेम से भजते हैं वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ । तुलसी के भरत भी उन्ही भक्तो मे है—

भरत सरिस को रामसनेही । जग जपु राम, राम जपु जेही ।

सन्त रज्जब भी सत्सग को उपासना में विशेष स्थान देते हैं । जिस प्रकार चन्दन सम्पूर्ण वनाली को अपने सौरभ से सुवासित कर देता है, उसी प्रकार साधु-सग असाधुओको भी साधु बना देता है ।

जैसे चदन बावना, वेधि गया बनराय ।
त्यू रज्जब पलटे सबै, साधू सगति जाय ।।

साधु-सगति परम लाभ का अग

सत्सङ्ग से साधारण अकिंचन व्यक्ति भी श्रीसम्पन्न होकर मूल्यवान् बन जाता है। जैसे पारस के स्पर्श से ही लोहा सोने में परिणत होकर अधिक कीमती हो जाता है –

पारस परसत लोह, सोधे से महगा भया ।
तो क्यों करीजै मोह, रज्जब साचे साधु सों ।।

कुटिल कर्महीन व्यक्ति भी साधु-सगति में आकर महाभाग बन जाते हैं । रज्जबजी ने इसको सिद्ध करने के लिये सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है—

रज्जब लघुरा दीरघ मिलत, मानि महातम जोय ।
यथा तक्र पय परसतू, जावणहू दधि होय ।।

छोटा भी बडे के साहचर्य मे उसी प्रकार प्रतिष्ठित एव गुणसम्पन्न हो जाता है जैसे दूध के साथ मट्ठा भी सुन्दर दही बन जाता है । सत्सग में रहने वाला व्यक्ति अत्यन्त भद्र, शिष्ट, सकोची, लज्जालु और उसी प्रकार शीलवान् बन जाता है जैसे लाजवन्ती का पौधा छूते ही सिमट जाता है और झुक जाता है—

तन मन सिमटै सहज ही, जो सतसगति होय ।
जन रज्जब दृष्टान्त कू, बेलि लजालू जोय ।।

इतना ही नही साधु-सङ्गति के बिना कोई भी साधक अपनी एकान्त साधना-मात्र से सिद्धि लाभ नही कर सकता । आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये साधुओ की सगति नितान्त अपेक्षित है । जैसे सूर्य और अगस्त के बिना जल आकाश मे नही चढ सकता उसी प्रकार बिना साधु-सङ्गति के हरि हाथ मे नही आ सकते ।

अब न चढ़हि अकासदिसि, विन आदिति प्रगस्त ।
त्यू रज्जव सत्सग विन, हरि जावै नहि हस्त ॥

रज्जवजी सेवा और उपासना को भगवद्भक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन या अग मानते हैं ।

प्रेम और विरति–विद्वज्जन् इस तथ्य से भली भाँति परिचित है कि पुराणो एव पाञ्चरात्र ग्रथो ने वैदिक एव औपनिषदिक् ब्रह्म के स्थान पर भगवान् की प्रतिष्ठा की और कोरे ब्रह्मज्ञान का निरसन कर भगवद्भक्ति की प्रतिष्ठापना की। इन कृतियो मे भक्ति को वरेण्य सिद्ध करने वाली कृतिया विशेपत श्रीमद्-भगवद्गीता, नारद-भक्ति सूत्र, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, श्रीमद्भागवत् पुराण हैं। भक्ति का पोषण करने वाले प्रमुख आचार्यो मे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु तथा रामानन्द हैं, जिन्होने निरुपाधि अव्यक्त ब्रह्म को साकार सोपाधि ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। इन धर्माचार्यो मे प्राय व्यास के ब्रह्मसूत्र की व्याख्या स्वामी शंकराचार्य की अद्वैत मीमासा से भिन्न बता कर ज्ञान को भक्ति मे रूपान्तरित करने का सफल प्रयास किया। इन आचार्यो की भक्तिपरक व्याख्याओ की यह विशेषता रही कि इन्होने आर्ष ग्रथो के आधार पर ही अपने सिद्धान्तो की व्याख्या और पुष्टि की, इनके मत और सिद्धान्त कोरी कल्पना पर ही आधारित नही थे। अपने प्रत्येक निष्कर्ष को इन्होने अपने पूर्ववर्ती ग्रथो की ज्ञानपीठिका पर प्रस्थापित कर इस प्रकार तर्कसम्मत बनाया कि उसमे विप्रतिपत्ति के लिये कोई अवकाश नही रहा। इन आचार्यो की उपासना मे ब्रह्म विपयक ज्ञानतत्त्व की अपेक्षा प्रेमतत्त्व को प्रधानता मिली। ज्ञान और प्रेम का योग ही भक्ति है, इसीलिये ज्ञान और प्रेम दोनो को अग और भक्ति को अङ्गी माना जा सकता है। नारद भक्तिसूत्र तथा शाण्डिल्य भक्तिसूत्र दोनो मे ज्ञान को साधन (अग) और भक्ति को साध्य (अङ्गी) वताया गया है। भक्ति का प्रतिपादन करने वाली अन्य कृतियो में भी ज्ञान और भक्ति की तुलना में भक्ति को ही श्रेष्ठ वताया गया है। किन्तु जव हम गभीरतापूर्वक विचार करते हैं तो हमे इस निष्कर्ष की उपलब्धि होती है कि प्रेम-सम्पन्न ज्ञान को भक्तिरूप में प्रस्थापित करने वाले आचार्यों ने भगवदुपासना को अवतारवाद की ओर मोड दिया। नारायणत्व की अवतारणा नरत्व मे कर दी। किन्तु भारत मे ऐसे भी सन्त हुये जिन्होने निर्गुण, निराकार निरुपाधि के ज्ञान को ही प्रेमसिक्त वनाने की चेष्टा की—वे भक्त थे, परन्तु अवतारवाद का प्रतिषेध करने वाले भक्त थे। इन भक्तो का अग्रणी हम कवीर को मान सकते हैं। उन्ही की परम्परा में दादू, नानक, रज्जव, सुन्दरदास आदि हुए, जिन्होने भग-

वान् के नाना नामो के भजन का उपदेश तो किया किन्तु इन नामो का अवतारो पर आरोप करने के पक्षपाती नही थे, प्रत्युत अवतारो का खण्डन करते थे। भारतीय सन्तो की इस भक्ति को हम विलक्षण एवं विशष्ट ही कहेंगे जिसमे प्रेम के लिये स्थान था, परन्तु प्रेमाधार अव्यक्त ही रहा। सामान्यत प्रेम रूपा-भक्ति का ही पर्याय है। किन्तु इन सन्तो ने अरूप ब्रह्म मे उस प्रेम का विलय किया। इन सन्तो के भगवद्विषयक प्रेम मे न तो हम औत्कट्य का अभाव पाते हैं और न प्रेमानुभूति की तीव्रता का अभाव। इन सन्तो को अपने प्रेमाधार अव्यक्त ब्रह्म के विरह की अनुभूति भी कम पीडा देने वाली नही। वे ब्रह्म के साक्षात्कार के लिये उसी प्रकार आकुल रहते हैं जिस प्रकार कोई विरहातुर कामी अपनी प्रिया से मिलने के लिये तडपता है।

भक्ति का यह प्रेमतत्त्व इन सन्तो को केवल सूफियो से प्राप्त हुआ। इस मान्यता में विद्वानो की उपपत्तिया और विपपत्तिया दोनो ही प्राप्त होती हैं। भारतीय भक्ति-साहित्य में प्रेम और विरह की उद्भावना कुछ विद्वान् मौलिक न मान कर उसे सूफी साहित्य का ससर्गजात फल मानते है—परन्तु उस विषय पर भी विद्वज्जनो मे मतैक्य नही है। किन्तु इस विषय पर विशेष विवेचन यहा अपेक्षित नही है। रज्जबजी के भगवद्प्रेम तथा विरहतत्त्व पर विचार करना ही हमारा अभीष्ट है। रज्जबजी भगवदुपासना में प्रेमतत्त्व को ही प्रमुख मानते हैं। नारद-भक्ति-सूत्र के दूसरे सूत्र में भक्ति को परम प्रेमरूपा बताया गया है—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा—तथा पाचवे सूत्र मे कहा गया—यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति—अर्थात् जिस (परम प्रेमरूपा भक्ति) के प्राप्त होने पर मनुष्य न किसी वस्तु की इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे (सासारिकता में) उत्साह होता है। रज्जबजी कहते है—

प्रेम प्रीति हित नीति कू, रज्जब दुविधा नाहिं।
सेवक स्वामी एक ह्वै, आये इस घर माहिं॥

प्रेम के सदन मे सेवक और स्वामी का भेद समाप्त हो जाता है, ध्याता, ध्येय और ज्ञाता ज्ञेय का पार्थक्य भी मिट जाता है। प्रेम के प्रभाव की सीमा इसके आगे भी है—

प्रेम प्रीति हित नेह की, रज्जब ऊबट बाट।
सेवक को स्वामी करहि, सेवक स्वामी ठाठ॥

रज्जबजी का मत है कि प्रेम के क्षेत्र मे स्वामी स्नेह-विभोर हो कर अपने सेवक को आनन्द देने के लिये स्वय सेवक बन जाता है तथा सेवक अपने क्लेशो

को दूर कराने के लिये स्वामी से सेवक की भाति क्लेश-निवारण की सेवा लेने लगता है। स्वामी और सेवक एक हो जाते हैं।

भगवत्-प्रेम को जाग्रत एवं सजीव बनाने के लिये विरहानुभूति का होना आवश्यक है। विरह प्रेमानुभूति को अधिकाधिक तीव्र बनाता है। विरह प्रेम को बलिष्ठ एव वरिष्ठ करता है, जब तक विरहभावना का आविर्भाव प्रेम के हृदय मे नही होता प्रेम मे औत्कट्य नही आ पाता। "नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरण परमव्याकुलतेति" इस भक्तिसूत्र मे नारदजी ने बताया कि सब कर्मो को भगवान् को अर्पण करना और भगवान का थोडा सा विस्मरण होने मे परम व्याकुलता होना ही भक्ति है। रज्जबजी ने विरह के अग मे बहुविध रूपको के माध्यम से विरह की अनुभूति की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। रज्जबजी कहते हैं कि भगवत्प्रेमी अपने प्रीतम परमात्मा के विरह मे उसी प्रकार एकतार ध्यानरत हो जाता तथा दर्शनो की आकाक्षा रखने लगता है जिस प्रकार तपती हुई धरित्री मेघराज से जल की याचना करती है।

प्राण पिण्ड रग रोम सब, हर दिशि रहे निहारि।
ज्यों वसुधा बनराय सों, विरही चाहे वारि॥

इस विरहव्यथा की अकथ कथा को किससे कहा जाय ? यह तो राक्षसाधिपति रावण की चिता के समान अहर्निश धधक रही है—किसी प्रकार बुझती नही—

रज्जब कहिये कौन सों, इस विरहे की बात।
मानहु रावण की चिता, अहनिसि नहीं बुझात॥

विरह की अग्नि प्रेमी के हृदय मे बस गई है और उसे आपाद चूड जला रही है। प्रेमी भगवान से कृपावारि बरसाने की याचना करता है।

विरहा पावक उर बसै, नख-सिख जोरे देह।
रज्जब ऊपरि रहम करि, बरसहु मोहन मेह॥

विरह तो विषधर बन कर प्रेमी को डस रहा है। भगवान का दर्शन ही उसकी औषधि है जब तक वह औषधि प्राप्त न हो जाय तब तक प्रेमी का तन मन बेचैन रहेगा।

रज्जब विरह भुअग परि, औषधि हरि दीदार।
बिन देखे दीरघ दुखी, तन मन नहीं करार॥

हे दिलदार ! कृपा कर सुनिये, जिस प्रकार स्त्री अपने पति के विरह में व्याकुल हो कर अपना सारा शृङ्गार भूल जाती है, उसी प्रकार तुम्हारे वियोग मे मैं सभी कुछ भूल गया हू।

जैसे नारी नाह बिन, भूली सकल सिंगार ।
त्यू रज्जब भूला सकल, सुनि सनेह दिलदार ।।

अब तो भगवत्‌विरह मे प्रेमी की यह दशा हो गई है कि उसके बिना सुख-सामग्री भी अच्छी नही लगती—हाँ, यदि उसका सयोग हो जाय तो नाना प्रकार के दु ख भी अच्छे लगेगें ।

रज्जब रुचै न राम बिन, सकल भाति के सुख ।
भगवत सहित भावहिं सबै, नाना विधि के दुख ।।

विरह की तीव्र वेदना यद्यपि दुखदायी है किन्तु प्रियतम (ब्रह्म) से मिलाप का एक साधन होने के नाते वह प्रिय है । सूर्य का ताप सह कर ही जल आकाश मे पहुचता है । अत ऊर्ध्वगामी होने के लिये कष्टसहिष्णु बनना पड़ता है—

दुख दिनकर की दृष्टि करि, नेह नीर नभि जाहि ।
रज्जव रमिये शून्य मे, यहै जुगति जग माहि ।।

ससार मे विरह तो कई प्रकार के होते हैं, तथा उनके भाव भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, किन्तु जो राम के विरह से व्याकुल रहे ऐसे जीव विरले ही होते हैं ।

एक विरह बहु भांति का, भाव भिन्न विधि होय ।
रज्जब रोवै राम कू, सो जन विरला कोय ।।

रज्ज़बजी ने सामान्य विरहाग्नि से ब्रह्माग्नि को प्रचण्डतर बताया है । ब्रह्माग्नि बडवाग्नि की भाति शरीर रूपी जल को भी भस्म कर देती है, यदि शरीर रूपी जल को वह ब्रह्माग्नि जला न पाई तो उसे कच्ची आग समझना चाहिये ।

ब्रह्म अगिनि बडवा अनल, तन तोय कू खाय ।
इश्क आगि काची कहे, जो जप वारि बुझाय ।।

इस साखी मे रज्जबजी ने अत्यन्त मार्मिक भाव अभिव्यञ्जित किया है । उनका तात्पर्य यह है कि ब्रह्माग्नि के उत्पन्न हो जाने पर शरीर की ऐन्द्रिकता प्रशमित हो जाती है, इन्द्रियो का वेग शान्त हो जाता है । सच्ची आग वही है जो इन्द्रियो को भस्म कर दे । यदि इन्द्रिय-शक्ति भगवत्प्रेम पर अपना प्रभाव रखने लगी तो ब्रह्माग्नि को कच्चा मानना चाहिये । इस विरह के अभाव में दीनदयालु का दर्शन होना असम्भव है । विरह-विभूति के बिना महाविभूति उपलब्ध नही हो सकती ।

दरद बिना क्यू देखिये दरसन दीनदयाल ।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहा मिले सो लाल ।।

रज्जबजी ने विरह को चार रूपो में चित्रित किया है ।

(क) विरह वेदनादायक है, (ख) विरह प्रेम का पोषक है, (ग) विरह चित्त को शुद्ध एव निर्मल बना देता है, (घ) विरह वरदान है अत काम्य है।

इस प्रेम और विरह का हमने वैष्णव धर्म के सिद्धान्तो के आधार पर विचार किया है। अगले खण्ड में सूफी भावना की सगति में भी इस पर विचार किया जायगा।

भजन और ध्यान– भारतीय भक्तिपरम्परा के प्राय. समस्त लक्षण रज्जबजी की भगवद्भक्ति मे प्राप्त होते हैं। कबीर ने अपनी भक्ति को स्पष्ट ही नारदीय भक्ति कह कर सूचित किया है और इस नारदीय अथवा वैष्णवी भक्ति की परम्परा उनके पश्चात्कालीन सन्तो मे प्राप्त होती है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में भक्ति के दो रूपो की चर्चा की गई है—(१) ज्ञान-भक्ति अथवा पराभक्ति,(२) गौणी भक्ति। कीर्तन और भजन को उसमे गौणी भक्ति के अन्तर्गत रखा गया है। "भक्त्या भजनोपसहाराद् गौण्या परार्थतद्धेतुत्वात्" शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के इस सूत्र मे यह सिद्ध किया गया कि भक्तिपद से भजन का उपसहार होने के कारण गौणी भक्ति पराभक्ति की प्राप्ति मे हेतु है। ज्ञानभक्ति अथवा पराभक्ति के अन्तर्गत वैदिक ज्ञानकाण्ड आता है। गौणी भक्ति के अन्तर्गत सारी वैष्णव उपासना-पद्धति आती है। नारद भक्ति-सूत्र और शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र मे गौणी भक्ति के तीन भेद माने गये हैं। किन्तु हमे भक्ति के इन भेद-प्रभेदो की तालिका प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट नही है। यहा तो हमे रज्जबजी की भक्ति के भजन, जप, स्मरण तथा ध्यान का विवेचन करना है। इस जप की महत्ता निर्गुण निराकार तथा सगुण साकार—इन दोनो उपासना-मार्गों मे समान है। वेदो की नाना ऋचाओ, मन्त्रो का पाठ, ओङ्कार का उच्चारण इसी जप अथवा भजन का ही प्रकारान्तर है। प्रबुद्ध नामक योगीश्वर ने महाराज निमि से प्रेम-रूपा भक्ति की प्राप्ति के साधन बतलाते हुये कहा है—पाप समूह के नाशक श्री हरि का स्वय स्मरण करने वाले भक्तो के हृदय मे इस साधन-रूपा भक्ति के द्वारा प्रेम लक्षण भक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे भक्त का शरीर पुलकित हो जाता है।[1] कबीरदासजी तो उस परमेश्वर का स्मरण करते करते ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि उसको प्रणाम करना भी भूल जाते हैं—

मेरा मन सुमिरै राम कू, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि॥[2]

१– श्री मद्भागवत ११।३।३१
स्मरन्त स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहर हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥
२– कबीर ग्रथावली – सुमिरण का अग, साखी ८

दादूजी कहते हैं—

दादू राम नाम मे बैस करि, राम नाम ल्यो लाइ।
यहु इकत त्रिय लोक मय, अनत कहे को जाइ ॥[1]

रज्जबजी हरिस्मरण को इस लोक और उस लोक दोनो मे परम सहायक एव आनन्द प्रदाता मानते हैं—

रज्जब भजन भडार में, दीरघ दौलति दोय।
इहां सुखी ससार मधि, आगे आनन्द होय ॥
—सुमरिन का अग

वे इस संसार मे भगवान् के स्मरण को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं—

इस माया मडाण मधि, सुमरिन सम कुछ नांहि।
सो आधार उर राखिये, जन रज्जब जिव मांहि ॥

रज्जबजी भगवान् के स्मरण में किसी नाम विशेष का आग्रह नही करते। भजन मे वे राम-रहीम का अन्तर नही आकते—

रज्जब राम रहीम कहि, आदि पुरुष करि याद।
सदा सनेही सुमिरिये, जनम न जावे बाद ॥

उनके मत से जो नाम जानते हो उसी का स्मरण करो—

नाम अनन्त अनन्त के, सो सब एक समान।
रज्जब जाणे सो सुमिरि, मन वच क्रम उर आनि ॥

उनका ध्रुव विश्वास है—

नाम अनेकों एक गुण, ज्यो बहु बूदहु बारि।
जन रज्जब जाहिर कही, नर निरखहु सुनिहारि ॥

जिस प्रकार आत्मा और अरवाह एक हैं, उसी प्रकार राम और रहीम एक हैं। जल का आत्मा सर्वत्र एक सा होता है।

ज्यों आतम अरवाह इक, त्यूं ही राम रहीम।
उदिक आभ कछु द्वै नहीं, रज्जब समझि रहीम ॥

चार वेद, छ शास्त्र, कुरान, साधु और पीर सभी नाम की ही महिमा का पोषण करते हैं—

षट दरशन नावै कहै, नावै वेद पुरान।
तो रज्जब नामै गहहु, पाया भेद विनान ॥
साधु वेद बोलहिं सु यू, राम कहे सब कौन।
जन रज्जब जग उधरहीं, जो जिव जगपति लीन ॥

१– दादू वाणी – सुमिरण नाम माहात्म्य को अग।

रज्जवजी ने इस भजन की तीन स्थितिया वताई हैं—

(१) शरीर की प्रत्येक क्रिया मे उसी का ध्यान,
(२) वाणी द्वारा जप करते हुए उसी का ध्यान,
(३) श्वास-निश्वास मे उसी पर ध्यान का तार।

शरीर सवद अरु स्वास करि, हरि सुमिरन तिहु ठाव।
जन रज्जव आतम अगम, अजपा इसका नाम।

उपर्युक्त तीनो स्थितियो को प्राप्त कर लेने वाली स्थिति को अजपाजाप कहते हैं। अजपाजाप में नामोच्चारण की आवश्यकता नही रह जाती। साधक मन स्थित हो जाता है, तथा उसके हृदय मे भगवद्ध्यान का तार लग जाता है। तीव्र निष्ठा के जाग्रत हो जाने पर अपने इष्ट के ध्यान की स्वाभाविक प्रवृत्ति साधक के चित्त मे उत्पन्न हो जाती है। रज्जवजी ने सच्चे निष्ठावान् जीवो मे पतिव्रता स्त्री तथा मछली का उल्लेख किया है। ये दोनो अपने इष्ट का नाम नही लेते किन्तु इष्ट के वियोग मे स्वेच्छया प्राण त्याग देते हैं—

मिहरि पतिव्रत मीन मत, दोन्यू नाम न लेंहि।
पै होते इष्ट इलाहिदे, नेह भाग जिव देंहि॥
—अजपाजाप को अग

जव साधक का ध्यान ससार, शरीर, मन और प्राणो से हट कर ब्रह्म मे लीन हो जाता है तो उसे अजपाजाप कहते हैं—

ब्रह्मण्ड पिड मन प्राण तजि, सुख में सुरति समाय।
रज्जव अजपाजाप यहु, नर देखहु निरहाय॥

भगवान के ध्यान की यह चरम स्थिति है। अध्यात्म रामायण के उत्तर काण्ड के ५वें सर्ग के ४६वें श्लोक मे ध्यान की इसी स्थिति का प्रतिपादन किया गया है—

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो, विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः
विभावयेदेकमनन्यसाधनो, विज्ञानदृक्केवलमात्मसस्थित॥

अर्थात् ध्यानी अथवा आत्मचिन्तनरत साधक को चाहिए कि एकान्त देश मे इन्द्रियो को उनके विषयो से हटा कर और अन्त करण को अपने आधीन कर के वैठे तथा आत्मा मे स्थित होकर और किसी साधन का आश्रय न लेकर शुद्ध चित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टि द्वारा एक आत्मा की ही भावना करे।

रज्जवजी के मत से जीवन की किसी भी स्थिति मे उस ब्रह्म का ध्यान उसी प्रकार करना चाहिए जैसे जङ्गल मे जा कर भी गऊ क्षणानुक्षण अपने वत्स का ही चिन्तन करती है—

गऊ जाय वनखण्ड में, धरै वत्स पर ध्यान।
या रज्जब ह्वै राम सो, तौ पहुचै हरि यान ॥

जिस प्रकार नटिनी अपनी चित्त-वृत्तियो को सब जगह से हटा कर उसी रस्सी पर एकाग्र कर देती है उसी प्रकार साधक को अपनी समस्त वृत्तियो को उसी ब्रह्म मे लय कर देना चाहिए—

जैसे नटिनी व्रतै चढि, धरै कौन विधि ध्यान।
त्यों रज्जव रमि राम मधि, मिलै प्राणपति प्रान ।

रज्जवजी ने अनेकानेक रूपको मे ध्यान का रमणीय विवेचन प्रस्तुत किया है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग प्रदीप के दूसरे सूत्र मे चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा किये गये ध्यान का नाम योग रखा है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

तीसरे सूत्र में उन्होने कहा है—"तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" अर्थात् तभी द्रष्टा की शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति होती है। इसी तथ्य को उपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धरि' प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥[1]

आशय यह कि स्वय प्रकट होनेवाले परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियो को वहिर्गामी वनाया है इसीलिए मनुष्य उनके द्वारा वाहरी वस्तुओ को देखता है, अन्तरात्मा को नही। किसी भाग्यशाली धीर साधक ने ही अमृतत्व की इच्छा कर के चक्षु आदि इन्द्रियो को वाह्य विषयो की ओर लौटा कर अन्तरात्मा को देखा है। रज्जबजी ने भगवद्भक्ति को तीन क्रमिक स्थितियो में अवस्थित किया है। पहली स्थिति वाणी मे जप, दूसरी मौन स्मरण और तीसरी ध्यान। इन तीनो का मनोवैज्ञानिक क्रम भी है। यदि किसी वस्तु का नाम लेना प्रारम्भ कर दिया जाय तो उस वस्तु की याद बारम्बार आती है तथा किसी वस्तु के बारम्बार स्मरण करने से उसी के ध्यान में चित्त प्रविलीन हो जाता है। इन तीनो स्थितियो का अनुमोदन रज्जबजी ने अपने भजन, सुमिरन तथा ध्यान एव अजपाजाप के अगो में किया है।

ज्ञान और वैराग्य

वेदान्त प्रतिपादित ज्ञान सासारिक ज्ञान से भिन्न है। सासारिक ज्ञान में सग-दोष विद्यमान रहता है। ज्ञान मुक्ति का साधन है। किन्तु यह भी ज्ञान की

१—कठोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, चतुर्थ वल्ली, पहला श्लोक।

चरम दशा नही है। जब ज्ञान ही मुक्ति बन जाता है तो वह सच्चा ज्ञान माना जाता है, श्रीमद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय में भगवान् कृष्ण अर्जुन मे कहते हैं–

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माण, तमाहु पण्डित बुधा :॥
गीता ४-१६

अर्थ यह है कि जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और सकल्प से रहित हैं उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मो वाले पुरुष को ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं। इस श्लोक मे अभिव्यक्त आशय की दो विशेषताओ पर हमारा ध्यान सहज ही आकृष्ट होता है। प्रथम तो यह कि ज्ञानी को कामनाओ एव सकल्प से मुक्त होना चाहिए तभी उसे ज्ञानी कहा जा सकता है। मुक्त सग साधक स्वतः ब्रह्म मे लीन हो जाता है। इसे भगवान कृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेव यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥
गीता ४-३५

हे अर्जुन! जिसे जान कर फिर इस प्रकार मोह को नही प्राप्त होता और जिस ज्ञान के द्वारा अपने अन्तर्गत सम्पूर्ण भूतो को देखेगा मेरे सच्चिदानन्द स्वरूप में एकीभूत हो जायगा।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सासारिक विषयो से सङ्ग विवर्जित व्यक्ति ही आत्मज्ञानी है अथवा ब्रह्मज्ञानी है। इन दो स्थितियो में एक के स्वीकार कर लेने पर दूसरी स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। ब्रह्म का ज्ञान हो जाने से व्यक्ति मुक्तसंग हो जाता है और मुक्तसङ्ग हो जाने से ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि जिस प्रकार आत्म-ज्ञान और सङ्ग विनिर्मुक्ति परस्पर सापेक्ष हैं उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य अन्योन्याश्रित हैं। एक के विना दूसरे की भी स्थिति सम्भव नही। तुलसी ने इसीलिये "ज्ञान कि होय विराग बिनु" कहा था। ब्रह्म-तत्त्व ही अद्वितोय है—ज्ञातव्य है। उसके अभाव मे न तो मुक्ति ही प्राप्त होती है और न इस लोक में ही सुख मिलता है—

अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व न जानन्ति यदा तदा।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषा क्व मुक्ति क्वेह वा सुखम्॥[1]

जब साधक निखिल जगत को ब्रह्ममय समझ लेता है तो उसके हृदय से घृणा, शोक, मोह आदि के भाव समाप्त हो जाते है—

१– पचदशी, चित्रदीप प्रकरण, श्लोक सख्या २१७—ले० श्री स्वामी विद्यारण्यजी।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजात ।
तत्र को मोहः क. शोक एकत्वमनुपश्यत ।।

ईशावास्योपनिषद् ६-७

ज्ञानोपलब्धि के लिए वीतराग होना अनिवार्यत अपेक्षित है तथा वीतराग होने के लिये ज्ञानप्राप्ति की चेष्टा करनी पडती है। यह ज्ञान आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान का पर्याय है। "ऋते ज्ञानान्न मुक्ति" का समादर करते हुए रज्जबजी ज्ञान का महत्त्व तो स्वीकार करते है, किन्तु बिना भजन के वह ज्ञान मनुष्य के समस्त क्लेशो को दूर नही कर सकता है। ज्ञान तो वह दीपक है जो चोर और साहूकार का भद नही आकता—उसके लिए दोनो समान है—

दीपक दोन्यू एक सा, चोर साह चित नाहि ।
तैसे रज्जब ज्ञान गति, मन प्राणी के माहि ।।[1]

परन्तु भजन-विरहित ज्ञान अपने मे पूर्ण नही है। जिस प्रकार हीरा अधकार को तो दूर कर सकता है परन्तु शीत का निवारण नही कर सकता, उसी प्रकार एकाकी ज्ञान सन्मार्ग का दर्शन तो करा देगा परन्तु उसमे पडने वाले विघ्नो को दूर करने मे समर्थ नही है।

हीरा हरिसी तिमिर कू, पर शीत हर्या नहि जाय ।
त्यू रज्जब दीपक ज्ञान का, जो देख्या निरताय ।।[2]

ज्ञानी के लिए भक्ति की नितान्त अपेक्षा है। ज्ञानभक्ति के अभाव में मनुष्य माया-मुक्त नही हो सकता। ज्ञानी के लिए पथ-भ्रष्ट अथवा माया-सक्त हो जाने का सदैव भय बना रहता है। ज्ञान अकेले उसकी रक्षा नही कर सकता—

जै आतम उरि अधगति, ज्ञान दीप कर धारि ।
रज्जब पडती कूप में, दीप न सकई टारि ।।[3]

इसी प्रकार रज्जबजी भक्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता मानते हैं। बुद्धि के बिना राज्य और ज्ञान के बिना उपासना पल मात्र मे ही नष्ट हो जाती है।

नावहि भजे विचार विन, यथा अकलि बिन राज ।
रज्जब रहै न एक पल, तब ही होय अकाज ।।[4]

१– करणी बिना ज्ञान का अग।
२– वही।
३– वही।
४– ज्ञान बिना करणी का अग।

ज्ञान-विरहित उपासना द्वारा भी सांसारिक वन्धन से मुक्ति नही मिलत । ज्यो-ज्यो मनुष्य वन्धन-मुक्त होना चाहता है, त्यो-त्यो वह अज्ञान मे और भी अधिक उलझता जाता है ।

करणी करै विचार विन, सवै वंधै ता माँहि ।
रज्जव उलझि अज्ञान में, कवहू सुलझै नाँहि ॥[1]

इस प्रकार रज्जवजी ज्ञान और भक्ति को एक दूसरे का पूरक मानते हैं । ज्ञान के लिए विरक्तता अथवा विनियत चित्त का होना नितान्त आवश्यक है । गीता के छठे अध्याय मे कहा गया है—

यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥
गीता ६-१८

अर्थात् अत्यन्त वश मे किया हुआ चित्त जिस काल मे परमात्मा मे हो भली प्रकार स्थित हो जाता है तो वह निस्पृह एव कामनामुक्त होने से योगयुक्त कहा जाता है ।

रज्जबजी साधना के लिये विरक्तता को अत्यन्त आवश्यक मानते है । वे शरीर के तप और मन की निष्कामता पर वल देते है तथा आत्मा को राम में लीन करने का उपदेश करते है—

तन कसणी निहकाम मन, द्वै घट द्वै कोपीन ।
जन रज्जव यहु रहति गति, आतम रामहि लीन ॥[2]

वीतराग व्यक्ति अपनी इन्द्रियो का दमन कर के ही ऊर्ध्व गति को प्राप्त करता है । सिर कटा कर कलम हाथ, कान और कागज पर स्थान पाती है ।

सिर कटाय लेखणि चढ़ी, कर कागज अरु कान ।
रज्जव यहि विधि पाइये, परम पुरुष निज थान ॥[3]

निग्रह और दमन की चोटें खा कर साधक उसी प्रकार विश्व मे शीर्षस्थ होता है जैसे चरणो के नीचे की धूल कुम्हार को चोटे खा कर घडा वनती है और सिर पर स्थान प्राप्त कर लेती है—

देखहु जाय कुभार घरि, निपज्या कसणी खाय ।
रज्जव रज पग तलि सदा, सु सिर पर वैठी आय ॥[4]

१– ज्ञान विना करणी का अग ।
२– सयम कसौटी का अग – साखी २२ ।
३– वही, साखी ६८ ।
४– वही, साखी ६ ।

रज्जबजी सयम और ज्ञान को परस्परावलम्बित मानते है। विपयासक्ति मे विशुद्ध ज्ञान का उदय असम्भव है और विशुद्ध ज्ञान मे विना प्रवृत्ति हुये सयम निष्प्रयोजन एव मिथ्या है। इस वैराग्य पर तो सन्त-साधना का सारा वितान ही तना है। रज्जबजी ने इसी तथ्य को अपनी सम्पूर्ण वाणी मे प्रतिध्वनित किया है। किन्तु ज्ञान और वैराग्य को वे भगवद्भक्ति का साधन मानते है। सगुण उपासक महात्मा भी ज्ञान और वैराग्य को भगवद्भक्ति के साधन रूप अग मानते है।[1]

शरण और अनन्यता– लौकिक प्रेम और भगवद्भक्ति दोनो क्षेत्रो में एकनिष्ठता एव अनन्यता का समान रूप से महत्व है। एक ही व्यक्ति, वस्तु अथवा तत्व में जब हमारी प्रवृत्ति एकाग्र होगी तभी उसकी पूर्ण साधना सम्भव है और तभी साधना का अभीष्ट परिणाम भी होगा। "एकहि साधे सब सधे, सब साधे सब जाय" वाली उक्ति मे यही सिद्धान्त प्रतिफलित होता है। एक की शरण मे जाना, एक की उपासना करना, उसे छोड किसी अन्य का चिन्तन न करना ही अनन्यता है। इस सिद्धान्त में अद्वैत ब्रह्म की उपासना का अनुमोदन प्राय सभी श्रुतियो मे उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत मे तो इस अनन्य भक्ति की महती प्रतिष्ठा का वर्णन है। गोपियो का कृष्ण के प्रति प्रेम श्रीमद्भागवत का प्राण है। भगवान कृष्ण उद्धव को उपदेश देते हुये कहते हैं—

> **निरपेक्ष मुनि शान्त निर्वैर समदर्शनम्।**
> **अनुव्रजाम्यह नित्य पूर्येयेत्यङ्घ्रिरेणुभि ॥**[2]

अर्थात् जिसे किसी की अपेक्षा नही, जो जगत् के चिन्तन से सर्वथा उपरत हो कर मेरे ही मनन-चिन्तन मे तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रख कर सब के प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्मा के पोछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोच कर घूमा करता हू कि उसके चरणो की धूल उड कर मेरे ऊपर पड जाय और मै पवित्र हो जाऊँ। भगवत्प्रेम की इस अनन्यता को नारदजी ने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

> **तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति।**[3]

आशय यह कि इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है। गीता मे भगवान कृष्ण इसे इस रूप मे व्यक्त करते है—

१– नारद भक्ति सूत्र – 'तस्याज्ञानमेव साधनमित्येके' २८ वा सूत्र।
२– श्रीमद्भागवत पुराण, एकादश स्कन्ध, अध्याय १४, श्लोक १६।
३– नारद भक्ति सूत्र, ५५ वां सूत्र।

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥[1]

जो मुझे सर्वत्र देखता है, सबको मुझ मे देखता है, न कभी मैं उसकी आखो से ओझल होता हूँ और न वह मेरी आखो से ओझल होता है ।

इसी अनन्य उपासना द्वारा साधक भूमा की स्थिति तक पहुँचता है । उसके आनन्द मे विस्तार और अमृतत्त्व आ जाता है ।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्प यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्प तन्मर्त्यम् ।
—छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ७, खण्ड २४, श्लोक १ ।

अर्थात् जहा दूसरे को नही देखता, दूसरे को नही सुनता, दूसरे को नही जानता वही भूमा है । और जहा दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे को जानता है वह अल्प है । जो भूमा है अमृत है और जो अल्प है वह मरा हुआ है ।

नारदजी ने अपने भक्तिसूत्र मे स्पष्ट बताया है कि "अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता"[2] भगवान को छोड कर अन्य आश्रयो के त्याग का नाम अनन्यता है । कविवर ठाकुर ने निम्नाङ्कित सवैया मे इसी भाव की सुन्दर पुष्टि की है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं, एकहि रग रगो यह डोरो ।
धोखेहु दूसरो नाम कढै, रसना मुख बाधि हलाहल बोरो ॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यही, हम कैसेहु टेक तजै नहिं भोरो
बावरी वे अखिया जरि जायं, जो सांवरो छाड़ि निहारति गोरो ॥

रज्जबजी को भगवन्नाम एव भगवदुपासना के अतिरिक्त और कुछ अच्छा नही लगता । वे उसी एक ब्रह्म की शरण मे परितोष पाते हैं ।

मुझे लग्गं नाम ही चगा ।
नव खण्ड मांहि नाम निस्तारण भक्ति मुक्ति का सगा ॥
योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत नाही और न आवै अगा ।
भरम करम अस्तुति कसौटी वैठे नहिं दल दगा ॥
साधु वेद गुरु नाम दृढावै करत ज्ञान की गगा ।
जन रज्जब रुचि सुरति नाम की अह निशि भजत उमगा ॥
—रज्जबबानी, पद भाग

१—श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ६, श्लोक ३० ।
२—नारद भक्ति-सूत्र, ५५ वा सूत्र ।
३—श्रीमदभगवद्गीता, अध्याय ६, श्लोक ३० ।

रज्जबजी भगवान मे ऐसे लीन हो जाते हैं कि धर्म-कर्म किसी मे उनका चित्त नही रमता। भक्त के चित्त की इस स्थिति का भगवान कृष्ण ने अर्जुन से इन शब्दो मे समर्थन किया है—

सर्वधर्मान् यपरित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

गीता, अ० १८, श्लोक ६६

भगवन्नाम मे जो रस रज्जबजी को प्राप्त होता है उसके आगे ससार के समस्त रस फीके हो जाते हैं। राम-नाम के इस रस को रज्जबजी ने अपना सर्वस्व अर्पित कर के प्राप्त किया है। यह रस हरि-विमुख जनो के लिये दुर्लभ है। रज्जबजी ने रस-प्राप्ति के बाद जगत की ओर पीठ कर दी है। वे कहते हैं—

मुझे लागे नाम रस मीठा।
और सकल रस रुचै न आतम सकल रसायन दीठा।
परम पियास प्रीति सौं पीवत प्राण पियूष सु ईठा॥
हरि रस रसिक पिवत सिर ऊपरि निडर निरकुस दीठा।
रज्जब सुमिरि सुधारस लागा देय जगत सो पीठा॥

रज्जबजी अपने प्रियतम के रग मे रग गये है। वे उसी को अपना सर्वस्व अर्पित कर के परम शान्ति प्राप्त करते हैं—

पीय हू तेरे रग रगी।
परम सनेह लग्यो मन मेरे सुनि सुनि गल्लो चगी।
तन मन प्राण धरहु तुम आगे चूक न राखों अगी॥
निसि दिनि अग-संग सुख पाऊ सून्य अधार सर्वंगी।
रज्जब धनि तेरे रगि रगति दायम कायम सगी॥

—पद भाग।

रज्जबजी ने इस अनन्योपासना को 'पतिव्रता का अग' तथा 'सर्वंगी पतिव्रता का अग" मे सर्वतोभावेन सुन्दर ढग से विवेचित किया है। वे मछली और सर्प को जल और मणि के प्रति अनन्य निष्ठावान् मानते हैं।

ज्यू जल मीन भुजा मणि, दोऊ पतिव्रत माँहि।
मीन मुदित औरं जलं, सर्प और मणि नाँहि॥

—पतिव्रता का अग।

यहा पर मछली के पातिव्रत में रज्जबजी ने दोष लक्षित किया है। उनके मत से मछली एक जल को छोड कर दूसरे मे भी सुखी हो जाती है किन्तु साँप अपनी मणि के अतिरिक्त अन्य मणि से सन्तोष नही प्राप्त करता और फण पटक-

पटक कर प्राण विसर्जित कर देता है। भगवत्प्रेमी को न लोक रुचता है और न स्वर्ग। वह तो केवल एक मे ही अनुरक्त है, दूसरे से उसका कोई मतलब नही—

भिस्त न भावै आसिकू, दीन दुनी रुचि नाहि।
रज्जब राते रब्ब सो, एक वस्या मन माहि॥
—पतिव्रता का अग।

उसी परम पुरुष में साङ्गोपाङ्ग प्रविष्ट होकर प्राणामृत पिया जा सकता है, उसी अमृत की तृष्णा बढती है और नित्यप्रति प्रेमी उसका पान करता है——

परम पुरुष में पैठि करि, पीवै प्राण पियूष।
रसिया रस मे ह्वै रह्या, अरु रस ही की भूख॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह प्रपत्ति (शरण) की अनन्यता का परिपोष विश्व के सभी धर्म-सम्प्रदायो द्वारा किया गया है। निर्गुण और सगुण दोनो मार्गो मे अनन्यता सर्वथा वरेण्य और वरिष्ठ है। रज्जब पर वैष्णव-भक्ति की इस अनन्यता के भाव का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है।

ब्रह्म का स्वरूप– निखिल विश्व का रचयिता एक परमात्मा है, वही समस्त सचराचर वस्तुओ मे व्याप्त है, वह अजर है, अमर है, वह नीरव तथा अशरीरी है, वह त्रिगुणातीत है, निर्विकार है, निराकार है, वह शाश्वत चेतन सत्ता है, वह अखण्ड है, अविभक्त है, वह देश कालातीत है, वह सारे ससार का स्रष्टा, पालक तथा सहारकर्ता है। वह प्रकृति को बीच मे डाल कर अपनी लीला का विधान करता है, इन्द्र, वरुण, कुवेर, दिक्पाल, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश आदि नाना शक्तियो मे अपने को व्यक्त करता है। आत्मा-परमात्मा मे कोई भेद नही है। वह एक ही तत्व है। ब्रह्म-सम्बन्धी विवेचन मे हमारा सारा वैदिक एव औपनिषदिक साहित्य एक मत है। रज्जबजी निर्गुण वैष्णव सन्त थे। उन्होने ब्रह्म का जिस रूप मे चित्रण किया है वह सम्पूर्णत इस उपनिषद् साहित्य से प्रभावित है। ऐसा प्रतीत होता है कि रज्जबजी ने भारतीय धर्मशास्त्र को अत्यन्त निकट से समझने और जानने की चेष्टा की थी। ब्रह्म-सम्बन्धी भारतीय धर्म-साधना की सभी मान्यताये रज्जबजी की रचनाओ मे प्राप्त होती हैं। भारतीय धर्म की चिन्तनधारा मे कुछ इसी प्रकार की विचारोर्मियो का सतत उत्थान लक्षित होता है। ब्रह्म के स्वरूप के विषय मे प्राय. सभी उपनिषद् एक ही प्रकार का दृष्टिकोण रखते है। उपनिषद्-साहित्य का ब्रह्म-सम्बन्धी दृष्टिकोण रज्जबजी के साहित्य मे भी उपलब्ध होता है। वह ब्रह्म इन्द्रियातीत है, इन्द्रियो का वहा गमन नही, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्त द्वयाचचक्षिरे ।।

—केनोपनिषद्, प्रथम खण्ड, तीसरा सूत्र ।

अर्थात् उस ब्रह्म तक न तो नेत्र पहुच सकते हैं, न वाणी और न मन ही। किस प्रकार इस ब्रह्म के स्वरूप को बतलाया जाय कि वह ऐसा है, न तो हम स्वय अपनी बुद्धि से जानते हैं और न दूसरो से सुन कर ही जानते है। वह जाने हुये पदार्थ-समूह से भिन्न है और न जाने हुये से भी ऊपर है, अत अपने पूर्वाचार्यो के मुख से सुना है जिन्होने ब्रह्मतत्त्व को भली भाति व्याख्या कर के समझाया था।

उपनिषद् के इस वाक्य मे व्यक्त सत्य को सभी महात्माओ ने नाना प्रकार से व्यक्त किया है। सूरदास तो निर्गुण के अगम होने के कारण सगुण की उपासना मे प्रवृत्त हुये—

अविगति गति कछु कहत न आवै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।।

× ×

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन धावै।
सब विधि अगम विचारहि ताते, सूर सगुण लीलापद गावै।।

कबीर की 'ऐसा लो' 'तैसा लो' वाली उक्तियाँ भी उपर्युक्त विचारधारा की सगति मे ही है। ईशावास्योपनिषद के चौथे और पाचवे श्लोको मे ब्रह्म को सर्वव्याप्त सर्वशक्तिमान सिद्ध किया गया है। 'है' और 'नही है' के बीच वाला विधि निषेधात्मक ब्रह्म का स्वरूप चित्रित किया गया है—

अनेजदेकं, मनसो जवीयो, नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।
तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तत् सर्वस्यास्य बाह्यत ।।

परमात्मा अचल है, एक है तथापि मन से भी अधिक तीव्रगति-युक्त है। वह सब का आदि ज्ञानस्वरूप अथवा सब का जानने वाला है। इस परमात्मा का इन्द्रादि देवता भी पार नही पा सके। उन्ही की सत्ता एव शक्ति से वरुण आदि देवता वृष्ट्यादि द्वारा जीवो की प्राणधारणादि क्रिया सम्पन्न करने मे समर्थ होते है। वे चलते भी हैं, नही भी चलते है, वे दूर से भी दूर है और अत्यन्त समीप भी है, वे इस समस्त जगत के भीतर परिपूर्ण हैं और इस समस्त जगत के बाहर भी विद्यमान है। ब्रह्म-सम्बन्धी इसी विचार की पुष्टि कठोपनिषद् की पञ्चम वल्ली के १२ वें श्लोक में इस रूप में की गई है—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एक बीज वहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषा सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

जो परमात्मा सदा सब के अन्तरात्मा मे विद्यमान है, जो अद्वितीय है और सम्पूर्ण जगत् मे देव मनुष्यादि सभी को सदा अपने वश मे रखता है—वही सर्व-शक्तिमान, सब प्रकार से समर्थ परमेश्वर अपने एक ही रूप को अपनी लीला से वहुत प्रकार का वना लेता है। उस परमात्मा को जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने अन्दर स्थित देखते हैं, उन्ही को चिरस्थायी ब्रह्मानन्द मिलता है, दूसरो को नही।

ब्रह्म अपनी इसी सर्वशक्तिमत्ता एव सर्वव्यापकता के कारण बैठा हुआ भी दूर पहुँच जाता है, सोता हुआ भी सब ओर चलता रहता है। उस ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होने वाले देव को मुझसे भिन्न दूसरा कौन जानने मे समर्थ है? ऐसा यमराज नचिकेता से कहते है—

आसीनो दूर व्रजति, शयानो याति सर्वतः।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥

—कठोपनिषद्, द्वितीय वल्ली, श्लोक २१।

यमराज ब्रह्म की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि यह अविनाशी प्रणव ओंकार ही तो ब्रह्म का निर्विशेष स्वरूप है और यही स्वय समग्र ब्रह्म परम पुरुष पुरुषोत्तम है, अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनो का ही नाम ओंकार है। अत इस तत्त्व को समझ कर साधक इसके द्वारा दोनो मे से किसी भी अभीष्ट रूप को प्राप्त कर सकता है।

एतद्धयेवाक्षर ब्रह्म एतद्धयेवाक्षर परम्।
एवद्धयेवाक्षर ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

—कठोपनिषद् २–१६

तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली के अष्टम् अनुवाक मे ओमिति ब्रह्म' मे इसी वात की पुष्टि होती है। ब्रह्म को प्रत्येक प्राणियो के हृदय मे उसी प्रकार व्याप्त माना गया है जैसे तिलो मे तेल, दही मे घृत, सोतो मे जल, लकडियो मे अग्नि—

तिलेषु तैल, दधनीव सर्पिराप. स्रोत स्वरणीषुचाग्नि·।
एवमात्माऽऽस्मनि गृह्यतेऽसौ, सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, प्रथम अध्याय, १५ वां श्लोक।

रज्जवजी उस साई (ब्रह्म) को आकाशवत् मानते हैं। आकाश शून्य है, निराकार है, निर्गुण है, किन्तु उसमे वादल सगुण साकार भाव से प्रकट होते

और विलुप्त होते रहते हैं। जो उपजे और विनष्ट हो वह माया है। जितने अवतार हैं, वे उत्पन्न हुये और नष्ट हुये, अत वे ब्रह्म नही हैं—

रज्जब साईं सुन्नि में, आभा वो औतार।
सो माया उपजै खपै, पाया भेद विचार॥[1]

अवतारो की आराधना करने वालो तथा एक ब्रह्म की उपासना करने वालो मे रज्जबजी ने स्तरभेद स्थापित किया है। उनकी दृष्टि मे अवतारो की उपासना करने वाले उस चातक की भाति हैं जो आकाश के बादलो का जल पी कर अपनी तृषा बुझाते है, किन्तु सुधाधर चन्द्र का अमृत तो चकोर ही पीता है। चातक और चकोर दोनो आकाश की ओर ताकते है परन्तु एक की दृष्टि बीच मे ही रुक जाती है और उसे केवल नीर मिलता है जबकि शून्य के अतराल मे स्थित चन्द्रमा को निहारने वाले चकोर को अमृतत्व प्राप्त होता है। रज्जबजी ब्रह्म को सृष्टि का कारण मानते है तथा अन्य समस्त वस्तुओ को कार्य (फल) मानते है। अवतार भी फल है। कारण अमर है, अविनश्वर है तथा कार्य (फल) मरता है, नष्ट होता है। प्राण कारण है, शरीर कार्य है। एक सत्य है दूसरा मिथ्या है। शरीर की आराधना करने वाला मिथ्या का अवलम्ब ले रहा है अत वह भी अमृतत्व पाने से वचित रह जायेगा। रज्जबजी इसके लिये दश अवतारो मे राम और परशुराम का उदाहरण प्रस्तुत करते है—

परसुराम अरु रामचन्द्र, हये सु एकहिं बार।
तो रज्जब द्वै देखि करि, को कहिये करतार॥[2]

उक्त दोनो अवतार एक ही समय मे हुये, तो रज्जबजी प्रश्न करते हैं कि किसे ब्रह्म मानें ?

वस्तुतस्तु सृष्टि पचतत्त्व-सङ्घात से निर्मित हुई, अत. इस ससार की कोई वस्तु ब्रह्म नही, वह माया का विस्तार मात्र है—

पचतत्त सब ठौर है, सब घटि सबही माँहि।
रज्जब माया विस्तरी, ब्रह्म सु कहिये नाहि॥[3]

रज्जबजी सूर्य, चन्द्र, जल, पृथ्वी, पवन, आकाश इन ६ को ब्रह्म नही मानते—

१– रज्जब बानी, पीवपिछाण का अग
२– रज्जब बानी, पीव पिछाण का अग
३– " " " " "

रज्जब पट अग खलक का, पै खालिक कह्या न जाइ ।
चंद सूर पाणी पवन, घर अम्बर निरताइ ।।[1]

रज्जबजी के विचार से निर्मिति निर्माता नही होती । इस तथ्य को वे अत्यन्त तर्कसम्मत शैली मे इस प्रकार प्रस्तुत करते है—

दीपक होहि न घर-घणी, वासण ह्वै न कुमार ।
ससि सूरज साहिब नहीं, यू आतम ब्रह्म विचार ।।[2]

किसी गृह मे दीपक गृह का स्वामी नही होता, हा उसका व्यवस्थापक अवश्य घर का स्वामी होता है । घडा कुम्भकार के द्वारा बनाया जाता है परन्तु घडा स्वय कुम्भकार नही होता । लोग वस्तुओ की व्यापक उपयोगिता से प्रभावित होकर व्याप्य को व्यापक मान लेते हैं । दीपक द्वारा घर प्रकाशमान् होता है और कुम्भकार द्वारा उपयोगी पात्रो की रचना होती है परन्तु दोनो के सामने न होने के कारण यदि दीप को गृह का स्वामी और पात्रो को हम कुम्भकार मान बैठे तो यह उचित नही । इसी प्रकार यदि सूर्य, चन्द्र अपनी ज्योति का विस्तार समस्त धरातल पर करते हैं तो उन्हे धरणीश्वर (ब्रह्म) नही मान लेना चाहिये । इसी तथ्य को रज्जबजी और स्पष्ट करते है—

लोहा ह्वै न लुहार, सोना सोनी होइ कब।
त्यू ही आतम राम, चित्र चितेरहिं देखि अब ।।[3]

रज्जबजी उस ब्रह्म और जगत को बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से देखते हैं ।

काया कुभ जीव जल दुसै, ससि सूरज प्रतिव्यम्ब ।
घट फूटे दिनकर गये, अभ्यासत अर अम्ब ।।[4]

शरीर रूपी घडा है, उसमें आत्मा रूपी जल है, उस जल में जीवात्मा रूपी सूर्य और चन्द्र प्रतिबिम्बित हो रहे है । शरीर रूपी घडे के टूट जाने पर प्राण रूपी जल बह गया और जीवात्मा रूपी सूर्य भी अदृश्य हो गया । कबीर की भी इसी प्रकार की उक्ति है—

जल में कुभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी ।।

१– रज्जब बानी, पीव पिछाण का अग
२– ”	”	”	”
३– ”	”	”	”
४– ”	”	”	”

रज्जबजी ने अपने उपर्युक्त कथन मे प्राण-सत्ता और जीवात्मा मे भेद कर दिया है। यह भेद करना आवश्यक था क्योकि प्राण और जीवात्मा दोनो भिन्न-भिन्न वस्तुये है। वे प्राण-मत्ता और परमात्मा का भेद स्पष्ट करते हुये कहते है—

जीव ब्रह्म करि वोलिये, गुण लछिण सो नाहि।
रज्जब वाइक वादि यहु, समझि देखि मन माहि ॥[1]

रज्जबजी कहते है कि आत्मा (परमात्मा) का निर्वचन भाषा द्वारा नही हो सकता, क्योकि शब्दार्थ अथवा शब्द शक्ति की सीमा होती है परन्तु वह परमात्मा अगम और अगाध है, इसीलिये तो शब्द-निर्भर उपनिपदो ने शब्दातीत ब्रह्म की पूर्ण व्याख्या करने मे असमर्थ होकर 'नेति' 'नेति' कहा—

सबद न समझै आतमहि, आतम राम अगम्म।
रज्जब कही विचार करि, नेती कहै निगम्म ॥[2]

वह परमात्म सत्ता है भी और नही भी है। यद्यपि यह आश्चर्य की बात है परन्तु वह खण्ड-अखण्ड भाव से समस्त विश्व में व्याप्त है—

है नाही के मांहि है, देखा अचरज अग।
जन रज्जब हैरान यू, मेलै अग अभग ॥[3]

बहुदेवोपासना को हीन एव परमात्मा की उपासना को श्रेष्ठ सिद्ध करते हुये रज्जबजी कहते है—

आदि नरायण आदित रूपी, दीपक देयी देव।
अतक आधी मुख ते बिनसे, रज्जब पाया भेव ॥[4]

अर्थात आदि नारायण (अनादि ब्रह्म) सूर्य की भाति है तथा देवी-देवता दीपक की भाति हैं। दीपक आधी के एक झोके मे निर्वाण को प्राप्त होता है, परन्तु सूर्य की ज्योति पर आधी आदि विघ्नो का कोई प्रभाव नही। गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में भक्ति को मणि और ज्ञान को दीपक बता कर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

देवी-देवताओ को उपासना का निरसन करते हुये रज्जबजी उन्हें विनश्वर बताते हैं। देवी-देवता स्वय भाषा के बन्धन से मुक्त नही, तथा मायोपहत

१– रज्जब बानी, पीव पिछाण का अग
२– ,, ,, ,,
३– ,, ,, ,,
४– ,, ,, ,,

मनुष्य उनकी उपासना इस आशा से करते है कि वे उसे माया के बन्धन से मुक्त करा देगे। जो स्वय वद्ध है वह दूसरे वद्ध को मुक्त किस प्रकार करा सकता है—

वांध्या वांधे कू भजैं, मुक्त होन की आस।
रज्जव ये कैसे खुलैं, इहि झूठे वेसास ॥[1]

अत जो जीवन और मृत्यु का ससरण स्वीकार करता है वह दूसरे को अमर क्या करेगा—

रज्जव जो जामैं परैं, ताका तजिये आस।
हमहिं अमर सो क्या करै, जो आप फिरैं अभवास ॥[2]

दस अवतारो अथवा चौबीस अवतारो के भी जो ऊपर है उसी की आराधना मे लगना चाहिये—

एक कहै अवतार दश, एक कहै चौबीस।
रज्जव सुमिरैं सो धणी, सो सवही के सीस ॥[3]

वह परमात्मा ससार के कण-कण मे व्याप्त और प्रतिविम्वित हो रहा है परन्तु जगत् को किसी भार के क्लेश का अनुभव उसी प्रकार नही हो रहा है जैसे शीशे में सारे अग प्रतिविम्वित होते हैं परन्तु दर्पण को कोई भार प्रतीत नही होता। अथवा यहा ब्रह्म को दर्पण मान सकते हैं जिसमें यह जगत् प्रतिविम्बित हो रहा है—

दर्पण में दीसै सव देशा, ताकू भार नाहि दुख लेशा।
यू गुण रहित सु अतरजामी, ता माहै खेलें सव कामी ॥

जिस प्रकार नाना प्रकार के वृक्षो में अग्नि व्याप्त है उसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है। वह मायाकृत आस्वादो के मध्य मे है परन्तु उससे निर्लिप्त है। इस प्रकार माया में (अजन मे) माया रहित (निरजन) निर्लिप्त भाव से विद्यमान है। रज्जवजो ने इस आशय को व्यक्त करने के लिये अनेक उपमानो का प्रयोग किया है।

जिस प्रकार एक सूत्र में अगणित मणिया गूथी जाती है, सूत्र का सव मणियो से स्पर्श भी होता है परन्तु मणियो मे सूत्र लिप्त नही होता, इसी प्रकार उस

१– रज्जव वानी, पीव पिछाण का अग
२– ,, ,, ,,
३– ,, ,, ,,

परमात्म सूत्र मे ससार की अनेकानेक वस्तुए ग्रथित हैं। जिस प्रकार मणि सर्प के मुह में रह कर भी उसके विष से निर्लिप्त रहती है उसी प्रकार माया पन्नगी के विष से परमात्मा रूपी मणि अस्पृष्ट रहती है—

अग्नि अठारह भार समीपा, स्वादहु सगि स्वाद नहिं छीपा ॥
यू अजन माहि निरजन आपै, ताको परसै पुण्य न पापै ॥
मणिगण अनत सूत मधि येकै, अरस परस अरु भिन्न विवेकै ॥
ऐसी विधि दीसै जगन्नाथा, सबसे न्यारा सबके साथा ॥
मणि भुजग ज्यू माहे रहई, उभय परमगुण नाहीं गहई ॥
त्यू तन माहे है ततसारा, गुरु परसाद सु किया विचारा ॥[1]

वैष्णव विश्वास-परम्परा से प्रभावित होने के कारण रज्जबजी सगुण-उपासना के विरोधी होते हुये भी निर्गुणोपासना और सगुणोपासना मे समन्वय स्थापित करते प्रतीत होते हैं। उनके विचार से ब्रह्म सासारिक वस्तुओ की आकृति प्रकृति के अनुसार उन्ही मे तादात्म्य रूप से विद्यमान रहता है, तथा जिस वस्तु का जो स्वरूप है परमात्मा उसी वस्तु के रूप में भासित होने लगता है—

प्राण पुरुष को पारिख पाई, जा गुण मिलै ताहि सम भाई।
ज्यू जल पैठि ईख गुण होई, पोसत परस अफीमो सोई ॥

अठारह भार माहि जल पैठे, गुण सु समान स्वाद ह्वै बैठे।
जैसी विधि यहु रगति नीरा, श्याम श्वेत ह्वै राता पीरा ॥

ऐसी विधि आतमहु पिछानी, ता सम तुल्य जाहि गुन सानी।
शीत लाग जल हेमहु होई, अग्नि प्रसग उष्ण पुनि सोई ॥

ज्ञान दृष्टि करि देखिया, आतम उदक स्वरूप।
सरगुण मिलि सरगुण सही, निर्गुण मिलि निज रूप ॥

आतम भाव एक सो ऐसा, जा गुण मिलै ताहि गुण वैसा।
एकै भाव राग बहु परसै, राग समान भाव विच दरसै ॥

सोई भाव परै बहु बानी, वेद कतेब भाव ह्वै जानी।
नाना विधि हुनर ह्वै भावै, गुण समान ह्व बीचि लखावै ॥

एकै भाव पचरस भोगी, सोई भाव उलटि पुनि योगी।
नाना विधि देही गुण भावै, यहु पारिख पूरा जन पावै ॥
जिन अगू प्रानी पति मेला, ते सब अग भाव के खेला ॥

१— रज्जब बानी, शक्ति उभै गुणी का अग

आतम परखी लगन समि, जस लागी तस अग ।
जन रज्जब जित्र फटक गति, धरचा अधर द्वै रग ॥[१]

परमात्मा ससार की वस्तुओ के साथ एक रूप हो जाता है परन्तु उनसे निर्लिप्त रहता है। उपर्युक्त चौपाइयो के पहले दोहे मे निर्गुण भक्ति को रज्जबजी ने सङ्केतात्मक ढङ्ग से श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा की है । उन्होने कहा—

ज्ञान दृष्टि करि देखियो, आतम उदक स्वरूप ।
सरगुण मिलि सरगुण सही, निरगुण मिलि निज रूप ॥

इस दोहे मे आत्मा को जल रूप मे निरूपित किया गया है । यदि जल को किसी वस्तु मे डालिये तो उसी मे मिल कर उसी के रूप का हो जायेगा । ठीक इसी प्रकार ज्ञान-दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि वह आत्मा सगुण मे मिल कर सगुण हो जाती है परन्तु निर्गुण मे मिल कर आत्मरूप हो जाती है । इस प्रकार सगुण सोपाधि ब्रह्म को मिश्रित बताया गया तथा निर्गुण ब्रह्म को शुद्ध और निर्मल ।

रज्जवजी की भक्ति का उपासनाधार निर्गुण निराकार ब्रह्म है । वह एक है । वही ओम् है । रज्जबजी ने अपनी वानी मे अनेक बार ओकार शब्द से ब्रह्म को सम्बोधित किया है । उनकी भक्ति ज्ञानमूलक न होकर प्रेममूलक है। स्थूलानुवर्तिनी न होकर सूक्ष्मानुवर्तिनी है। रूपासक्ति का महत्त्व न होकर नादासक्ति (शब्द ब्रह्म) प्रधान है । उसमे भक्त और परमात्मा के बीच पति-पत्नी की सी निष्ठा है । वह अनन्य है। प्रपत्ति प्रेरित है। ज्ञान, वैराग्य, सयम, शील, सदाचार, सेवा, सत्सङ्ग उसके पोषक अङ्ग हैं । रज्जवजी की भक्ति मे वहुदेवोपासना वर्जित है। सम्पूर्ण विश्व मे परिव्याप्त एक निराकार, निर्विकार ब्रह्म ही एक मात्र उपास्य है । करुणा, दीनता, विनय, दया, निर्वैर, सत्यपरायणता आदि उस भक्ति के दिव्य आभूषण हैं । रज्जवजी वर्ग, पक्ष, सम्प्रदाय, वर्ण एव जाति को भक्ति में कोई स्थान नही देते । मध्य मार्ग पर उनका विश्वास है । उनके दृष्टिकोण मे अति साधना कष्टप्रद वन जाती है । समस्त सचराचर को ब्रह्ममय मानना ब्रह्मोपासना का मूलाधार है ।

(घ) रजयावत और शैव तथा शाक्त मत—

यद्यपि वैष्णव भक्ति एव शैव मत के मूल वीज वेदो मे उपलब्ध होते हैं, परन्तु ये दोनो ही उपास्य वैदिक युग मे गौण थे । विष्णु और रुद्र को प्रमुखता

१– रज्जब वानी—प्रथ पारिख का अग

तथा श्रेष्ठता वेदोत्तर काल मे मिली, यदि दोनो के उत्कर्ष की गति पर हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि शैव मत का प्रसार प्रारम्भ मे उस व्यवस्था एव प्रभाव के साथ नही हुआ, जिस व्यवस्था और प्रभाव के साथ वैष्णव धर्म का प्रसार हुआ। शिव को प्रमुख देवता के रूप मे प्रतिष्ठा वेदोत्तर काल मे ही मिली। 'रुद्र' कभी भी विशुद्ध रूप से कर्मकाण्ड के देवता नही थे। ब्राह्मण-ग्रन्थो के समय तक वह एक प्रमुख देवता बन गये थे जिनका अपना वास्तविक व्यक्तित्त्व था। अतः जब इन विचारको ने धार्मिक विचार-धारा मे यह नया आन्दोलन प्रारम्भ किया तब स्वभावत उन्होने कर्मकाण्ड के अन्य देवताओ को छोड कर इसी देवता की उपासना को अपनाया। इस प्रकार रुद्र की उपासना जन-साधारण मे ही नही, अपितु आर्य जाति के सबसे उन्नत और प्रगतिशील वर्गों मे होने लगी। इससे रुद्र के पद में और भी वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। "चूकि किसी भी समाज मे नीति और सदाचार की भावना और 'ऋत' की कल्पना सर्व प्रथम उसके उन्नत और प्रगतिशील वर्गो मे ही विकसित होती है। अत पहले के ही शक्तिशाली रुद्र, जिनका आतक लोगो के हृदयो पर छाया हुआ था इस 'ऋत' के मूर्तिमान स्वरूप बन गये, जब कि अन्य देवता सर्वशक्तिमान यज्ञ विधि के समक्ष क्षीण होते चले जा रहे थे। इससे रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओ से ऊचा हो गया और नाम से ही ऊँचा नही अपितु वास्तव मे रुद्र 'महादेव' ही बन गये।"[१]

इस प्रकार शिव की साम्प्रदायिक उपासना का भी सूत्रपात हो गया। दक्षिण मे लिंगायत तथा उत्तर मे काश्मीरी शैव मतो का प्रादुर्भाव हुआ। दक्षिण के लिंगायत अथवा वीर शैव मत के आदि प्रवर्तक आराध्य सम्प्रदाय के मादिराज के पुत्र थे। इनकी कथा वासव पुराण में दी हुई है। किन्तु श्रीभडारकर लिंगायत शैव मत का प्रादुर्भावकाल इससे भी पहले का मानते हैं।[२] इसमे कोई सन्देह नही कि रूढियो एव दुराग्रहो से मुक्त होने के कारण वीर शैव मत का प्रचार एव प्रसार दक्षिण भारत मे अन्य शैव उपसम्प्रदायो की अपेक्षा सर्वाधिक हुआ। चौथी और पाचवी शती मे उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के समय दक्षिण मे शैव और वैष्णव मतो की महती प्रतिष्ठा हुई। निरीश्वरवादी धर्म जैन और बौद्ध इससे पहले भारत मे प्रचलित थे। वैष्णव और शैव दोनो मतो की उक्त निरीश्वर वादी धर्मों से शत्रुता थी।

१– शैवमत, ले० डॉ० यदुवशी, पृष्ठ १९-२०, प्रकाशक–बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, पटना

२– Collected works of Sir R G Bhandarkar, Vol. IV, Vaishnavism, Saivism and Minor Religious System, pp 187-88

काश्मीरी शैव मत के मूल स्रोतो के सम्बन्ध मे प्राय विद्वान् अनुमानोपजीवी हैं, निश्चित रूप से काश्मीरी शैव-दर्शन के उद्गम पर कुछ कहना कठिन है। परन्तु यह सत्य है कि वहा के अद्वितीय विद्वान् वसुगुप्त ने कुछ सूत्रो की रचना की थी जो 'शिव सूत्र' के नाम से प्रख्यात हुये। इसमे उन्होने अद्वैतवादी शैव सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। वसुगुप्त के शिष्य कल्लट ने शैव मत पर एक दार्शनिक ग्रन्थ 'स्पन्द सूत्र' अथवा 'स्पन्दकारिका' लिखी। सोमानन्द नाम के दूसरे शैव मतावलम्बी ने 'शिव दृष्टि' ग्रथ की रचना की तथा उनके शिष्य उत्पल ने प्रत्यभिज्ञा सूत्रो की रचना की तथा इसका नाम 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन पडा।

लगभग इसी युग मे भारत मे शङ्कराचार्य का आविर्भाव हुआ। उनके 'अद्वैत ब्रह्म' सिद्धान्त से भी काश्मीर के अद्वैत शैव सिद्धान्त को बल मिला होगा। यो तो जैसा कि हम कह चुके हैं कि शिव की उपासना रुद्र एव सोम के रूप मे वेदो मे मिलती है, परन्तु शैव मत का विकास वेदोत्तर काल मे हुआ। ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद की तैत्तिरीय सहिता एव वाजसनेयी सहिता, इसके उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थो मे ऐतरेयब्राह्मण, कौशीतकीब्राह्मण, तैत्तिरीयब्राह्मण, तलवकार अथवा जैमिनीब्राह्मण, ताण्डय अथवा पच वशब्राह्मण, शतपथब्राह्मण, उपनिषदो मे वृहदारण्यक, केन, प्रश्न, श्वेताश्वतर, सूत्र ग्रथो मे साख्यायनश्रौतसूत्र, आश्वलायनश्रौतसूत्र, लाटचायनश्रौतसूत्र, बौधायनधर्मसूत्र, मानवगृह्यसूत्र, बौधायनगृह्यसूत्र, इनके अतिरिक्त वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, साहित्य ग्रन्थो मे बौद्ध कवि अश्वघोष के बुद्धचरित तथा सौन्दरानन्द, शूद्रक का मृच्छ-कटिक, मनु की मनुस्मृति, भरत का नाटचशास्त्रम्, वात्स्यायन का कामसूत्र, कालिदास का रघुवश महाकाव्य तथा विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक, मेघदूत काव्य, पुराण ग्रन्थो मे अग्निपुराण, गणेश-पुराण, गरुडपुराण, नीलमतपुराण, ब्रह्मपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, मत्स्यपुराण, लिंगपुराण, वायुपुराण, सौरपुराण, तत्र ग्रन्थो मे कुलचूडामणितत्र, कुलार्णवतत्र, तत्राभिधानतत्र, तत्रराजतत्र, प्रपचसारतत्र आदि कृतिया शैव उपासना की विविध प्रणालियो का मण्डन करती हैं।[1]

वैष्णव और शैव मतो के अनुयायी एक दूसरे के उपास्य देवताओ के प्रति अत्यन्त आदर का भाव रखते थे। ब्रह्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा ब्रह्माण्ड-पुराण जैसे कई पुराणो में तो विष्णु और शिव मे अभेद-स्थापना का प्रयास

१– शैवमत, ले० डॉ० यदुवशी, पृ० २१।

परिलक्षित होता है। उपासना की दोनो धाराओ मे एकेश्वर विष्णु और एकेश्वर शिव तथा दोनो के अभेद के प्रतिपादन की यह परम्परा गोस्वामी तुलसीदास तक चली। शिव-द्रोही विष्णु का दास नही हो सकता, यह मान्यता तुलसीदासजी की थी। पुराणकारो ने अद्वैत विष्णु और अद्वैत शिव को एक ही मूल शक्ति के दो रूप सिद्ध करने का सफल प्रयास किया।

वैदिक साहित्य से लेकर गृह्य सूत्रो तक रुद्र अथवा शिव के अतिरिक्त किसी स्त्री देवता का उल्लेख नही मिलता। कही-कही रुद्राणी और भवानी जैसे शब्दो का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु ये शब्द तो रुद्र और भव से बने हुये हैं। महाभारत के भीष्म पर्व के २३ वें अध्याय में कृष्ण की सम्मति से अर्जुन विजय के लिये दुर्गा का स्तवन करते हैं, इससे यह परिचय प्राप्त होता है कि दुर्गा नाम की देवी का आविर्भाव महाभारत के रचनाकाल से पूर्व हो चुका था। धीरे-धीरे दुर्गा की पूजा एक परम शक्तिशालिनी देवी के रूप मे होने लगी थी तथा दुर्गा अनेक नामो जैसे कुमारी, काली, कपाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कराला, विजया, उमा आदि से सम्बोधित होने लगी थी। महाभारत के विराटपर्व के छठे अध्याय में दुर्गा को युधिष्ठिर ने महिषासुर-नाशिनी कह कर सम्बोधित किया है—ऐसी ही कथा हरिवशपुराण में भी प्राप्त होती है। इस शक्ति की उपासना करने वाले ही शाक्त कहलाते हैं। शक्ति की उपासना पद्धति की व्याख्या करने वाले प्रचुर तंत्र साहित्य की रचना की गई। इसी शिव और शक्ति के सम्बन्ध तथा उनके परस्पर तादात्म्य की व्याख्या करने वाला जटिल दर्शन शाम्भव कहलाया।[1]

हठयोग के आद्याचार्य भगवान् शङ्कर माने जाते हैं। हठयोगप्रदीपिका के प्रथम श्लोक मे आदिनाथ भगवान शकर को हठयोग का उपदेष्टा मान कर उनको नमस्कार किया गया है।[2] मुगल शासनकाल के इन सन्तो के निर्गुण भक्ति-मार्ग के आविर्भाव से पूर्व नाथसम्प्रदाय के योगसिद्धान्त का भारत मे पर्याप्त प्रभाव था। वे भी निर्गुण सन्तो की भाति घटप्रदेश मे ही निरञ्जन का दर्शन करते रहते थे। नाथपन्थी उस निरजन के दर्शन के लिये योग-प्रक्रिया अपनाते थे। उस योग-प्रक्रिया में वे हठयोग को विशेष महत्त्व देते थे। हठयोग की शारीरिक प्रक्रियाओ द्वारा स्थूल शरीर पर विजय प्राप्त करते तथा चित्त शुद्धि द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में कर परमात्मा का साक्षात्कार करते थे। यह स्थिति

१– Collected works of Sir R. G. Bhandarkar, Vol IV, pp (203–09)

२– श्रीआदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव॥

केवल नाथपथियो की ही नही थी, भारत के समस्त धर्मों का अन्ततोगत्वा एक ही परिणाम दृष्टिगोचर होता है–सभी धर्मों में तान्त्रिक प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य लक्षित होता है। यही कारण है कि वैष्णव तन्त्र, शैव तन्त्र, शाक्त तन्त्र, बौद्ध तत्र आदि मे पर्याप्त समानतायें प्रतिभासित होती है। कहना चाहिये भारत की सम्पूर्ण धर्म-पद्धति ही तन्त्र की जटिलता मे बंध कर जड़ हो गई। हमारे यहा की धार्मिक तान्त्रिकता मे हठयोग-साधना सर्वनिष्ठ प्रतीत होती हैं। नाम अथवा शब्द-भेद से लगभग एक ही सी हठयोग क्रियाओ एव आचारो का प्राधान्य इस तन्त्रसाधना में प्राप्त होता है। षटचक्रो की साधना तथा कुण्डलिनी योगाचार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। परन्तु निर्गुण भक्तिमार्ग के अनुयायी सन्तो ने परमात्म-साक्षात्कार के लिये हठयोग प्रक्रिया को नही अपनाया किन्तु निर्गुण भक्ति द्वारा जीव व परमात्मा के सम्बन्ध मे आवरण भूत माया के परदे को हटा कर घट में ही उस अद्वैत निरञ्जन का दर्शन किया। फिर भी जनसाधारण मे प्रचलित नाथसम्प्रदाय की योग-प्रक्रिया का सामान्य प्रभाव उन पर भी पडा। अत उन्होंने भी अपने मार्ग के अनुकूल निरञ्जन दर्शन के उपयोगी योग की सामान्य क्रियाओ को अपनाया और उनका निरूपण अपनी वाणियो मे किया। हठयोग उनके निर्गुण भक्ति मार्ग से मेल नही खाता था क्योकि हठयोग मे नेति, धोति, वस्ति अनेक प्रकार के आसन, प्राणायाम, मुद्रा वध आदि क्रियाओ द्वारा शरीर को वलपूर्वक हठ से वश मे किया जाता है और शरीर को कष्ट दिया जाता है, जव कि भक्तिमार्ग में शरीर-सत्ता पर किसी प्रकार का अत्याचार न कर के इन्द्रिय व मन को ईश्वर-स्मरण व प्रेम द्वारा वश में कर के अविच्छिन्न रूप से लगा दिया जाता है, और इस तरह घट में उस निरञ्जन का दर्शन किया जाता है। किन्तु हठयोग की क्रियाओ के अतिरिक्त और भी यौगिक क्रियाये ऐसी हैं जिनके द्वारा ब्रह्माण्ड का पिण्ड में दर्शन किया जाता है और वे क्रियायें प्राणायाम, स्वरोदय व अन्य प्रणालियो से मन को शुद्ध कर के उसको आत्मा में लीन करने वाली हैं। ऐसी क्रियायें योगशास्त्र में 'लययोग' नाम से प्रसिद्ध हैं। लययोग के भी सव अङ्गो का सन्तो की वाणियो में वर्णन उपलब्ध नही है, किन्तु त्रिवेणी-स्नान, आत्मा मे मन का लय, सुषुम्ना, इडा, पिङ्गला, सूर्यचन्द्र, शून्य स्थान, कुण्डलिनी, अनाहतनाद, अजपाजाप, नादविन्दु आदि का निरूपण मिलता है और वह भी विप्रकीर्ण ही मिलता है।[1] स्वामी सुरजनदासजी का यह विचार अपने में मौलिक एव

1– दादूवाणी—सम्पादक स्वामी मगलदास, भूमिका ले० स्वामी सुरजनदासजी एम ए साहित्य-व्याकरण-योगाचार्य।

मूल्यवान् है। सन्त-साहित्य में हठयोग-सम्बन्धी यह नाथपन्थी प्रभाव कबीरदासजी के माध्यम से प्रचलित हुआ। कबीर-परम्परा के अन्य सन्तो ने जैसे नानक, दादू, रज्जब आदि ने कबीर की मान्यताओ को स्वीकार किया था और यही कारण था कि उन्होने कबीर के प्रतिपाद्य को अपना प्रतिपाद्य माना और उसी का अनुमोदन किया।

रजबावत तथा शैव शाक्त साधना का इतना ही सम्बन्ध हम मान सकते हैं कि शैवो और शाक्तो में योगिक क्रियायें विद्यमान थी जो निर्गुण भक्त सन्तो अथवा रज्जबजी को अत्यधिक मान्य थी। कबीर, दादू, रज्जब आदि के एकेश्वर-वाद में निर्गुण राम के अतिरिक्त किसी अन्य देवता के लिये किञ्चिन्मात्र स्थान नही था। शिव, शक्ति अथवा अन्य अवतारो के प्रति इन सन्तो की अनास्था थी। वे बहुदेवोपासना के कट्टर विरोधी थे। इसका सकेत हम पीछे कर आये हैं। परिणामत शैव और शाक्त धर्मों के आचार-विचार, अनुष्ठान, पूजा, कर्मकाण्ड इन सन्तो के साहित्य मे किसी रूप में नही प्राप्त होता, प्रत्युत् यदि कही कुछ उल्लेख मिलता भी है तो 'वैष्णव की छपरी भली, ना साकत बड गाव' के रूप में ही। बहुदेवोपासनावलम्बियो से इन निर्गुण भक्तो को चिढ थी। तब फिर रज्जबजी के सिद्धान्तो में शैव अथवा शाक्त भावना का आरोप कर के उनका अनुशीलन करना किसी प्रकार न्यायानुमोदित नही। रज्जबजी ने जहा शक्ति-शिव-शोध के अङ्ग में शक्ति का उल्लेख किया है वह माया के रूप में है। ब्रह्म और माया के अतिरिक्त रज्जबजी और कुछ नही मानते। वे उस शक्ति (माया) को उभय-गुणी मानते हैं.—

स्वारथ परमारथ सकति, तो धृग माया धन्न ।
रज्जब रुचि सों काढिल्यो, जो है जाके मन्न ॥[1]

आशय यह है कि शक्ति (माया) में स्वार्थ और परमार्थ दोनो हैं। वह धिक्कृत भी है और धन्य भी है। जिसके हृदय में जैसी आकाक्षा हो अपनी रुचि के अनुसार इस शक्ति से वही लिया जा सकता है।

'शक्ति सीव शोध' के अङ्ग में भी रज्जबजी शक्ति को शाक्तो की उपास्य देवी के रूप में नही चित्रित करते, उसे माया के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं —

लागी सो त्यागी तबहिं, मोहि कहो समझाय ।
एक ब्रह्म दूसरी माया, यह सशय नहिं जाय ॥

माया अत्यन्त शक्तिशालिनी है, वह निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है —

१– रज्जब बानी, सक्ति उभै गुणी का अग।

ब्रह्मण्ड प्यण्ड जिव जोति लगि, मधि माया गुर रूप।
रज्जब निकसै कौन विधि, रिधि छाया हरि कूप॥
(सकति सींव सोध का अग)

यह माया ब्रह्माण्ड पिण्ड, और प्राण में त्रिगुणमयी होकर व्याप्त हो गई है, तब इसका उस हरि कूप से निकालना कठिन है क्योंकि वह भक्ति के कूप मे भी कामनाओ की छाया बन कर समा गई है।

इस प्रकार रज्जबजी इस शक्ति को माया के पदार्थ के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। शैव और शाक्त उपासना का कोई लक्षण रज्जबजी को भगवद्भक्ति मे नही प्राप्त होता। केवल हठयोग की दिशा मे कुछ साम्य वैषम्य हो सकता है जिस पर हम स्वतत्र रूप से विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं—

(ड) रजबावत और योग-दर्शन

निर्गुण सन्त परम्परा मे योग का प्रभाव एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव विचारणीय प्रसग है। इसके पूर्व कि हम रज्जबजी के साहित्य में योग की स्थिति पर विचार करें भारतीय योगशास्त्र की सक्षिप्त भूमिका प्रस्तुत करना हमारे विचार से नितान्त आवश्यक है।

भारतीय षड्दर्शनो मे साख्य तथा योग ये दो शास्त्र प्राचीनतम माने जाते हैं। सांख्य के आदि वक्ता परमर्षि कपिल तथा योग के प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ हैं। इन विषयो का अन्य कोई वक्ता इनसे अधिक प्राचीन नही है—

सांख्यस्य वक्ता कपिल· परमर्षि स उच्यते।
हिरण्यस्य गर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन॥
महाभारत १२–३४९–६५

यह हिरण्यगर्भ जगदाधार एव परमात्मा ही है, इस तथ्य की पुष्टि ऋग्वेद, छादोग्यउपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद्, अद्भुतरामायण तथा महाभारत आदि ग्रथो मे की गयी है।

हिरण्यगर्भ समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात· पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋग्वेद १०–१२१–१

उपर्युक्त प्रमाण से हमारा यह भ्रम दूर हो जाता है कि योगशास्त्र के आदि कर्ता महर्षि पतञ्जलि थे। पतञ्जलि ने इस शास्त्र को परम्परा से प्राप्त किया था। उनके योगशास्त्र का प्रमुख सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' भी इसी सत्य की ओर सकेत करता है। शासन का अर्थ उपदेश अथवा शिक्षा होता है। अनुशासन का अर्थ उस विषय की शिक्षा जो परम्परा से चली आ रही हैं। इसी कारण पत-

जलि 'योग शासनम्' न कह कर 'योगानुशासनम्' कहते हैं । विद्वानो में यह मान्यता भी है कि योगशास्त्र कपिल के साख्यशास्त्र से निष्पन्न हुआ । योगदर्शन को हम साख्यदर्शन की क्रियात्मक अभिव्यक्ति मान सकते है । साख्य अपनी वैचारिक अथवा ज्ञानात्मक भूमि पर अवस्थित है तथा योग क्रियात्मक भूमि पर । इसीलिये भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से इन दोनो शास्त्रो की विशेष प्रशसा की है–

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां, कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
गीता ३–३

हे निष्पाप अर्जुन, इस मनुष्यलोक मे मैंने पुरातन काल मे दो निष्ठाये बतलाई हैं । साख्ययोग की निष्ठा ज्ञानयोग से होती है और योगियो की निष्ठा निष्काम कर्मयोग से ।

योग शब्द युक्ति अर्थात् मेल तथा 'युज समाधो' इस धातु से समाधि के अर्थ मे प्रयुक्त होता है । व्यास ने योग शब्द का प्रयोग सर्वत्र समाधि के अर्थ मे किया है । गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को समाधिस्थ योगी के लक्षण बतलाते हुये उन्हें योगी बनने का निर्देश किया है । इस विषय की विवेचना श्री मद्भगवद्गीता के छठे और आठवें अध्यायो में हुई है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवाऽर्जुन ॥
गीता ६–४६

अर्थात् योगी तपस्वियो मे श्रेष्ठ है, ज्ञानियो से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्मकाण्डियो से भी श्रेष्ठ है, इसलिये हे अर्जुन, तू योगी बन ।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' सूत्र द्वारा पतजलि ने यह सूचित करने की चेष्टा की है कि निर्मल सत्वप्रधान चित्त को जो अङ्गाङ्गिभाव से परिणत वृत्तिया हैं, उनका निरोध अर्थात् चित्तवृत्तिया जो बाहर की ओर जाती हैं उन बहिर्मुख चित्तवृत्तियो को सासारिक विषयो से हटा कर अन्तर्मुख कर अपने कारण चित्त में लीन करना ही योग है, ऐसा निरोध चित्त की समस्त भूमियो में सभी प्राणियो का धर्म है । योग सारे सम्प्रदायो और मत-मतान्तरो के पक्षपात एव वाद-विवाद से रहित सार्वभौम धर्म है जो तत्व का ज्ञान स्वय अनुभव द्वारा करना सिखलाता है और मनुष्य को उसके अन्तिम ध्येय तक पहुँचाता है । चित्त की वृत्तियो द्वारा हम निरन्तर स्थूलता की ओर जाते हैं अर्थात् बहिर्मुख होते हैं । जितनी वृत्तिया बहिर्मुख होती जायेंगी उतनी ही उनमें रज और तम की मात्रा बढती जायेगी और जितना वृत्तियो का निरोध होता जायेगा उतना ही रज और

तम का तिरोभाव होगा तथा सत्व का प्रकाश बढता जायगा। जब समस्त वृत्तिया नि शेप हो जाये तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेप रह जाता है। जिस प्रकार जल की सार्वत्रिक व्यापकता होने पर भी उसकी शुद्ध धारा को किसी स्थान विशेप से खोद कर निकालते हैं इसी प्रकार उस परमात्मन् तत्व के सर्वव्यापक होने पर भी उसके शुद्ध स्वरूप को किसी स्थान विशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। चित्त को किसी एक विशेप देश पर ठहरा कर शुद्ध परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने का यत्न ही एकाग्रता सम्प्रज्ञात योग तथा सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है, तथा सर्ववृत्तियो के निरोध होने पर शुद्ध परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति अथवा निरुद्ध अवस्था ही असम्प्रज्ञात योग तथा असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती हैं। एक वाक्य में कहे तो कह सकते है कि स्थूलता का अङ्कुचन तथा सूक्ष्मता का प्रसरण ही योग है। वेदान्तियो ने योग के तीन अन्तर्विभाग किये—उपासनायोग, कर्मयोग, तथा ज्ञानयोग। परमात्म प्राप्ति के लिये चित्त का एक लक्ष्य विशेप पर ठहराना ही उपासना है या भक्ति योग है। सकाम कर्मों से चित्त में विषय-राग उत्पन्न होता है अत वैराग्य की प्राप्ति के लिये निष्कामता आवश्यक है। पाप रूप अधर्म कर्म तो लव्ध होते ही हैं परन्तु पुण्य रूप धर्म अर्थात् कर्तव्य कर्म भी फलासक्ति से मुक्त होने चाहियें। यह निष्कामता दो प्रकार से सम्भव है। एक तो समस्त कर्तव्य कर्मो को ईश्वरार्पित कर के करना, दूसरे कर्तव्यकर्मों को इस भावना से करना कि शरीर इन्द्रियादि तथा उनके विषय भी तीनो गुणो से बने हुये हैं, इसलिये गुण ही गुणो मे वरत रहे हैं–आत्मा उनका द्रष्टा, अकर्ता, निर्विकार, निर्लेप और असग है। इस प्रकार कर्मो के फलो से निष्कामता प्राप्त करने को कर्म योग कहते हैं। उपासना और कर्म योग से जो परमात्मा की प्राप्ति होती है वह ज्ञान अथवा साख्य योग है। यो इन तीनो प्रकार के योगो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है किन्तु साधनावस्था मे योग की तीनो प्रक्रियायें साधक की रुचि एव सामर्थ्य के अनुसार प्रधान और गौण हो जाती हैं। तीन मे से किसी का सर्वथा अभाव नही होता। इन तीनो योगो के दो मुख्य भेद साख्य और योग नाम से किये गये हैं। जहा भक्ति योग और कर्म योग प्रधान है वहा हम योग निष्ठा मानते हैं तथा जहा ज्ञान प्रधान है वहां साख्य निष्ठा है। पातजलि योगप्रदीप के पड्दर्शन समन्वय प्रकरण मे योग के स्वरूप का उद्घाटन् एक रोचक रूपक द्वारा किया गया है, जिसे हम यहा उद्धृत करना समीचीन मानते हैं। उस रूपक मे योग के अष्टाग स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

चित्त और पुरुप का जो अनादि स्व-स्वामी भावसम्बन्ध चला आ रहा है,

जिसके अनुसार स्वरूप चित्त को अश्व और स्वामी रूप पुरुष को सवार समझना चाहिये। इस अश्व का मुख्य प्रयोजन अपने स्वामी को भोग (इष्ट) रूप मार्ग पूरा करा कर अपवर्ग रूप लक्ष्य तक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सडक वाला चार भागो मे विभक्त है—पहला स्थूल भूत, दूसरा सूक्ष्म भूतो से तन्मात्राओ तक, तीसरा अहकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारे पर भेद-ज्ञान रूपी एक अश्वशाला है। यहा इस घोडे को छोड देना पडता है और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्मस्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है जहा इस सवार को पहुँचा देना इस घोडे का मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्म रूप असावधानी से पुरुष घोडे की पीठ पर से नीचे गिर कर लगाम पकडे हुये घोडे की इच्छानुसार असमर्थता से उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्व की असख्य चालें हैं जो वृत्तिया कहलाती हैं। ये दो प्रकार की हैं, एक क्लिष्ट जो पुरुष के लिये अहितकारिणी है, दूसरी अक्लिष्ट जो पुरुष के लिये हितकर है। वह पाच अवस्थाओ मे रहती है--मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमे प्रथम तीन अवस्थायें पुरुष के प्रतिकूल हैं, केवल अन्तिम दो अनुकूल हैं। यह घोडा पहली तीन अवस्थाओ मे अपनी अनन्त क्लिष्ट चालो से ससार रूपी घोर भयकर वन मे विषय-वासना रूप हरियाली की ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट) रूपी नदी-नालो, खाई-खन्दक, काटे और पत्थरो मे असमर्थता से घसीटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दु ख रूपी चोटो से पीडित हो रहा है। अपरिमित समय से उस अवस्था मे रहते हुये पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वथा भूल गया है और घोडे के साथ एकात्म भाव कर के उसके ही विषयो को अपना मानने लगा है। ईश्वरानुग्रह से जब अध्यात्म विषयक सच्छास्त्रो और निस्वार्थ चित्त काम योगी गुरुओ के उपदेश से अपने और उस घोडे के वास्तविक स्वरूप तथा अपने अन्तिम लक्ष्य का ज्ञान होता है तब वह यम-नियम के साधनो से घोडे की क्लिष्ट चालो को अक्लिष्ट बनाता है। आमन का सहारा लेकर घोडे की रकाब पर पैर रखने का यत्न करता है, प्राणायाम की सहायता से रकाब पर पैर जमाने मे समर्थ होता है। प्रत्याहार द्वारा वश मे कर के उसकी पीठ पर सवार होने मे सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट) रूपी पक्की सडक की ओर घोडे का मुख फेरना धारणा है। घोडे को उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सडक के निकट पहुँच जाना समाधि है। चित्त की विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतरूप एकाग्रता की अवस्थाओ से क्रमानुसार भोग रूपी मार्ग के स्थूल सूक्ष्म अहङ्कार और अस्मिता रूपी भागो को समाप्त करता है। विवेक ख्याति द्वारा घोडे को अश्वशाला मे छोड कर सर्ववृद्धि

निरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्म स्वरूप रूपी विशाल राजभवन मे पहुँचता है।

इसी तथ्य की पुष्टि घेरण्ड ऋषि के इस कथन से होती है —

सुकृतं दुंष्कृतं कार्यैर्जायन्ते प्राणिनां घटे।
घटादुत्पद्यते कर्म घटीयन्त्र यथा भ्रमेत् ।।
ऊर्ध्वाधो भ्रमते यद्वद् घटीयन्त्र गवा वशात्।
तद्वत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युभिः ।।[1]

अर्थात् भले बुरे कर्म करने से अङ्ग उत्पन्न होता है। अङ्ग (शरीर) से कर्म उत्पन्न होता है। जैसे घटी यत्र उलट पलट नीचे कभी ऊपर की ओर कलो के वश मे हो कर घूमता है उसी भांति उत्तम मध्यम कर्मों के वश हो वह जीव भी जन्म और मृत्यु के फेर मे पडा घूमता है। कठोपनिषद् मे भी सक्षेप मे यह रूपक इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है .—

आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मन प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण. ।।[2]

यहा यम नचिकेता को उपदेश दे रहे हैं कि शरीर रथ है, पुरुप रथी है, बुद्धि सारथी है, मन लगाम है, इन्द्रिया घोडे हैं, विषय ही विचरण के लिये मार्ग हैं, शरीर, मन, इन्द्रिय—इन सब के सहित जीवात्मा ही भोक्ता है।

रज्जबजी उपनिषद्भिमत की परम्परा मे ही शरीरेन्द्रियो के स्वामी मन को तुरङ्ग तथा चेतन (पुरुप) को उसका सवार बताते है और अन्त मे पुरुष को पवन रूप सिद्ध कर के उसे आकाश-विहारी बना देते हैं।

मन तुरग चेतन चढ़े, पवनि पखि सो जाय।
रज्जब बैठे शून्य में, मांहे मिलै खुदाय ।।[3]

इन्द्रियो और मन को घोडा उपनिपद् मे भी माना गया है। योग के आठ अगो मे इस इन्द्रिय निग्रह मन के निरोध का ही निर्देशन है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

इन आठ अङ्गो मे पहले पाच योग के बहिरग साधन कहलाते है तथा अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन माने जाते है। किन्तु अन्तरङ्ग होते हुये भी यह

१– घेरण्ड सहिता, प्रथम उपदेश, श्लोक ६-७
२– कठोपनिषद् प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली, श्लोक ३-४
३– रज्जव बानी, मधिमार्ग निज स्थान निर्णय का अङ्ग, साखी २३

असम्प्रज्ञात समाधि के पहले की अवस्थायें हैं, क्योकि असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है। अत. योग के अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरग साधन हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या के लिये विज्ञान भिक्षु का 'योगवार्तिक' तथा भोज की 'भोज वृत्ति' ग्रन्थो का अवलोकन करना चाहिये। योग के इन्ही स्थूल सूक्ष्म साधनो के आधार पर उसके चार प्रकार किये गये है १–हठयोग २–राज योग ३–लय योग ४–मन्त्र योग।

किन्तु योग मुख्यत दो प्रकार का ही माना जा सकता है, हठ योग तथा राज योग। हठ योग शारीरिक योग है तथा राज योग मानसिक। एक मे बल पूर्वक नाना शारीरिक क्रियाओ द्वारा इन्द्रियनिग्रह का विधान है दूसरे मे सतत अभ्यास द्वारा मन अथवा प्राणो को सासारिक विषयो से विरत किया जाता है। लय योग और मन्त्र योग तो राज योग मे ही एक प्रकार से अन्तर्भूत हैं। योगाभ्यास करने के लिये शरीर के सात साधन [1] १–देह शुद्धि, २–दृढता, ३–स्थिरता, ४–धैर्य, ५–लाघव (हल्कापन), ६–प्रत्यक्ष (नेत्रो से देखना), ७–निर्लिप्त (वस्तुओ का उपभोग करते हुये निर्लिप्त रहना) बताये गये हैं।[2]

उपर्युक्त सप्तमाधनो मे प्रथम की साधना के लिये ६ कर्म करना आवश्यक है —[3]

> धौतिर्बस्तिस्तथा नेति लौलिकी त्राटक तथा।
> कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥

ये ६ कर्म हैं १–धोति, २–बस्ति, ३–नेति, ४–लौलिकी, ५–त्राटक, ६–कपाल भाति। हठ योग प्रदीपिका मे यही ६ कर्म बताये गये हैं, केवल लौलिकी के स्थान पर वहा नौलिकी शब्द का प्रयोग किया गया है। हठ योग मे आसन-वन्ध तथा मुद्रायोगसाधन के विशिष्ट अङ्ग माने गये हैं। हठ योग सम्बधी ग्रथो मे इनका विस्तार से वर्णन मिलता है। पातजलि हठ योग प्रदीप के साधनपाद मे इनको सूत्रबद्ध किया गया है। किन्तु सन्त रज्जब हठयोग की इन नेति, धोति आदि क्रियाओ की अस्वाभाविक पद्धति को अपनाने के पक्ष मे नही है। वे सहज साधना पर ही विश्वास करते हैं।

१– पातजल योग, प्रदीप साधनपाद, सूत्र २६।

२– शोधन दृढ़ता चैव, स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्ष च निर्लिप्त च, घटस्य सप्त साधनम्॥
घेरण्ड सहिता–उपदेश १, श्लोक ६

३– घेरण्ड संहिता, उपदेश १, श्लोक १२।

हठयोग को कुण्डलिनी योग भी कहते है। कुण्डली अथवा कुण्डलिनी एक विशेष शक्ति है जो साधक के योग-प्रयत्नो से जागृत होती है। इस शक्ति के जागरण मे ही योग की सिद्धि निर्भर रहा करती है। हठयोग मे इस कुण्डलिनी की प्रशसा मे यह कथन है—

सशैलवनधात्रीणा यथाधारोऽहि नायक ।
सर्वेषा योगतत्राणा तथाधारो हि कुण्डली ।।[1]

अर्थात् जैसे सम्पूर्ण पर्वतो, वनो वाली भूमि का आधार शेषनाग है उसी प्रकार योग के समस्त उपायो का आधार कुण्डली है। इसके जग जाने से प्राण सुषुम्ना मे होकर ब्रह्म-रन्ध्र मे प्रवेश पा जाते हैं और इस प्रकार अमरत्व प्राप्त हो जाता है।[2]

यह कुण्डली मूलाधार गुदा और लिंगमूल के बीच के स्थान मे सर्प के आकार मे स्थित है। वही पर दीप-ज्योति की भाति जीवात्मा अधिष्ठित है। उसी के तेज का ध्यान ही परात्पर ध्यान है।[3] इडा और पिंगला अपर नाम चन्द्र और सूर्य नाडी का त्याग कर जब पवन स्थिर हो जाता है तो सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्म-रन्ध्र को गमन करता है। क्रियाशील शक्ति को ग्रहण करके योगी सब चक्रो को बेध जाता है और जब योगाभ्यास की परिचयावस्था होगी तो वह त्रिकूट (आधिदैविक, आधिदैहिक, आधिभौतिक) कर्मों को निश्चय ही देखेगा।[4]

१–हठयोगप्रदीपिका, उपदेश ३, श्लोक १

२–हठयोगप्रदीपिका, उपदेश ३, श्लोक ३
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्त निरालम्ब, तदा कालस्य वचनम् ।।

३–घेरण्डसहिता, उपदेश ६, श्लोक १६
मूलाधारे कुण्डलिनी, भुजगाकाररूपिणी ।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र, प्रदीपकलिकाकृति ।।
ध्यायेत्तेजोमय ब्रह्म तेजो ध्यान परात्परम् ।

४–तत परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत् ।
यदा वायुश्चन्द्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ।।
वायु परिचितो वायु सुषुम्णा व्योम्नि सचरेत् ।
क्रियाशक्ति गृहीत्वैव, चक्रान् भित्वा सुनिश्चितम् ।।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगत ।
त्रिकूट कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम् ।।
शिवसहिता—तृतीय पटल, श्लोक ७१–७३

हठयोगी यो तो शरीर मे साढे तीन लाख नाडिया मानते हैं परन्तु उनमे मुख्य १४ मान्य है[1]—१ सुषुम्ना, २ इड़ा, ३ पिंगला, ४ गान्धारी, ५ हस्ति विह्वा, ६ कुहू, ७ सरस्वती, ८ पूषा, ९ शखिनी, १० पयस्विनी, ११ वरुणा, १२ अलबुपा, १३ विश्वोदरी, १४ यशस्विनी। इनमे भी सर्व प्रमुख तीन है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना मे पुन सुषुम्ना नाडी प्रधान है। शरीर की समस्त अन्य नाडिया इसके आश्रय मे रहती है। यह परमपद-दात्री है। यह योगी-वल्लभ है। यह तीनो नाडिया अधोवदना हैं तथा कमल-तन्तु के सदृश हैं और चद्र-सूर्य अग्नि के समान है। इड़ा चद्र-रूप पिंगला सूर्य-रूप, तथा सुषुम्ना अग्नि-रूप है। तीनो मेरुदण्ड के आश्रित हैं।[2]

गुदा से अगुल ऊपर और पेढू से अगुल नीचे मध्य मे चार अगुल के विस्तार मे आधार-पद्म है। उस आधार-पद्म की कर्णिका (डण्डी) मे त्रिकोण योनि है, उसी स्थान मे कुण्डलिनी देवता साढे तीन आवृत्त कुटिला जिसकी प्रभा विद्युत के समान है सुषुम्ना के मार्ग मे स्थित हैं। यह कुण्डलिनी वाग्देवी भी मानी जाती है। इसे देवता भी नमस्कार करते हैं। इड़ा नाडी वाम भाग मे है, वह सुषुम्ना को आवृत्त करती हुई अर्थात् उससे मिली हुई नासिका के दक्षिण द्वार को गई है। दक्षिण मार्ग मे पिंगला नाडी सुषुम्ना के आश्रय से नासिका के वाम द्वार को गई है। इन्ही इडा-पिंगला के मध्य मे सुषुम्ना है। कठोपनिषद्[3] और प्रश्नोपनिषद्[4] मे सुषुम्ना नाडी की विशेष प्रशसा की गई है। इस सुषुम्ना के ६ स्थानो मे ६ शक्तियाँ है—डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिनी, शाकिनी और इन्ही ६ स्थानो मे ६ पद्म है, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

हठयोग मे षट्चक्रो का महत्त्व भी दृष्टव्य है। शिव-सहिता के पाचवे पटल मे इनका इस प्रकार वर्णन किया गया है। यहां हम केवल नाम और लक्षण दे रहे है—

१–शिवसहिता, द्वितीय पटल, श्लोक १३–१४–१५

२–तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा।
अन्यास्तदा त्रय कृत्वा नाड्य सन्ति हि देहिनाम्॥
नाड्यस्तु ता अधोवदना पद्मतन्तुनिभा स्थिताः।
पृष्ठवश समाश्रित्य सोमसूर्याग्निरूपिणी॥
शिवसहिता, द्वितीय पटल, श्लोक १६–१७

३–द्वितीय अध्याय, तृतीय वल्ली

४–तृतीय प्रश्न, सातवां सूत्र

मूलाधार—

आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दत ।
परिस्फुरत् वादिसान्तं चतुर्वर्णं चतुर्वलम् ।।

आधार-पद्म अथवा मूलाधार के मूल मे योनि की स्थिति है। यह पद्म परम प्रकाशमान व से स तक अर्थात् व श ष स तथा चार दलो से शोभित है।

स्वाधिष्ठान—

द्वितीयन्तु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम् ।
बादिलान्त च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ।।

दूसरा पद्म जो लिंग मे स्थित है। वह ब से ल तक अर्थात् ब भ म य र ल ६ वर्णों से युक्त और ६ दलो से शोभित है। इसे स्वाधिष्ठान चक्र कहते हैं।

मणिपूरक—

तृतीय पकज नाभौ मणिपूरकसज्ञकम् ।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभित हेमवर्णकम् ।।

मणिपूरक नाम का तीसरा पद्म नाभि-स्थल मे है, वह हेमवर्ण दश दल करके शोभित है और उसमे फनक अर्थात् ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, वर्ण है।

अनाहत—

हृदयेऽनाहत नाम चतुर्थं पकज भवेत् ।
काविठान्तार्णसंस्थान द्वादशार्णसमन्वितम् ।।

हृदय-स्थान मे अनाहत नामक चतुर्थ पद्म है। वह क से ठ तक अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, इन बारह वर्णों तथा बारह दलो से युक्त है।

विशुद्ध—

कंठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्ध नाम पञ्चमम् ।
सुहेमाभ स्वरोपेत षोडशस्वरसयुतम् ।।

कण्ठ-स्थान मे पाचवा विशुद्ध नामक कमल है। वह स्वर्ण वर्ण १६ स्वर अर्थात् अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः से युक्त हैं।

आज्ञा—

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेत द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभ तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ।।

भ्रू के मध्य मे आज्ञा पद्म है, उसमे ह क्ष दो बीज है । सुन्दर श्वेत वर्ण के दो पत्र हैं। उस स्थान मे महाकाल सिद्ध है। हाकिनी अधिष्ठात्री देवी और परमात्मा देवता है।

यह छः चक्रो की साधना हठयोग मे निर्धारित की गई है । कालान्तर से ६ चक्रो के स्थान पर ९ चक्रो का प्रतिपादन भी किया गया तथा दोनो की मान्यता प्रतिष्ठित हो गई । हठयोग मे प्राणायाम की महत्ता सर्वोपरि है। प्राणायाम की अनेक विधिया तथा प्रकार निर्दिष्ट किये गये। रेचक, पूरक और कुभक प्राणायामो के कई भेद निरूपित किये गये। किन्तु इस प्रसङ्ग मे इन सब का विवेचन अपेक्षित नही है। योगिक क्रियाओ की पृष्ठभूमि के रूप मे अति सामान्य विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत प्रसङ्ग मे यह देखना आवश्यक है कि रज्जब जी की साधना मे योग के दो मूल प्रकार हठयोग तथा राजयोग का कहा तक प्रभाव है ? निर्गुण भक्ति-साधना के सतो की प्रवृत्ति स्थूल के विसर्जन और सूक्ष्म के ग्रहण मे विशेष रही है। उन्होने सगुण उपासना मे प्रतिपादित ब्रह्म के नाना अवतारो का खण्डन किया परन्तु अवतारो के नामो को सहर्ष स्वीकार किया । वे अव्यक्त ब्रह्म को नाना सज्ञाओ से सम्बोधित करते हैं परन्तु उसे रूपात्मक अथवा स्थूल बनाने के पक्ष मे नही हैं। उन्होने मन और इन्द्रियो के निग्रह पर विशेष बल दिया, ाह्य कर्मकाण्डो एव वेद-रचना की स्थूलता का निराकरण किया । उनकी साधना अन्तर्वर्तिनी तथा अन्तर्मुखी थी । यह निर्गुणोपासक सत वाह्याडम्बर अथवा उपासना की स्थूल पद्धतियो के पक्ष मे नही थे। रज्जब जी उपासना के बहिरंग साधनो का निरसन करते थे। हठयोग की क्रियायें चूंकि योग के बहिरग साधन हैं, इसीलिये रज्जब जो साधना मे हठयोग को पूर्णत न अपना सके। उनकी हठयोग सम्बन्धी आस्था अधिक से अधिक इडा, पिगला, सुपुम्ना अथवा चन्द्र-सूर्य मिलाप तक, चक्रो मे केवल षट्-चक्र शब्द के प्रयोग तक ही सीमित रही। रज्जब जी हठयोग के यम, नियम, आसन, मुद्रा, बन्ध के ब्यौरे मे नही गये और न इन कृत्रिम असहज साधनाओ मे उनका विश्वास ही था। वे तो सहज साधना को प्रश्रय देते थे। हठयोग की जिन विशेष धाराओ का प्रभाव रज्जब जी के साहित्य मे लक्षित होता है वे निम्नलिखित है—

(क) इडा, पिंगला, सुषुम्ना के सयोग से अमृतत्व की प्राप्ति
(ख) पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड की अवस्थिति
(ग) सयम एव इन्द्रिय-निग्रह
(घ) ब्रह्म-रध्र अथवा शून्य मे प्राणारोपण

हमारे विचार से हठयोग की अपेक्षा रज्जब जी राजयोग को अधिक महत्त्व देते हैं। योग के अतरग साधनो पर उनकी अधिक आस्था है। लय, ध्यान तथा समाधि उनकी परमात्म-साधना के विशेष अग है।

रज्जब जी ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग शरीर और मन को ही बतलाते है—

तन मन में मारग मिल्या, सतगुर दिया दिखाय ।
जन रज्जब रमि रह्या उस, परम पुरुष कने जाय ॥[1]

पिंड मे ही ब्रह्म का अन्वेपण करना चाहिए। बहिर्मुखी वृत्तियो द्वारा ब्रह्म प्राप्त नही हो सकता—

सप्त द्वीप नव खण्ड फिरि, हाथ चढ़े कछु नांहि ।
रज्जब रजमा पाइये, आये उर घरि मांहि ॥[2]

रज्जब जी कहते हैं—यह सारे लोक एव द्वीपखड मनुष्य के पिंड के ही भीतर समाये हुए हैं। अतः बाहर भ्रमण करने की अपेक्षा यदि अतर्गमन किया जाय तो अतर्यामी प्राप्त हो सकता है—

अन्तरि लांघे लोक सब, अन्तरि औघट घाट ।
अन्तरजामी कू मिले, जन रज्जब उर बाट ॥[3]

शिव-सहिता के द्वितीय पटल के आरम्भ मे इसी विचार को विस्तार से इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरु सप्तद्वीपसमन्वित ।
सरित सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालका ॥ १ ॥

ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवता ॥ २ ॥

सृष्टिसहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जल पृथ्वी तथैव च ॥ ३ ॥

त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहत ।
मेरु सवेष्ट्य सर्वत्र, व्यवहार. प्रवर्तते ॥
जानाति य· सर्वमिद स योगी नात्र सशय ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डसज्ञके देहे, यथा देश व्यवस्थित· ।
मेरुश्रृ गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुत ॥ ५ ॥

१–रज्जववानी–मधि मार्ग निज स्थान निर्णय का अग, साखी १
२–रज्जववानी–मधि मार्ग निज स्थान निर्णय का अग, साखी १३
३–रज्जववानी–मधि मार्ग निज स्थान निर्णय का अग. साखी १९

वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधा वर्षत्यधोमुख ।
ततोऽमृत द्विधाभूत याति सूक्ष्म सथा च वं ॥ ६ ॥
इडमार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम् ।
पुष्णाति सकल देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥ ७ ॥

यही कारण है कि रज्जब जी बहिर्मुख भ्रमण को श्रेयस्कर नही समझते ।

पिंड मे ब्रह्माण्ड की स्थिति का अनुमोदन हठयोग एव राजयोग दोनो करते हैं । राजयोगान्तर्गत बिंदुयोग मे भी इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है—

इदानी पिंडब्रह्माण्डयोरैक्यमस्ति तस्मात् ब्रह्माण्डमध्ये ये पदार्थास्तेपि पिंड-मध्ये सतीति कथ्यन्ते ।[1]

अर्थात् पिंड-ब्रह्माण्ड मे ऐक्य है, अत· ब्रह्माण्ड मे जो पदार्थ हैं वे पिंड मे भी है ।

बिंदुयोग मे पिंड-ब्रह्माण्ड के ऐक्य को सूक्ष्म व्यौरे के सहित समझाया गया है । 'इदानी शरीरमध्ये लोकत्रय कथ्यन्ते' कह कर, तीनो लोक, 'इदानी-मुपरितन लोकचतुष्क कथ्यन्ते' द्वारा चारो लोक, 'इदानी सप्तद्वीपानि पिंडमध्ये कथ्यन्ते' द्वारा सप्त द्वीप इसी प्रकार सप्त समुद्र, नवखण्ड, अष्टकुल पर्वत, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि सभी अत्यन्त रोचक शैली मे पिंड मे स्थित प्रतिपादित किये गये हैं ।

पुरुष पवन रूप हो जाता है तथा ऊर्ध्वगामी हो जाता है—इसकी पुष्टि राजयोग करता है—

तदनन्तर पवन रूपी पुरुषो भवति । समग्रा पृथ्वी दृष्ट्या पश्यति .... परमेश्वर समीपे पश्यति[2] ।

इसके उपरात यह पुरुष पवन रूपी हो जाता है, अपनी दृष्टि से सब पृथ्वी को देखता है · परमेश्वर को समीप ही देखता है ।

रज्जब जी वहिर्मुख होकर भ्रमण करने वालो का उदाहरण देते हुए कहते हैं—

उनचास कोड़ि अहनिसि फिरहि, चतुर प्रहर शशिभान ।
रज्जब उभै चलाक अति अविगति नाथ न जान ॥

१—बिन्दु योग भाषाटीका प० ज्वालाप्रसाद मिश्र पृ० ४७—५४
२—बिन्दु योग, पृष्ठ ५५ ।

उनचास करोड मरुद्‌गण रातदिन चक्कर लगाते हैं। सूर्य-चन्द्र चारो प्रहर चलते हैं। किन्तु परमेश्वर का सान्निध्य उन्हें नही प्राप्त हो पाता। रज्जब जी का कथन है कि उस रसूल का मार्ग पिंड के भीतर ही है।

बस उल्टे चल कर उस वजूद को प्राप्त करने के लिए कोई साहसी मुसाफिर ही जाता है। इद्रियो की गति वहिर्मुखी है—उनको अतर्मुखी वनाना बडे साहसी साधक का कार्य है, यही—उल्टा चलना है। इसी को 'उल्टा चलै सो औलिया' कहते है—

रज्जब राह रसूल का, पैंडा पंजर माहिं।
उल्टे चलि औजूद में, मरद मुसाफिर जाहिं॥[1]

जिन्होंने मन और इद्रियो को वश में कर के मदन भुजग का वध कर दिया है वही पुरुष परम पुरुष से मिल पाता है—

मन इन्द्री जिन वस करी, मारचा मदन भुजग।
सो रज्जव सहजै मिलै, परम पुरुष के सग॥[2]

रज्जव जी कहते हैं कि यदि भगवान् के मार्ग मे चलने का चाव है तो शरीर और मन को पैरो तले दवाओ—

हरि के मारग चलन का, जे कछु है चित चाव।
तो रज्जब त्यागो जगत, दै तन मन सिर पाव॥[3]

साधक को रणविक्रमी की भाति इद्रियो से युद्ध ठानना चाहिये। ज्ञान की कृपाण लेकर युद्ध जीता जा सकता है—

सूरा ह्वै सग्राम चढ़ि, अरि इन्द्री अड़ि मारि।
जन रज्जव युग जीतिये, ज्ञान-खग कर धारि॥[4]

रज्जव जी इद्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिये हठयोग की प्रक्रिया ग्रहण करने का निर्देश करके लय योग अथवा ध्यान-योग का आश्रय वताते हैं—

काछिव द्रष्टि ध्यान धरि, अकल पुरुष की सौर।
तो रज्जय सहजै मिले, परम पुरुष सिर मौर॥[5]

१—रज्जव वानी, मधि मार्ग, निज स्थान निर्णय का अग सा० २६।
२—सूरातन का अग, साखी ३६।
३—सूरातन का अग, साखी १३।
४—सूरातन का अग, साखी ४६।
५—पिछान का अग, साखी ५।

जिस प्रकार कच्छप जल के भीतर रह कर अपने तट पर रखे हुए अण्डो का ध्यानपूर्वक पालन करता है उसी प्रकार जीव को ससार की माया मे रहते हुए अपना ध्यान उस ब्रह्म की ओर ही लगाना चाहिए। इस प्रकार निश्चय ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

रज्जबजी का विश्वास है कि ध्यान जैसा रहेगा, गति-मति भी वैसी ही हो जायेगी। इद्रिय-विषयो मे ध्यान रहेगा तो भौतिक रस ही प्राप्त होगा।

पचतत्व करि पचरस, प्राण तत्व धरि ध्यान।
रज्जब रचे वखानियहि, जो जेहि ठाहर ठान ॥[1]

इस ध्यानयोग के लिए धैर्य एव अभ्यास की महती आवश्यकता है। रज्जवजी इसके लिए उदाहरण देते हैं कि चातक चाहे कितना टेरे, सारी वर्षा वीत जाती है परन्तु स्वाति की वूद चौथे मास अर्थात् क्वार मे ही प्राप्त होती है। चातक को भी धैर्य से ही काम लेना पडता है—

वेगावेगि न पाइये, वेत्ता करौ विमास।
सावण हू में आवई, स्वाति सु चौथे मास ॥[2]

जव तक इद्रियो के स्वामी मन को ब्रह्म मे लय न कर दिया जायगा तव तक इद्रिया अपने-अपने विषयो मे आसक्त रह कर शरीर का नाश करती रहेंगी।

इन्द्री प्रसन्न जीभ रस, नास वास चखि रग।
रज्जब श्रवणों शवद सुनि, विषै पच वपु भग ॥[3]

मदन साधक के लिए अत्यन्त विघ्नकारी सिद्ध होता है। रज्जवजी काम और काल मे काम को अधिक अपकारी मानते हैं। काल तो एक दिन ही मारता है परन्तु काम तो अहर्निश मारता रहता है।

रज्जब करडा काल सों, काम सु काया माँहि।
वह मारैगा एक दिन, यहु अहनिस छाड़ै नाहि ॥[4]

इस इद्रिय, मन और काम को मारने के लिए एक ही उपाय है कि इस ससार मे रहते हुए मनुष्य सार को ग्रहण करे तथा असार का त्याग करे। इस सगुण विश्व मे निर्गुण ब्रह्म को पकड सके तो इद्रिया भी विषयासक्त न रह कर

१–रज्जव वानी, ध्यान का अग, साखी ११
२–रज्जव वानी, धीरज सहज स्वाति का अंग, साखी ४
३–रज्जव वानीं, इन्द्रिय का अग, साखी १७
४–रज्जव वानी, काम का अग, साखी २४

ब्रह्मासक्त हो जायेंगी । इसके लिए रज्जबजी ने अत्यन्त आकर्षक उपमान प्रस्तुत किया है ।

जै काटा है रूख में, छांह मांहि कछु नांहि ।
रज्जब मिलिये सबहु सों, गहि निर्गुण गुण मांहि ॥

यदि वृक्ष मे काटे होते हैं तो यह वृक्ष का गुण है, किन्तु उसकी निर्गुण रूप छाया को ग्रहण करने से शीतलता मिलती है । इसी प्रकार ससार अपनी त्रिगुणमयी स्थिति मे काटेदार वृक्ष है—परन्तु गुणातीत ब्रह्म को जो छाया रूप मे विश्व मे व्याप्त है—ग्रहण करने से मनुष्य परमानन्द को प्राप्त होता है ।

ससार मे तो गुण अवगुण रहेगे ही, परन्तु उसमें सार-सार चुन लेना ही कौशल है । जिस प्रकार भ्रमर तिल के पुष्प से केवल सौरभ ले लेता है, फूल को वही छोड देता है, उसी प्रकार इस विश्व-पुष्प मे व्याप्त सौरभ-रूप ब्रह्म को ग्रहण कर लेने वाला ही सच्चा साधु है—

रज्जब साधू गुण गहै, अवगुण दशा न जाय ।
ज्यू अलि तिल तजि पुहुप कूं, परिमल लेय उठाय ॥[1]

वेश धारण करने अथवा स्वाग बनाने से ब्रह्म-साधना मे कोई बल नही मिलता । वेश धारण करना तो प्रदर्शन है, प्रत्युत सच्ची साधना में वह बाधक ही है—

स्वांग सनेही दर्शनी, सांच सनेही साध ।
रज्जब खोटहु साहु का, अरथ अगोचर लाध ॥[2]

प्रदर्शन मे रुचि रखने वाला तो स्वाग अथवा वेप को प्रधानता देता है तथा साधु केवल सत्य मे निष्ठा रखता है । यही खोटे और खरे की पहचान है ।

सीरि मूड्या अस्थूल का, काम जड्या मन मांहि ।
रज्जब मन मूडे विना, सिर मूडे कछु नांहि ॥[3]

इसी को कबीर ने कहा—

केसनि कहा बिगारिया, जे मूडे सौ बार ।
मन को काहे न मूडिये, जामै विषय विकार ॥

वेप मे ऊपर से कुछ और भीतर से कुछ और ही दीखता है—

---

१ – रज्जब बानी, सारग्राही का अग, साखी ७
२ – रज्जब बानी, स्वांग का अग, साखी ८४
३ – „ „ „ साखी ६३

ऊजल राता तेजसी, तौ भी चीज न कोय।
रज्जब दीपक ज्योति में, काजल कारा होय ॥[1]

हठयोग प्रदीपिका के प्रथम उपदेश के ६६ वे श्लोक मे यही भाव व्यक्त किया गया है—

न वेषधारण सिद्धे कारणं न च तत्कथा।
क्रियैव कारण सिद्धे सत्यमेतन्न सशयः॥

अर्थात् वेष धारण करना सिद्धि का कारण नही होता और योगशास्त्र की कथा भी सिद्धि का कारण नही होती। इसमे कोई सशय नही है कि केवल क्रिया अथवा योगाभ्यास ही सिद्धि प्राप्ति का एकमात्र कारण है। रज्जबजी ने ज्ञान बिना करनी का अग तथा करनी बिना ज्ञान का अग मे इसी सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या की है।

योग की परिभाषा करते हुये हमने कहा था कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रयाण ही योग है। रज्जबजी अपनी साधना मे सूक्ष्म साधना अथवा अन्त-साधना को असाधारण महत्त्व प्रदान करते हैं। वे भक्ति अथवा उपासना की बाहरी क्रियाओ को हृदय के भीतर ही लय कर देते हैं। उनकी नवधा-भक्ति का उदाहरण देखिये—

श्रवण परीक्षित रूप, सबद सुकदेव सु गावै।
पवन भजन प्रहलाद सु, मनसा श्री पद ध्यावै॥
पूजा अरच-पृथु प्रेम, अकुर अकूर सु बदन।
हैतदास हनुमन्त, प्राण पारथ सु प्रीति पन॥
बलि ज्यू बल बलिहारि कर, रज्जब रामहि दीजिये।
इहि प्रकार नौधा भगति, सु आतम अन्तर कीजिये॥[2]

साधक के अन्तर मे ही नौ प्रकार की भक्तियो का नित्य उन्मेष होता रहता है, फिर बाहरी उपादानो की क्या आवश्यकता ?

पिण्ड मे ब्रह्माण्ड किस प्रकार समाया है, यह भी देखिये—

आतम अगम अकास, भवन तिहिं बसै विसम्भर।
मन सु पवन शशि सूर, प्रीति परवक्षिन ऊपर॥
तारे तत तहां चलै, सन्त हुइ सेवक सारे।
इन्द्री आभे पच, गगन में गुप्त सुजारे॥

---

१ – रज्जब बानी, स्वाग का अग, साखी ६७
२ – रज्जब बानी में कवित्त, उपदेश का अग, कवित्त १–२

खिवै न मनसा बीज, सलिल सूखै नहिं लेसै।
जन रज्जब भू सन्त, देखि ले सूक्ष्म हि दैसै ॥[१]

हठयोग और राजयोग मे यही अन्तर है कि हठयोग मन के निग्रह के लिये इन्द्रियो के निग्रह पर बल देता है और उसके लिये शरीर को नाना क्रियाओ से कसने का निर्देशन करता है। हठयोगी की दृष्टि से इन्द्रियो को पगु बना देने से मन स्वयमेव पगु बन जायगा, फिर मन को अलग से निरुद्ध करने की आवश्यकता नही रह जाती। किन्तु राजयोग क्रमिक अभ्यास से मन और प्राण के निग्रह पर बल देता है। उसकी दृष्टि मे मन के सयमित हो जाने पर इन्द्रिया स्वय ही संयमित हो जायेंगी क्योकि स्वामी के मन्द हो जाने पर सेवक क्या कर सकता है। जब युद्धभूमि का सेनापति पराजित हो जाय तो फिर सामान्य सैनिक क्या कर सकते हैं ? मन इन्द्रियो का स्वामी है अत उसे ही परमात्मा की ओर लगाना चाहिये ।

रज्जबजी योग की इस द्विविध प्रक्रिया मे 'राजयोग' अथवा 'ध्यानयोग' को ही महत्त्व देते है। भले ही कही बीच-बीच मे वे इडा, पिंगला और सुषुम्ना का सकेत कर दे परन्तु मूलत हम रज्जबजी की उपासना मे राजयोग की ही प्रधानता पाते हैं। रज्जबजी का ध्यानयोग ल्यो अथवा लययोग इसी राजयोग का ही पोषक अग हैं। रज्जबजी मन का निग्रह अथवा इन्द्रियो का निग्रह हठयोग की अस्वाभाविक क्रियाओ द्वारा नही—शनै. शनैः अभ्यास करने के पक्ष मे हैं। वे मानव की समस्त अन्त वृत्तियो को परमात्मा के ध्यान मे प्रवृत्त कर देना चाहते हैं, और इसके अनन्तर उनका ध्रुव विश्वास है कि फिर साधना पथ के शत्रु बाधा नही पहुचा सकते ।

चिदानन्द चित में रहो, मन मोहन मन माहिं।
रज्जब ऊपर रहम करि, अरि उर आवै नाहिं ॥[२]

रज्जवजी की साधना और उपासना को हम एक ही नाम देना चाहते हैं और वह है भक्तियोग। उनकी साधना मे सुरति (प्रवृत्ति) और निरति (निवृत्ति) दोनो वने रहते हैं। रज्जबजी भक्ति-योगी हैं। वे प्रवृत्ति को परमात्मा की ओर मोड देने का उपदेश देते हैं—परमात्मा-विषयक रति, शुद्ध विरति अथवा निवृत्ति बन जाती है। परमात्मा के आधार के विना खोजी गई निवृत्ति के लिये प्रति क्षण भौतिक प्रवृत्ति मे परिणत हो जाने की आशका वनी रहती है। इसीलिए ज्ञानयोग से भक्तियोग श्रेष्ठ है। रज्जवजी के

१– रज्जव वानी, उपदेस का अग, कवित्त २

२ – रज्जव वानी, विनती का अग, साखी ११४

ोग को न तो हम हठयोग नाम देना चाहते हैं और न राजयोग ही—वह ीता मे प्रतिपादित शुद्ध भक्तियोग है। यहा रज्जबजी कहते हैं—

सकल पतित पावन किये, अधम उधारन-हार।
विरद विचारो वापजी, जन रज्जब की वार ॥
रज्जब ऊपर रहम करि, हरिजी दीजे हाथ।
नाता राखो नांव का, नरक निवारन नाथ ॥[1]

यह रहम अथवा कृपा की याचना, अपराधो को क्षमा कराने की प्रार्थना केवल भक्तियोग मे ही सभव है। अभी रज्जबजी ने भगवान को पिता-रूप में स्मरण किया था, अब वे माता-पिता दोनो रूपो मे उसका स्मरण करते हैं—

सूते सुतहिं खुलावहीं, माता पिता जगाइ।
त्यू रज्जब सो कीजिये, भगवत आओ भाइ ॥[2]

रज्जबजी ब्रह्म को पक्षी तथा जीव को अण्डा बता कर वात्सल्य की परा-काष्ठा प्रस्तुत करते हैं—

रज्जब ब्रह्म विहग के, आतम अण्ड समान।
ये वावा सेओ नहीं, क्यू निपजै तन जान ॥[3]

जब तक परमात्मा जीवात्मा का पोषण नही करेगा तब तक उसकी स्थिति कहा सभव है ? रज्जबजी कहते हैं कि मैं तो सदैव चूकता आया हू। अब भी अपराध करता जा रहा हू, परन्तु हे प्रभु ! मेरा उद्धार करने मे तुम क्यो चूक रहे हो—

रज्जब आया चूकता, सदा चूक ही माहिं।
पै प्रभु तुम चूकहु सु क्यों, मुझहिं उधारो नाहिं ॥[4]

पापो से निवृत्त रह कर भवसागर से पार होने की कला को ज्ञानयोग कहते हैं तथा पापो मे पड कर अपने को भगवान् के चरणो में अर्पित कर देने को भक्तियोग कहते हैं। रज्जबजी शुद्ध भक्तियोगी थे। गीता मे भगवान् ने अर्जुन से इसी भक्तियोग का उपदेश देते हुए कहा है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव, अत ऊर्ध्वं न सशय ॥ १२-८

---

१ – रज्जब वानी, विनती को अग, साखी १ से ८
२ – ,, ,, ,, साखी १०
३ – ,, ,, ,, साखी ३०
४ – ,, ,, ,, साखी ५६

अर्जुन मेरे मे मन को लगा, मेरे मे ही बुद्धि को लगा, इसके उपरात तू मेरे मे ही निवास करेगा, इसमे कुछ भी सशय नही ।

रज्जवजी इसी भक्तियोग के आकाक्षी एव पक्षपाती हैं। उनके भक्तियोग के रहस्य को सम्यक् प्रकारेण समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वे सम्पूर्ण ब्रह्म का अभ्यन्तर में प्रविलय करना सिद्धि के लिये नितान्त अपेक्षित मानते है। कदाचित् योग का रहस्य भी यही है। स्थूल का सूक्ष्म में लय करना ही योग की सफलता है। इस दृष्टि से रज्जवजी के स्थूल को सूक्ष्म मे अन्तर्भूत करने की कतिपय अवस्थायें हैं—

(क) ब्रह्माण्ड का पिण्ड मे विलय,
(ख) पिण्ड का मन मे निमज्जन,
(ग) मन का प्राण मे लय,
(घ) प्राण का आत्मा मे प्रविलय ।

योगिक साधना की ये चारो अवस्थायें रज्जबजी के साधनामार्ग मे उपलब्ध होती हैं जो भारतीय योग-शास्त्र एव निर्गुण सत साधना की परम्परा से पृथक् नही हैं ।

(च) रजबावत और सूफी भावना

सूफी मत इस्लाम धर्म की वह उदात्त आध्यात्मिक शाखा है जिसमे ब्रह्मानुभूति के लिये माधुर्य भाव को विशेप प्रश्रय दिया गया है। एक ओर सूफी साधना ने विवेक द्वारा इस्लाम धर्म की अन्धानुसरण की भावुक प्रवृत्तियो का निराकरण कर उसे वुद्धिसगत बनाया और दूसरी ओर इस्लाम-धर्म की जड वौद्धिकता को भावना द्वारा कोमल, मधुर एव प्रेमसिक्त किया। सूफी धर्म की यह विलक्षणता ही है कि उसने वौद्धिक जडता के निरसन के लिए भावना को साधन वनाया तथा विवेकशून्य भावुकता के खण्डन के लिए उसने वुद्धि का आश्रय लिया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूफी मत मे भावना और वुद्धि का अतीव सुखद सम्मिश्रण है। भारतीय धर्म-शास्त्र की भाषा मे इसे यो कह सकते हैं कि सूफी मत मे ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय है। सूफी मत एव भारतीय वेदान्त के सेद्धान्तिक पक्षो मे पर्याप्त साम्य लक्षित होता है। सूफी मत और वेदान्त दोनो ही 'वहीद' अथवा 'अद्वैत' ब्रह्मवादी है तथा दोनो का मत है कि वह परमेश्वर निखिल ब्रह्माण्ड का स्वामी है। दोनो मे धार्मिक सहिष्णुता का भाव है। सूफी मन समस्त धर्मकृतियो के प्रति आदरवुद्धि रखते हुये प्रकृति को श्रेष्ठतम पुस्तक मानता है। इधर भगवद्गीता मे नाना साधनामार्गो द्वारा उसी

ब्रह्मप्राप्ति का अनुमोदन किया गया है। सूफी मत एवं वेदान्त के साम्य को दीवान बहादुर के० एस० रामास्वामी शास्त्री ने अत्यत रोचक प्रणाली मे प्रस्तुत किया है।[1] सूफी साधना एक धार्मिक विश्वास है, तर्क-पोषित दर्शन-शास्त्र नही। इसमे दर्शन-शास्त्र पर आधारित जीवन और जगत् को समस्या के रूप मे नही प्रस्तुत किया गया प्रत्युत जटिल एवं समस्यात्मक जीवन और जगत् की समाधानात्मक विश्वासनिष्ठा है। दर्शन बुद्धि द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास करता है, धर्म भावना द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर मनुष्य और ब्रह्म को एकमेक कर देता है। दर्शन मे आग्रह होता है, धर्म मे नैष्ठिक सहिष्णुता ; सहिष्णुता की दृष्टि से सूफी धर्म अत्यत उदार एव सर्वग्राही माना जाता है। सूफी मत मे संसार की समस्त विश्वास-परम्पराओ के लिए अवकाश है जो बुद्धिसगत, मानव-मगलकारी तथा परिणामवाही है।[2]

---

1 – "The Sufi method combines the Indian methods of Gyan and Bhakti Both Sufism and Vedantism affirm the existence of one God and say that He is the soul and friend and Lord of all individual souls Both are full of toleration The Sufi respects all scriptures while he prefers the book of Nature to all of them The Gita says that men in all times and climes seek God in diverse ways and reach Him by diverse means Saadi says, 'Every soul is born for a certain purpose is kindled in his soul' The Sufi says, 'I saw Thee in the Secred Kaba and in the temple of idol also Thee I saw' No sectarian would hold such a view Both Sufism and Vedantism seek the Divine Light and yearn for Divine Union Both affirm God as having form and as being formless Both advocate practising meditation obedience to a Guru (called a Pir in Sufism) fasts, penances, Japa or recitation of the sacred word (called Gikr in Sufism), the use of rosary and universal non-injury and love based on detachment and dispassion and self control Both affirm the fatherhood of God and brotherhood of man Both command the sublimation of false ego into the real self The only important difference between them is that Sufism like Islamic thoughts in general does not accept the Vedantic Doctrine of Divine Incarnation (Avatar)"

—The Evolution of Indian Mysticism, Diwan Bahadur K S Ramaswami Shastri (pp 104-05)

2 – "Sufism, inspite of the loftiness of its religious ideals had almost from the first been less fastidious and more ready to admit alien practices and ideas provided that they seemed to produce results"

—Mohammedanism, Sir Hamilton A R Gibbl, p 110,

सूफी मत के उद्भव के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतैक्य नही है, किन्तु कुछ विद्वान् उदाहरणार्थ निकलसन, ब्राउन आदि तथा सूफी स्वय भी सूफी मत का मूल उद्गम कुरान को मानते हैं। स्व० चद्रबली पाण्डेय ने कतिपय सूफियो के मतो को उद्धृत करते हुये लिखा है, 'कुछ सूफियो का कहना है कि सूफी मत का आदम मे बीजवपन, नूह मे अकुर, इब्राहिम मे कली, मूसा मे विकास, मसीह मे परिपाक एव मुहम्मद मे मधु का फलागम हुआ। एक और प्रवाद है कि सूफियो के अष्ट गुणो का आविर्भाव क्रमश इब्राहिम, इसहाक, अयूब, जकरिया, यहौ, मूसा, ईसा एव मुहम्मद साहव मे हुआ।'[1] पाडेयजी ने सूफी मत को उद्भव सम्बन्धी उक्त विचारपरम्परा को स्वीकार करने मे ऊहापोह किया है किन्तु सूफी मत के विश्वासो के कतिपय पटल ऐसे हैं जो कुरान की अनेक आयतो से तद्रूप लक्षित होते हैं तथा जिस तद्रूपता के आधार पर यह मान लेने में कोई आपत्ति नही दीखती कि सूफी धर्म की परमेश्वर सम्बन्धी मान्यताओ का मूल उद्गम कुरान ही है। अनेक स्त्री-पुरुष सूफी साधक कुरान का सस्वर पाठ करते थे और पाठ करते-करते ध्यानस्थ हो जाते थे। इस प्रकार सस्वर पाठ करने से इस धर्मग्रन्थ के ऐसे अनेक खड जिनको पाठ करने वाला विशेष ध्यान का विषय न बना पाता, वे खड भी उसके ध्यान को आकृष्ट कर लेते। यद्यपि वे स्वभावत मनसा सावधान रहते थे।[2]

१० वी शताब्दी उच्चकोटि के सूफियो के आविर्भाव के लिये प्रसिद्ध है। जुनेद के शिष्य बगदाद निवासी अबूबकर शिवली, फरगना के अबूबकर वासिती, मुहम्मद अब्दुल जब्बार निफरी, शाराज के इब्न खफीफ प्रमुख बहुसख्यक सूफी

---

१ – तसव्वफ अथवा सूफी मत, लेखक प० चद्रबली पाण्डेय, पृष्ठ ४।

2 – "To understand the extreme lengths to which the Sufis were prepared to go in reading esoteric meanings into the quite simple language of their scriptures, it is necessary to remember that the Quran was committed to memory by all deeply religious men and women and recited constantly aloud or in the heart so that the mystic was in a state of uninterrupted meditation upon the Holy Book Many passages which would otherwise pass without special notice were therefore bound to arrest their attention, already sufficiently alert and to quicken their imagination, already fired by the discipline of their austerities and the rigour of their internal life

—Sufism by A J Arberry, p 22

इस युग में प्रादुर्भूत हुए जिन्होने सूफी साहित्य की रचना की ।[1] ११वी शती में सूफी साधना इस्लाम धर्म में पूर्णतया व्याप्त हो गई ।[2]

११ वी शती मे अबूनयीम इस्फहानी नामक सूफी इतिहासकार ने एक विशाल सूफी इतिहास ग्रंथ 'हिलियातुलऔलिया' लिखा जो १० भागो मे मुद्रित हुआ परन्तु इस ग्रथ मे सूफी साधना के सैद्धान्तिक गठन पर प्रकाश नही डाला गया । सिद्धान्त पक्ष का सम्यक् विवेचन करने वाला ग्रथ 'रिसाला' इसी काल में प्रकाशित हुआ जिसके लेखक थे अबूकासिम कुशेरी । इसी प्रकार अगणित सूफियो द्वारा प्रभूत सूफी साहित्य की रचना हुई । ईरान के सूफी कवियो मे जलालुद्दीन रूमी सनाही अत्तार निजामी जामी प्रभृति उच्च कोटि के माने जाते हैं । ११ वी अथवा १२ वी शती के पश्चात् सूफी साधना पतनोन्मुखी होने लगी । स्थूल सौन्दर्योपासना (इश्क मजाजी) को सूक्ष्म अथवा दिव्य सौन्दर्योपासना (इश्क हकीकी) का साधन सोपान पहले से ही सूफी साधक मान चुके थे तथा सूफी साधक और उस वहीद अल्ला का सम्बन्ध निरूपण करने के लिये मानवी प्रेम की भाषा एव शब्दावली का प्रयोग होने लगा था ।[3] रुख, जुल्फ खाल, खत, चश्म, अब्रू, लब, शराब, साकी, जाम, सबू, बहर, सरा, बुत आदि शब्दो का प्रयोग होने लगा था जिनके क्रमश: हिन्दी पर्याय, मुख, केश, तिल, अलक, दृग्, भ्रू, अधर, मदिरा, मधुबाला, चषक, सुराही, समुद्र, सराय और मूर्ति है । सूफी साधको द्वारा प्रेम की यह स्थूल व्यजना सूफी धर्म की कटु आलोचना का कारण बन गई । यद्यपि १७ वी शती के मुशिन फैद काशानी नामक ईरानी सूफी ने इन शब्दो की आध्यात्मिक व्याख्या अपने 'रिसालये मिशवाक' नामक कृति मे प्रस्तुत कर सूफी रहस्यवाद का पक्ष पोषण किया, किन्तु सूफी साधना को इश्क मजाजी ने स्थानच्युत कर दिया इसमें कोई सदेह नही । सूफी साधक का आध्यात्मिक प्रेम लौकिक भाषा के धरातल पर ९ वी शती से ही प्रतिष्ठित हो चुका था । बसरा की सूफी साधिका राबिया ससार से विरक्त हो कर परमेश्वर से विवाह के प्रस्ताव की

1–2 – 'The 5/11th century found Sufism firmly established and wide spread throughout Islam'

3 – 'The marriage of romance to mysticism took place early in the history of the Sufi Movement, as we have seen, the language of human love was used freely to describe the relations between the mystic and his Divine Beloved.'

—Sufism, A J Arberry, p 111

प्रतीक्षा ६वी शती में कर रही थी ।[1] राबिया तथा मीरा की उपासना-पद्धति मे पर्याप्त साम्य लक्षित होता है । राबिया ससार की सर्वश्रेष्ठ स्त्री सतो में एक मानी जाती है ।

सूफी साधना के विशिष्ट तत्वो एव अगो का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि उस पर ईसाई, नास्टिक, यहूदी, नियोप्लैटोनिक, होरमिक, जोरस्ट्रियन तथा बौद्ध धर्मों का प्रभाव पडा था । इन समस्त धर्मो के उन अगो की विवेचना करना यहा हमारा अभीष्ट नही जिनका प्रभाव सूफी साधना पर पड़ा था ।[2] सूफी साधको की कई जमाते हैं । इन सम्प्रदायो की भिन्नता होते हुये भी मौलिक सिद्धात पक्ष सब का एक है । सूफी एकान्तवास, स्वाध्याय, जप एव ध्यान को वडा महत्त्व देते हैं । जुनद ने अपनी सूफी साधना के विशिष्ट अग आत्मसमर्पण, उदारता, धृति, मौन, तितिक्षा, ऊनी वस्त्र, याचना एव निर्धनता माने थे[3] तथा उनके अनुसार इन गुणो के आदर्श इस्साक, अब्राहम, अयूब, जकरिया, मूसा, ईसा और मुहम्मद साहब थे । इस्लाम और सूफी मतो मे साधना की चार अवस्थायें भी मानी जाती हैं ।

१–शरीअत, २–तरीकत, ३–हकीकत, ४–मारफत । इन चारो अवस्थाओ को कर्म, उपासना, ज्ञान तथा ब्रह्म ज्ञान मान सकते है । पहली दो अवस्थाओ से

---

1 – Her (Rabia's) hand was sought in marriage by a number of pious men, but she declined all offers declaring, 'The contract of marriage is for those who have a phenomenal existence. But in my case, there is no such existence, for I have ceased to exist in God and am altogether His I live in the shadow of His command. The marriage contract must be asked for from Him, not from me.'

—Risalaye Mishvack, M Faid kashani, p. 43

2 – ' . that the Sufis owed much or little of what they did or said to Christian, Jewish, Gnastic, Neoplatonic, Hermeic, Zorostrian or Buddhist example.'—Sufism, p. 1, A J Arberry

3 – 'Junayid, for example, based his Tasawaf on eight different qualities of the mind, viz submission, liberality, patience, silence, separation (from the world) worldiness, travelling, poverty—as illustrated in the lines of Issac Abraham, Job, Zachariat Moses, Jesus and the seal of Prophets.'

—Islamic Sufism, Sirdar Akbal Ali Shah, p. 21

सूफियों का उतना सम्बन्ध नही जितना बाद की दो अवस्थाओ से । सूफी मत में जिक्र (जप) का महत्त्व है । जप में समा (सगीत) को विशेष स्थान प्राप्त है, किन्तु कुछ सूफी उदाहरणार्थ सरॉज कुशेरी और हुजविरी कीर्तन - पद्धति को वासनात्मक मानते हैं । गज्जाल नामक प्रसिद्ध सूफी साधक इस समा (सगीत) को हाल (आनन्दावस्था) का साधन मानता था ।

परमात्मा विषयक रति सूफी साधना का सर्वस्व है । हल्लाज जिनको मसूर भी कहते हैं, जिन्होने 'अनल्हक' (अहब्रह्मास्मि) की घोषणा की, जिसके फल-स्वरूप उन्हे प्राण दड भोगना पडा किन्तु इन्होने तसव्वुफ को सफल एव अमर बना दिया ।

सूफी साधना में इस्लाम धर्म की कर्मकाड पद्धति के लिये विशेष स्थान नही । हज्ज (मक्का की यात्रा), रोजा (रमजान का उपवास), जकात (दान), नमाज (पूजा) साम्प्रदायिक उपासना की वाह्य पद्धतिया मान कर सूफी इन पर विशेष ध्यान नही देते थे । सूफी बनने के लिये तो परमेश्वर में प्रणति हो पर्याप्त है । प्रीति उत्पन्न होने से मोमिन या मुसलिम सूफो बन जायगा और शरीयत से आगे बढ कर तरीकत का उपयोग करेगा । अस्तु, मुसलिम को तसव्वुफ के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये सामान्यत तोबा, जहद, सब्र, शुक्र, रियाज, सौफा, तवक्कुल, रजा, फिक्र और मोहब्बत का क्रमश अनुष्ठान करना पडता है । कुछ लोग इन्ही को मुकामात कहते हैं, पर वास्तव मे ये मुसलिम मुकामात हैं, सूफियो के नही, क्योकि सूफी मोहब्बत को अपना प्रेम स्थान समझते है लक्ष्य नही ।[1] सूफी ईश्वर के प्रेमानन्द को प्राप्त कर लेने पर 'फना' की स्थिति को समाप्त कर 'बका' की स्थिति मे प्रविष्ट हो जाता है । फना एहिक संयोग तथा बका अलौकिक ईश्वरीय सयोग का पर्याय हे । सूफियो ने अपनी दिव्य स्थितियो के चित्रण में प्रतीकात्मक पद्धति का भी आश्रय लिया है । परन्तु सूफियो की साधना का विशाल प्रासाद इश्के हकीकी पर तना है । प्रेम दर्शन की व्याख्या ईरान के सूफी कवि जलालुद्दीन रूमो ने अत्यत प्रभावोत्पादक शैली में की है ।[2] प्रेमी साधक अपनी प्रेम साधना में कभी शात नही होता,

---

१ – तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृ० ६१ ।

2 – Love, Love alone can kill what seemed so dead
The frozen snake of passion love alone
By tearful prayer and fairy longing fed,
Reveals a knowledge, schools have never known
—Rumi Poets and Mystic, Nicholson, p 29.

वह एक समय उस दिव्य सौन्दर्य को अनावृत कर ही लेता है।[1] सूफी आध्यात्मिक साधना में प्रमुखत. तीन तत्व मानते हैं—कलब (हृदय), रूह (आत्मा), सर्र (अन्तरात्मा)। ईश्वर प्रेम मे विरहानुभूति सूफियो की ब्रह्मानुभूति मे विशेष रूप से सहायक है। इस वियोगाग्नि में सूफी निरन्तर जलते रहना चाहता है।[2]

हमारे निर्गुण सत साहित्य में जहाँ अनेक अन्य प्रभाव दृष्टिगोचर होते है वही सूफी साधना भी काव्यगत भावना बन कर प्रस्फुरित हुई। कबीर, नानक, दादू, रज्जब और सुदरदास प्रभृति सभी निर्गुणी संतो ने सूफी मत के प्रेम-दर्शन को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति का अपरिहार्य अग बना लिया। किन्तु एक अतर की ओर हम आप का ध्यान अवश्य आकृष्ट करेंगे, वह यह कि इन निर्गुणी सतो ने सूफियो के दिव्य प्रेम (इश्क हकीकी) को तो अपनाया, परन्तु लौकिक प्रेम (इश्क मजीवी) को उसका साधन नही बनाया। सूफी भावना और सत साहित्य के इस प्रकरण मे हमारा यह भी विचार है कि सूफी विचार-धारा का प्रभाव कवीर मे तो सीधे पडा प्रतीत होता है किन्तु उनके बाद के सतो मे दादू को छोड कर अन्य सभी महात्माओ ने यह सूफी प्रेम-दर्शन सीधे सूफियो से ग्रहण न कर के अपनी गुरु परम्परा से प्राप्त किया है। इस मान्यता का आधार यह है कि हम देखते है कि प्राय सभी सतो की बाणियो मे प्रेम और विरह सम्बन्धी उक्तिया कवीर की तद्विषयक उक्तियों से न केवल भाव साम्य रखती हैं, शब्द साम्य और भाषा साम्य भी उनमें देखने को मिलता है। इस प्रकार का साम्य हम प्रदर्शित कर चुके है।

रज्जबजी के काव्य मे भी सूफियाना ढब विद्यमान् है। उनके काव्य में सद्-गुरु की प्रतिष्ठा, ईश्वर प्रेम की पीडा, विरह-वेदना, परमात्मा की अद्वैतता

---

1 – Love will not let his faithful servants tire,
Immortal beauty draws them on and on,
From glory into glory drawing nigher.
At each remove and loving to be drawn,

—Rumi Poets & Mystics Nicholson P 3

2 – 'The Sufis distinguish three organs of spiritual communication the Heart (Qulb) which knows God, the spirit (Ruh) which loves him, and the innermost ground of the soul (Sirr) which contemplates Him

—The Mystics of Islam, R A Nicholson, p 68

(वहदानियत), अवतारवाद का खडन, मूर्ति पूजा का विरोध, वाह्य कर्मकाड का निराकरण, जप (जिक्र) की प्रधानता, ऐहिकता (फना) की द्विव्यता (वका) मेल, तन्मयता (हाल) का आनन्द, निर्धनता, दीनता, विनम्रता, निस्पृहता आदि प्राय. समस्त सूफी साधना के तत्त्व समाविष्ट है। रज्जब साहित्य के इन तत्त्वो पर सक्षेप में विचार कर लेना यहा अपेक्षित है। सर्वप्रथम रज्जबजी की सद्गुरु विषयक भक्ति-भावना इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। यद्यपि वैष्णव भक्ति के प्रसग मे हम इसकी विस्तार मे चर्चा कर चुके है किन्तु सूफी मत में पीर अथवा मुरशिद (गुरु) के सम्बन्ध में यह धारणा है कि बिना मुरशिद के भगवदुपासना के मार्ग (राहे मार्फत) पर चलने की प्रवृत्ति नही उत्पन्न हो सकती। रज्जवजी ने अपनी वाणी के 'गुरु का अग' मे गुरु शिष्य की अपेक्षा दोनो की योग्यता आदि पर अत्यत विस्तार से चर्चा की है। रज्जबजी भगवत्सिद्धि को हीरा मानते है। हीरा कठोर वस्तु है, गुरु उस वज्र के भीतर भी छेद कर देता है जिसमें शिष्य रूपी धागा सुविधा से प्रविष्ट हो जाता है।

हरि सिद्धी हीरामयी, बज्र न वेधा जाय।
तहां गुरु गैला किया, तव सिख सूत समाय।।
—गुरुदेव का अग

सद्गुरु की कृपा से शिष्य को वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है जिससे वह तीनो लोको की वस्तुस्थिति देख लेता है। भ्रम व सदेह का निवारण बिना गुरु के अन्य कोई नही कर सकता—

सतगुरु विन सदेह कू, रज्जब भानै कौन।
सकल लोक फिरि देखिया, निरखै तीन्यू भौन।।
—गुरुदेव का अग

हम गुरु शिष्य के सम्बन्धो का श्रेणीबद्ध विश्लेषण पीछे कर चुके है, अत यहा पर उसके विस्तार मे जाने से पुनरावृत्ति होगी। यहा केवल इतना सकेत करना ही पर्याप्त है कि सूफी मत मे सद्गुरु का महत्त्व अत्यधिक माना गया है जिसका प्रभाव रज्जवजी के साहित्य में भी विद्यमान है। अविद्यान्धकार के निवारण के लिये गुरु का महत्त्वपूर्ण योग सर्व धर्म-सम्मत है।

प्रियतम परमात्मा—

रज्जवजी ने स्थान-स्थान पर परमात्मा को प्रियतम के रूप मे चित्रित किया है। सूफियो का इश्क हकीकी उनका इस प्रियतम साधना में पूर्णत विद्यमान् है। रज्जवजी साधक और ब्रह्म को पतिव्रता स्त्री और पति के रूप में मानते है। कोई स्त्री पतिव्रत धर्म का निर्वाह कर के ही अपने पति को अपना वना

सकती है। यदि वह वहु पुरुष-उपासना मे लगती है तो पति का साहचर्य खो देती है। एक ब्रह्म की प्राप्ति से ससार के सारे ऐश्वर्य स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं—उसके विना कुछ भी हाथ नही लगता।

येक मिल्यू सारे मिलै, सव मिल मिल्या न येक।
तातैं रज्जव जगत गति, वूझो वडा वडा विवेक॥

पतिव्रता का अग

आशिक को तथा पतिव्रता स्त्री को न दोजख का खोफ होता और न वहिश्त की हविस, उनका मन तो एक मे आसक्त है—

दोजख भिस्तहिं क्या करें, जो अल्लह के यार।
रज्जव राजी एक सो, कामिनि इहै करार॥
भिस्त न भावै आसिकू, दिन दूनी रुचि नांहि।
रज्जव राते रब्ब सो, येक वस्या मन मांहि॥

पतिव्रता का अंग

सूफी साधना के इतिहास मे शराव का वडा महत्त्व है। परन्तु शराव यदि खुदा परस्ती की रही अर्थात् यदि सूफियो ने मदिरा का प्रयोग प्रतीकात्मक ढग से किया है तव तो कुछ नही कहा जा सकता किन्तु यदि सूफी शराव का सेवन वस्तुत करते थे तो हम कहेंगे कि रज्जवजी मदिरा मास सेवन के विरोधी हैं—

वरत न छाडै राम कू, वरत न भुगतै काम।
वरत न मद मासहि भखै, नवै न निर्जन धाम॥

पतिव्रता का अग

रज्जवजी उस प्रियतम परमात्मा को वियोगावस्था मे टेरते हैं और कहते हैं कि हे भगवान् क्या तुम ने अव मौन धारण कर लिया है या फिर मेरा प्राणान्त ही चाहते हो—

रज्जव टेरै रैन दिन, क्यों वोलै नहिं कत।
कै तुमै अव मौनी भये, कै तुम चाहौ अत॥

विनती का अग

रज्जवजी उस परम पुरुष को अपने हृदय मे वसाना चाहते है—

भाव इहै उर में वसो, परम पुरुष सिरमौर।
रज्जब के सुख ऊपजै, सत्र न पावहि ठौर॥

विनती का अग

इतना ही नही साधक ब्रह्माग्नि मे भस्म हो कर उसी प्रियतम परमात्मा मे लय हो जाना चाहता है—

प्रीतम प्रकटो ताप ज्यों, प्यड ते प्राण छुडाय।
मारि मिलाओ आप में, जन रज्जव बलि जाय॥

विनती का अंग

अजाजील शैतान मन को कुमार्गों मे प्रवृत्त कर रहा है—हे परमेश्वर! यदि तुम कृपा करो तो उस से मुक्ति मिले—

अजाजील दिल माहै बैठा, भली न उपजण पावै।
साहिब अपना कौल विचारो, तो जिव तुम पै आवै॥

विनती का अंग

रज्जबजी हिन्दू भक्ति के अतर्गत माया को भी स्वीकार करते हैं तथा इस्लाम धर्मानुमोदित शैतान के वजूद की भी दाद देते हैं।

विरहतत्त्व—

उस प्रियतम परमात्मा के साक्षात्कार के लिये साधक तड़प रहा है। उसका रोम रोम उसी के ध्यान मे लगा है—

प्राण प्यड रग रोम सब, हरिदिशि रहे निहारि।
ज्यों वसुधा वन राम सो, विरही चाहे वारि॥

विरह का अग

यह वैज्ञानिक तथ्य है कि ताप से ही वर्षा होती है, यहां देखिये—

विरहा पावक उर बसै, नखसिख जारै देह।
रज्जब ऊपरि रहम करि, वरसहु मोहन मेह॥

विरह का अग

उस प्रियतम के अभाव मे कोई ऋतु नही भानी—

जन रज्जब जगदीश बिन, ऋतु भली कोइ नाहिं।
शीत हुतासन वर्षा बुरद, विरह विथा मन माहिं॥

रज्जबजी व्यथातिरेक मे विरही, शिशु और पशु की एक दशा बताते हैं—

विरही बालक गूग पशु, करहि कहं दुख सुक्ख।
रज्जब मन की मन रही, लहै न मारग मुख्य॥

विरह का अग

विरह का पन्नग जब डस लेता है तब कोई जडी या मत्र काम नही देते—

दशवे कुल का नाग है, दरद सुदेही माहि।
जन रज्जब ताके डसे, मतर मूली नाहि॥

विरह का अग

जिस प्रकार विरहिणी अपने वर से बिछुड कर विदीर्ण हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म के वियोग में साधक व्याकुल हो जाता है—

ज्यू विरहिनि वर बीछुटे, विहरि गई तहिं काल।
त्य रज्जव तुझ कारनै, विपति मांहि बेहाल।।

विरह का अंग

तथा

जैसे नारि नाह बिन, भूली सकल सिंगार।
त्यू त्यू रज्जव भूला सकल, सुनि सनेह दिल दार।।

विरह का अंग

राम के बिना सावन मास की शोभा भी साधक को प्रिय नही लगती। निम्नांकित पद में विरह का अतीव सजीव चित्र रज्जवजी ने प्रस्तुत किया है—

राम बिन सावन सह्यो न जाई।
काली घटा काल हो आई, कामिनि दाधै भाई।।
कनक अवास वास सब फीके, बिन प्रिय के परसग।
महा विपति बेहाल लाल बिन, लागै विरह भुवंग।।
सूनी सेज हेज कहु का सौं, अबला धरै न धीर।
दादुर मोर पपीहा बोले, ते मारत है तीर।।
सकल सिंगार भार हो लागो, मन भावै कछु नाहीं।
रज्जब रग कौन से कीजै, जै पिव नाहीं माहीं।।

राग मलार

एक पद और उद्धृत करेंगे—

विरह वियोग विरहिनी बीधीं, घर वन कछु न सुहावै रे।
दश दिशि देखि भयो चित चकृत, कौन दशा दरशावै रे।।
ऐसा सोच पडया मन माहीं, समझि समझि धूधावे रे।
विरह बान घट अन्दर लागे, घायल ज्यूं घूमावै रे।।
विरह अगिन तन पिंजर छीनां, पिउ कू कौन सुनावै रे।
जन रज्जब जगदीश दिने बिन, पल पल बज्र विहावै रे।।

राग रामगिरि

रज्जवजी के साहित्य मे शुद्ध सूफी साधना या परम्परा का प्रेम एव विरह तत्त्व व्यक्त हुआ है। सूफी साधना के जिन तत्त्वो का हम ने उल्लेख किया है उन के आधार पर रज्जवजी के साहित्य की विवेचना के लिये एक स्वतत्र कृति की आवश्यकता है। यहा पर हम केवल उन तत्वो के शीर्षक देकर रज्जव बानी से प्रसंगसम्मत सकेतात्मक उदाहरण मात्र प्रस्तुत करेंगे।

अवतारवाद का खडन—रज्जबजी अवतारो को ब्रह्म नही मानते। वे उन्हे मायाबद्ध जीव ही मानते हैं। उनके विचार से अवतार से यह आशा करना कि वह भव-सागर पार करा देगा, भ्रम मात्र है। अवतार तो स्वय मायाग्रस्त है। तब फिर मायाग्रस्त मायाग्रस्त को किस प्रकार मुक्त करेगा—

बाध्या बांधे कू भजै, मुकति होन की आस।
सो रज्जब कैसे खुलें, यहि झूंठे वेसास॥

पीव पिछाण का अग, साखी ७४

वह ब्रह्म तो अकल है, किन्तु अवतार सकल है—

आदि नरायण अकल है, कला रूप अवतार।
आयम आतम बदि विधि, वेत्ता करो विचार॥

पीव पिछाण का अग

अकल अवतार नही ले सकता और अवतार अकल नही हो सकता। वह ब्रह्म, ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी ऊपर है—

अकलहि कौन कले कलि माही।
आदि अत मधि महापुरुष सब, पारहि पावै नाहीं॥
ब्रह्मा आदि विचारत थाके, शकर सोच शरीर।
नारद सहित सकल सिध-साधक, कोउ न लहै तट तीर॥
शेष सहस द्वै रसन रहत नित, परम प्रभा मन जाना।
नेति नेति कहि निगम पुकारत, तेऊ है हैराना॥

पद भाग

जप (जिक्र) का महत्त्व—

जिन जिन जन हरि नाम रटेवा।
आदि अत मधि मुक्त भये सब अखिल अभो धन प्राण खटैबा॥
आनन्द अधिक गए अघऊतर, उर अतर यह भाव उट्यो।
सदा सुखी साई से सन्मुख, प्रेम पिया सो नाहि घट्यो॥
अद्भुत बात कहै को मुख ते, हरि हीरो हिय हेम जट्यो।
मंगल मुदित मध्य मन माहीं, दुख दीरघ दिल दूरि घट्यो॥
कुशल कल्यान जीव के जुग-जुग जम के कागर कर्म कट्यो।
जन रज्जब जग में नहि आवै, जप जगदीश ससार सट्यो॥

राग बिलावल, पद १

इस माया मडाण मझि, सुमिरन सम कछु नाहि।
तो अधार उरि राखिये, जन रज्जब जिव माहि॥

सुमिरन का अग, साखी ३

रज्जव टीका नाम को, वेद कुरान सु येहि।
यू ततवेत्वा त्यागि सब, हरि सुमिरन करि लेंहि ।।

सुमिरन का अग, साखी १८

लघुता और दीनता—सूफी ससार में अपने को तृणवत् मान कर चलते है। अपने को अकिञ्चन, दीन समझना तथा सब से छोटे हो कर रहना सूफियों के सहज अग है। रज्जवजी ने सूफी सन्तो की इस प्रणति को अपनी परम्परा मे अपनाया है। वे इसी लघुता और दीनता का पोषण करते हुये कहते हैं कि दीर्घ के द्वारा समुद्र का लाघना सम्भव नही था। पवनपुत्र हनुमान भी समुद्र को पार करने के लिये छोटे बने।[1] ससार मे जो लघु बन जाता है वह ऊपर जाता है। और जो दीर्घ बन जाता है वह नीचे को जाता है। तराजू का जो पलडा हल्का रहता है वह ऊपर को जाता है किन्तु जो भारी होता है वह अधोगामी होता है।[2] अगुलियो में सब से छोटी अगुली को ही अगूठी उपलब्ध होती है। अन्य बडी अगुलिया इससे वचित रहती है। बालक छोटा होने के कारण ही सब की गोद मे बैठता है। वृक्ष की कली छोटी होने के कारण वृक्ष से च्युत नही की जाती किन्तु फूलो और फलो को वृक्षो से अलग कर दिया जाता है। छोटी मूर्तियो को कर और शिर में स्थान मिलता है। वृक्षो मे जो बहुत छोटे हैं उन्हें नाना प्रकार की सेवाए प्राप्त होती हैं।[3]

निर्वैर दया तथा निष्काम भावना—रज्जवजी ने कृपा के कई प्रकारो की चर्चा अपनी बानी मे की है किन्तु निर्वैर कृपा को उन्होने श्रेष्ठ बताया है। उनके मत से द्वेष अथवा वैर विहीन कृपा ही प्रधान है इसी के द्वारा सब जीवो का पोषण होता है। इसी के द्वारा मगल-लाभ होता है। दया[4] के वृक्ष मे धर्म का फल लगता है। वह वृक्ष हृदय की पृथ्वी में उगता है। हरि-कृपा की वर्षा से हरि निष्पन्न होता है तथा इस वृक्ष के रखवारे सदैव इस निर्वैर कृपा का फल खाते रहते हैं।[5] जो व्यक्ति सकाम हो कर कर्म करते हैं वे इस ससार में सस्ते रहते हैं किन्तु निष्काम कर्म करने वाले अमूल्य माने जाते हैं।[6] सहकामी उस

---

१ – लघुता का अंग, साखी ६।
२ – ,, ,, साखी ३८।
३ – कवित्त भाग, लघुता का अग, कवित्त २।
४ – दया-निर्वैर का अग, साखी १।
५ – ,, ,, साखी ६।
६ – सहकामी निष्कामी का अग, साखी १

दीपक की भाति है जो तेल पाने पर प्रकाश करता है किन्तु निष्काम सत उस हीरे की भाति है जो स्वभावतः सर्वदा प्रकाशित रहता है।[१] कामना आत्मा को बधन मे डालती है तथा निष्कामता इस बधन से मुक्त करती है।[२] जिसके हृदय में परमेश्वर का ध्यान है उसे सिद्धिया नही रुचती। मन-वचन-कर्म से जो इच्छा रहित निष्काम है, वही पूर्णत. सुखी है।[३]

खौफ (भय)—

हम सूफी साधना के विवेचन मे अभी सूफी के गुणो अथवा लक्षणो मे एक गुण भय (खौफ) की चर्चा कर चुके है। रज्जवजी ने सत के लिये इस गुण को अनिवार्य माना है। उनका विचार है कि नटिनी रस्से पर चढते हुये सदैव मन में भय रखती है इसी लिये वह सावधान रहती है। सावधान रहने पर वह निर्भीक होकर रस्से पर चढती रहती है। इसी प्रकार जो साधक भगवान से भय मान कर साधना करता है वह अतीत (महात्मा) बन जाता है।[४] साधक के भय रूपी भवन मे ही वह परमात्मा निवास करता है। ऐसे भक्त जनो के सारे कार्य पूरे होते रहते हैं और भगवान् कभी हृदय मे बाहर नही जाता।[५] रज्जबजी भय को भाव-भक्ति का मूल बतलाते हैं। भय से सारे काम बनते हैं।[६] भगवान की कृपा और क्रोध दो शक्तिया हैं – इन दोनो से साधक को डरना चाहिये—कृपा के द्वारा वह क्षण भर मे सब काम कर देता है और क्रोध के द्वारा क्षण मे सब नष्ट भी कर सकता है अत. उससे डर कर ही साधक को ससार में रहना चाहिये।[७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रज्जबजी के साहित्य मे सूफी मत के प्राय. सभी लक्षण एव तत्व विद्यमान् हैं। सूफी भावना के अनुसार रज्जबजी विश्व-भ्रातृभाव पर आस्था रखते हैं। अन्तर्मुखी साधना को वे बाह्याचार की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। शरीर को नियन्त्रित करने के लिये वे मन को राम मे लय कर देने का उपदेश करते हैं। भगवान की सर्वव्यापक सत्ता पर सूफी साधक उसे

---

१ – सहकामी निष्कामी का अग, साखी ५।
२ – ,, ,, ,, साखी ११।
३ – ,, ,, ,, साखी २४।
४ – भयभीत भयानक का अग साखी ७।
५ – ,, ,, ,, साखी ११।
६ – ,, ,, ,, साखी १५।
७ – ,, ,, , साखी १६।

प्रभूत शक्ति मान कर आश्चर्य प्रकट करते हैं। रज्जबजी ने अपनी बानी मे हैरान का अग मे इसी प्रकार का आश्चर्य भाव व्यजित किया है। सूफी भी अपनी उपासना मे असाम्प्रदायिक मध्यम प्रतिपदवादी थे (यह बौद्ध धर्म का प्रभाव था)। रज्जबजी ने 'निरपख' और 'मध्य मार्ग' आदि का पोषण एवं प्रतिपादन किया है। सूफियो मे स्थूल के प्रति विराग तथा सूक्ष्म के प्रति रति देखी जाती है। रज्जबजी अव्यक्त, अगोचर, निराकार, निर्गुण, ब्रह्म की उपासना मे विश्वास करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रज्जबजी कबीर और दादू की भाति ही सूफी धर्म-साधना के उन सभी अगो पर पूरी आस्था रखते हैं जो अनेकानेक धर्मों, सम्प्रदायो तथा जातियो मे बिखरी हुई मानवता को एक सूत्र मे आबद्ध करने का सुगम साधन बन सकते हैं। सूफी साधना का मूल केन्द्र प्रेम है और वह प्रेम ईश्वर के प्रति होता है। इसी प्रेम का नाम भारतीय साधना-पद्धति मे भक्ति पड़ा। यह प्रेमाधारित भक्ति इस्लामोपासना मे सूफी साधना के नाम से विख्यात हुई। अव्यक्त के प्रति उत्कट आस्था और उस ब्रह्म को अपनी अनुभूति मे पूर्ण रूपेण उतार लेने का प्रयत्न ही सूफी साधना का प्राण है। रज्जबजी के साहित्य मे यह आस्था और यह प्रयत्न सजीव स्थिति मे उपलब्ध होता है।

अध्याय ५

रज्जबजी का साहित्य

(क) रज्जबजी की रचनायें। (ख) काव्य-साधना। (ख) छन्द और भाषा।

हिन्दी साहित्य मे यदि एक ओर सगुण वैष्णव उपासको द्वारा प्रणीत पुष्कल काव्य-सामग्री उपलब्ध होती है तो दूसरी ओर निर्गुण वैष्णव साधको द्वारा विरचित प्रभूत 'वानी' साहित्य की महत्ता भी निर्विवाद है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का निर्मल वैभव इन्ही दोनो धाराओ के उर्मिल प्रवाह मे अक्षुण्ण है। निर्गुण सत-साधना के अन्तर्गत विशेष रूप से कबीर, नानक और दादू आते हैं। नि सदेह इस सतत्रयी ने अपनी दैवी प्रतिभा एव दिव्य साधना द्वारा निर्गुण-भक्ति-पद्धति को भारत की विशाल धर्म-धरित्री पर आक्षितिज व्याप्त बना दिया। यद्यपि नानक एव दादू की अपेक्षा कबीर का प्रभाव विशेष है तथापि इस मान्यता मे मत वैषम्य नही ठहर सकता कि तीनो ही महात्मा अपने-अपने सम्प्रदायो के मूल प्रवर्तक थे और उन्ही की साधना का यह शुभ परिणाम है कि उनके सम्प्रदाय भारतवर्ष मे काल क्षेप की दुर्गम एव दुर्लंघ्य प्राचीरो का अव्याहत भाव से मर्दन कर अद्यावधि अपनी सत्ता का प्रामाण्य उपस्थित कर रहे हैं। तीनो महात्माओ ने अपनी सुदूर देशकाल प्रस्तारित शिष्यपरम्परा तक अपने धर्मभाव को पहुचाने के लिए बानियो की रचना की। यद्यपि नानक और दादू की बानियो पर कबीर का व्यापक प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि की दृष्टि से दादू सम्प्रदाय का योग सर्वाधिक है। दादू सम्प्रदाय के सतो मे विरले ही ऐसे मिलेगे जिन्होने किसी न किसी प्रकार के साहित्य की रचना न की हो। दादू-पथी प्राय सभी सतो ने कुछ न कुछ अवश्य लिखा। विचारो की प्रस्तुत भूमिका मे हम जिस तथ्य की अवतारणा करना चाहते हैं वह यह कि कबीर-पथ मे धर्म-साधना अथवा साहित्य-साधना की दृष्टि से कोई अन्य ऐसा महात्मा न हुआ जो सम्प्रदाय की देश-काल-सीमाओ का विस्तार करता। जब हम कबीर सम्प्रदाय पर इस दृष्टि से विचार करते हैं तो हमारे ध्यान को घूम फिर कर कबीर के आसपास ही चक्कर लगाना पडता है। परन्तु दादू सम्प्रदाय मे दादू के अतिरिक्त ऐसे अनेक महात्मा हुए जिन्होने अपने विलक्षण ज्ञान, ध्यान, प्रतिभा और साधना के कारण विशिष्ट महत्ता प्राप्त की। दादू के शिष्यो-

प्रशिष्यो मे ७० से अधिक महात्मा ऐसे हैं जिन्होने साहित्य की रचना की है, जिसका उल्लेख कर देना हम यहा समीचीन समझते हैं—

		रचयिता	रचना	काल	मुद्रित/अमुद्रित
१	स्वामी	दादूजी महाराज	वाणी	स १६३०-६०	मुद्रित
२.	,,	गरीबदासजी, नरेणा वाले	१. अनुभव प्रबोध	१६५०-८०	,,
			२ वाणी	,,	,,
३	,,	वनवारीदासजी, दतिया	शब्द सख्या केवल २	१७वी सदी	अमुद्रित
४	,,	साधुजी, माडोठी	वाणी	,,	,,
५.	,,	वखनाजी, नरेणा	,,	१६४५-८०	मुद्रित
६.	,,	टीलाजी, फोफल्या, मेवाड	,,	,,	अमुद्रित
७.	,,	प्रयागदासजी, बीयाणी	,,	१६५५-८० (पूर्ण वाणी प्राप्त नही)	मुद्रित
८.	,,	जग्गाजी, भडौंच (गुजरात)	भक्तमाळ	१६५५-८०	अमुद्रित
९.	,,	मोहनदासजी, मारोठ	ब्रह्मलीला	,,	,,
१०.	,,	जैमल जोगी, साभर	वाणी	१७वी सदी	,,
११.	,,	पूर्णदासजी	,,	,,	,,
१२.	,,	जगजीवनजी, द्योसा	,,	१७वी तथा १८वी के बीच मे	,,
१३.	,,	जनगोपालजी लाहोरी या राहोरी	१. जन्मलीला		
			२. ध्रुवचरित्र	,,	कुछ मुद्रित
			३ प्रह्लाद चरित्र	,,	कुछ अमुद्रित
			४. मोहविवेक		
			५. भर्तृचरित्र		
			६ गुरुदत्तलीला		
			७. काया प्राण सवाद		
			८ बारहमासी सोरठा		
			९. शब्द १० सवैया		
१४	,,	रज्जबजी, सागानेर	१ वाणी	१६५०-१७३०	मुद्रित
			२ सर्वंगी (सग्रहग्रथ)		अमुद्रित
१५	,,	सुन्दरदासजी छोटे (फतहपुर)	१. वाणी	१६८५-१७४५	
			२ सवैया		मुद्रित
			३ ज्ञान समुद्र		
			४. लघुग्रथ २५		
			५. अष्टक १२		
			६. फुटकर रचना २३		
१६.	,,	जगन्नाथदासजी, आमेर	१. वाणी		अमुद्रित

			२ लघुग्रन्थावली १८	१७वी व १८वी	
			३. मोहनमहाराज की कथा	सदी के बीच	
			४. गुणगजनामा (सग्रहग्रथ)		
१७	स्वामी	जैमलजी चौहान (वोली)	१ वाणी	१७वी-१८वी	
			२. लघुग्रथावली ७	सदी के बीच	अमुद्रित
			३. भक्त विरुदावली		
			४. रामरक्षा		
१८.	,,	मोहनदासजी	१. आदिवोध		
		मेवाड (मानगढ)	२. साधमहिमा नाममाला	१७वी सदीका अन्त	अमुद्रित
१६	,,	हरिसिंहजी	वाणी	१७वी व १८वीं सदी के बीच	,,
२०	,,	सतदासजी, वारह हजारी (चावड्या)	१ वाणी	१८वी सदी	,,
			२ सवैया		
			३ लघु ग्रन्थावली १६		
२१	,,	मसकीनदासजी, नरेणा	वाणी	१७वी सदी का अत	,,
२२	,,	मारवूजी, गगापथा	,,	,,	,,
२३	,,	पूरणजी, ईडवा	,,	,,	,,
२४	,,	तेजानन्दजी, जोधपुर	१. वाणी	,,	,,
			२. घट प्रमोद ग्रथावली	,,	,,
२५	,,	लालदासजी (पट्टन)	वाणी	,,	,,
२६	,,	हरिदासजी (दतिया)	१. वाणी	१७वी-१८वीं सदी	,,
			२ घराजू जैमल की कथा		
			३ भर्तृहरि सम्वाद		
२७	,,	जन गरीबजी	वाणी	,,	,,
२८	,,	वाजिन्दजी	,,	,,	,,
२६	,,	माधवदासजी (गूलर)	सतगुणसागर	,	,,
३०	,,	भारवनजी (सतदासजी फतहपुरी के शिष्य प्रशिष्य)	१ सर्वांगबावनी २ भारती नाममाला	स १६८०-८५	मुद्रित दूसरी अमुद्रित
३१	,,	कल्याणदासजी (रज्जबजी के शिष्य)	गोपीचन्द वैराग	१६६३	,,
३२.	,,	चैनजी (जनगोपालजी के शिष्य)	१ वाणी	१७वी-१८वी सदी	,,
			२ लघुग्रन्थावली		
३३	,,	प्रह्लाददासजी (बड़े सुन्दरदासजी के शिष्य)	वाणी	,,	,,
३४	,,	दासजी (लालदासजी के शिष्य)	१. गुणनाटक २ प्रेम परीक्षा	१७२०-३०	कुछ मुद्रित कुछ अमुद्रित

			३. भक्त विरुदावली		
			४. अजामेल चरित्र		
३५.	,,	चतरदासजी (सतदासजी के शिष्य)	१. भागवत एकादश स्कंध का पद्यानुवाद	१६६२	मुद्रित
३६.	,,	खेमजी (रज्जबजी के शिष्य)	१. रेखता		
			२ पचामृत		
			३ धर्म सम्वाद		
			४. शुक सम्वाद		रेखते पचामृत
			५. ज्ञान चितावणी	१८वी सदी	मे प्रकाशित
			६ गोपीचन्द वैराग्य बोध		हुए है, शेष अमुद्रित
३७	,,	दयालदासजी (जगन्नाथजी के शिष्य)	नासिकेत आख्यान	१७३४	अमुद्रित
३८.	,,	छीतरजी (रज्जबजी के शिष्य)	कवित	१८वी शती	पचामृत मे प्रकाशित
३९	,,	बालकरामजी (छोटे सुन्दरदासजी के शिष्य)	कवित्त	१८वी शती	,,
४०	,,	अनन्तदासजी	१ नामदेवजी की परची	१८वी शती का आरभ	अमुद्रित
			२ कबीरजी की परची		
			३ रैदासजी की परची		
			४ पीपाजी की परची		
			५ सेउसमन की कथा		
४१	,,	माधवदासजी (जगजीवनजी के शिष्य)	१. जनराय लीला	,,	,,
			२ मदालसा आख्यान		
			३. कवित्त		
४२	,,	राघोदासजी	१ वाणी	१७७७	
			२. लघुग्रन्थावली		,,
			३ भक्तमाल		
४३	,,	लालदासजी (गरीब दासजी की परम्परा मे)	१ नाममाला	१८३५	,,
			२ चितावनी		
४४.	,,	चतरदासजी (छोटे सुन्दर दास की परम्परा मे)	राघोदासजी की भक्तमाल पर पद्यमय टीका	१८५७	,,
४५	,,	हिरदेरामजी (सियाणा)	नाम माला	अज्ञात	मुद्रित
४६	,,	रसपुजजी (छोटे सुन्दरदासजी की परम्परा मे)	१ वृत्त विनोद	१८७८	अमुद्रित
			२ चमत्कार चन्द्रिका	१८७८	

४७.	स्वामी	मधुपदासजी (मोहनजी मेवाड़े की परम्परा मे)	नागरलता	१८६७	अमुद्रित
४८.	,,	चम्पारामजी (जमात, उदयपुर)	क्षीरार्णव	१८९६	,,
४९.	,,	निगमदासजी (वनवारीदासजी की परम्परा मे)	पद	१९वी शती	,,
५०	,,	आत्मविहारीजी	पद	,,	,,
५१.	,,	कृपारामजी	कीमियासार	,,	,,
५२.	,,	स्वरूपदासजी (थाभा रज्जबजी)	१. पाडवयशेन्दु-चन्द्रिका	१८६० से १९०० तक	मुद्रित
			२. हृन्नयनाञ्जन ३ वृत्ति बोध		अमुद्रित
५३	,,	हरिदासजी (वनवारी दासजी की परम्परा मे)	१ वाणी २ नसीहत नामा	१९वी शती	मुद्रित
५४.	,,	आत्मारामजी (माखूजी की परम्परा मे)	आत्म प्रकाश चिकित्सा	१८८५	,,
५५	,,	सहजरामजी महाराज (वनवारीदासजी की परम्परा मे)	सुरति विलास	१८७५-७६	अमुद्रित
५६	,,	निश्चलदासजी महाराज (वनवारीदासजी की परम्परा मे)	१ विचारसागर २ वृत्तिप्रभाकर ३ ईशावास्योपनिषद् तथा कठोपनिषद् वृत्त	१८७० से १९१५ तक	मुद्रित शायद अव छपा है
५७	,,	मगलदासजी (जमात उदयपुर वड़े सुन्दर दासजी की परम्परा मे)	१ सुन्दरोदय २. गुरुपद्धति ग्रन्थ ३ तर्क खण्डन	१८७० से १९१० तक	अमुद्रित
५८	,,	रतनभजनजी	छन्दरत्नमाला	१९वीं शती का अत	अमुद्रित
५९	,,	देवादासजी	जम्बूसर प्रसग वर्णन	,, ,,	,,
६०	,,	आत्मविहारीजी	गूढ़ार्थ अष्टपदी	अज्ञात	,,
६१	,,	ध्यानदासजी	सत्य हरिश्चन्द्र कथा	१९वी शती का अत	,,
६२	,,	प० कन्हीरामजी (वनवारीदासजी की परम्परा मे)	१ भगवद् गीता पर हिन्दी टीका २ गुरुमत्र टीका	२०वी शती,	अमुद्रित

			३. गायत्रीसार		अमुद्रित
			४. वेदानुवन्ध विवेक		
६३.	,,	नारायणदासजी (जनगरीवजी की परम्परा मे)	दादू चरित्र	१६३५	,,
			अकवर सम्वाद (पद्य)		,,
६४	,,	हीरादासजी, भिवानी निवासी (वनवारीदासजी की परम्परा मे)	दादूरामोदय	२०वी शती	मुद्रित
६५.	,,	मोतीरामजी (वनवारी दासजी की परस्परा मे)	मुमुक्षसार	२०वी शती	मुद्रित
६६	,,	चतरदासजी	पद	१६वी शती	अमुद्रित
६७	,,	चदनदासजी (चतरदासजी की परम्परा मे)	छन्दोविद्मण्डन	२०वी शती	मुद्रित
६८.	,,	पचायणदासजी	दादूजी का स्तोत्र	अज्ञात	अमुद्रित
६९	,,	लक्ष्मीरामजी आचार्य	१. सिद्ध भैपज्य मणिमाला	२०वी शती का मध्य	मुद्रित
			२. आयुर्वेद विज्ञान		
७०.	,,	नारायणदासजी, पुष्कर	रचनायें अप्राप्त परन्तु राघोदासजी के भक्तमाल मे उल्लिखित		
७१.	,,	वेणीदासजी के शिष्य माखूजी	भागवत के दशम स्कव का पद्यानुवाद		
७	,,	दयालदासजी (छोटे सुन्दर दासजी की परम्परा मे)	अप्राप्त, भक्तमाल मे इनकी रचनाओं का उल्लेख है।		
७३	,,	नृसिहदासजी (तेजानन्दजी की परम्परा में)	छप्पय		
७४.	,,	अमरदासजी (तेजानन्दजी की परम्परा मे)	पद		
७५.	,,	दामोदरदासजी	भक्तमाल मे इनकी रचनाओ का उल्लेख है।		
७६.	,,	गोविन्ददासजी	वाणी		
७७	,,	केवलरामजी	पद		

(क) रज्जवजी की रचनाएँ—

दादू सम्प्रदाय की इन शताधिक कृतियो मे जिन महात्माओ की कृतियो की विशेप प्रतिप्ठा है उनमे से जगजीवनजी, रज्जवजी, छोटे सुन्दरदासजी तथा निश्चलदासजी प्रमुख हैं। इनमे भी रज्जवजी की वाणी का दादू सम्प्रदाय मे

विशेष आदर-भाव व रुचि से पठन-पाठन होता है। वैष्णव भक्तो मे साहित्य-रचना की दृष्टि से जो स्थान तुलसी और सूर का है वही स्थान दादू सम्प्रदाय मे रज्जबजी का है। रज्जबजो की बानी को सम्प्रदाय मे जो श्रेष्ठता प्राप्त है वह दादू वानी को भी नही। रज्जबजी की दो कृतिया उपलब्ध होती है—१-रज्जब वानी, २-सर्वंगी अथवा सर्वांगयोग। एक तीसरी कृति का भी उल्लेख किया गया है जो दादूजी की बानी का सग्रह है और जो दादू बानी के रूप मे प्रकाशित होता चला आ रहा है। रज्जब बानी रज्जबजी की मौलिक रचना है तथा सर्वंगी एक-एक अग पर कई-कई महात्माओ की उक्तियो का सकलन है। इस ग्रन्थ को हम रज्जबजी की सम्पादित कृति मान सकते हैं। दादू वानी प्रारम्भ मे व्यवस्थित नही थी किन्तु रज्जबजी ने उसे अगो मे श्रेणीवद्ध कर व्यवस्थित बनाया, इसी से उसको 'अग बधू' या 'अग बधी' नाम से भी अभिहित किया गया है। इसके उपरान्त तो सत काव्य की प्राय समस्त कृतियो का सकलन और प्रणयन अग-वद्ध रूप मे होने लगा।

रज्जब बाणी मे साखी (दोहा), छप्पय, त्रिभंगी, सोरठा, चौपाई, अरिल, सवैया आदि छन्दो मे नाना प्रकार से अध्यात्म, धर्मनीति, सदाचार, ज्ञान, चेतावनी, उपदेश, समाजनीति, ज्ञान के मर्म और भेद, ज्ञान और भक्ति प्राप्ति के उपाय, पापकर्मो के दुष्ट परिणाम, मुक्ति मार्ग, ईश्वर प्राप्ति, पाखण्ड, मत समीक्षा, सत्य, असत्य, योगमार्ग, मन और इन्द्रियदमन, सन्मार्ग प्रवृत्ति, कुमार्ग निवृत्ति, गुरुमहिमा, उत्तम शिष्य, गुरुशब्द महिमा, विरह-जरण इत्यादि अनेकानेक विषय अत्यन्त प्रभावशाली शैली मे वर्णित हैं। रज्जब बानी विशाल ग्रन्थ है। यहा उसका सक्षिप्त परिचय दे देना उपयुक्त होगा।

(१) साखी—१६३ अगों (अध्याय) मे ५३५२ छन्द हैं। इसमे दोहा, चौपाई, सोरठा, अरिल आदि मे अनेक उपयोगी, उपदेशपूर्ण एव रहस्य भरे विषय हैं। कहना चाहिए इस खण्ड मे रज्जबजी का सारा ज्ञान और अनुभव समाविष्ट है।

(२) पद (भजन)—२० राग-रागिनियो मे २०६ पद हैं, जिनमें भगवद्प्रेम, विरह, योग, वैराग्य, उपदेश, शान्ति, प्रार्थना, जीव-आत्मा का सम्बन्ध, मुक्तिमार्ग, सत्यनिर्णय, गुरुप्रेम, गुरुमहिमा, परा पूजा, परमार्थ सत्य इत्यादि उत्तमोत्तम विषय मर्मस्पर्शी शैली मे एव रोचक रागो की बदिशो में वर्णित हैं।

(३) सवया–३६ अगो में ११७ छद हैं। इसमे दादू गुरु महिमा गुणावली, दादूजी के सिद्धान्त, दादू परम पद पर शोक प्रकाश, दादू पुत्र तथा शिष्य गरीबदास की महिमा, विरह सूरातन, साधु महिमा, उपदेश, पीव पिछाण, सत्य-

चितावनी, माया ही में मुक्ति की प्राप्ति, तृष्णा, विश्वास आदि का उत्तम छन्दो में सुन्दर वर्णन है ।

(४) गुण छन्द–इसमें दोहा त्रिभगी छन्द ३३ हैं जिनमे प्राय. दादूजी की महिमा और गुणावली है तथा गुरु की प्रधानता-उपदेश आदि अत्यन्त ललित हैं।

(५) गुण अरिल–६ अगो मे ८२ अरिल छद हैं जिनमें विविध उपर्युक्त विषय सरल भाषा में वर्णित हैं ।

(६) १३ लघु ग्रन्थो मे प्राय चौपाई छद मे उपदेशात्मक कथन हैं । वे ग्रथ है– १-प्रथम बावनी, २-ग्रन्थ बावनो अक्षर उद्धार, ३-१५ तिथि, ४-सप्तवार, ५-गुरु उपदेश आतम उपजि, ६-अविगति लीला, ७-अकल लीला, ८-परम पारिख, ९-उत्पत्ति निर्णय, १०-गृहवैराग्यबोध, ११-पराभेद, १२-दोष दरीवै, १३-जैन जजाल ।

(७) कवित्त (छप्पय)–४० अंगो में ८९ छप्पय । विविध मनोहर विषयो पर लिखा हुआ यह छोटा सा ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है । इसका पाठ प्रायः साधु लोग करते रहते हैं। इसमे पाठक को विलक्षण रसानुभूति होती है ।

(८) शिष्यो के रचे महिमा छद–चैनदास, रामदास, खेमदास, अमरदास, कल्याणदास, मोहनदास आदि कई महात्माओ ने अतीव आकर्षक कवित्तो में रज्जबजी का गुणानुवाद एव अपनी प्रतिभा का पुष्ट प्रमाण उपस्थित किया है।

रज्जब बानी की हस्तलिखित प्रतियो का अब लोप सा होता जा रहा है । सवत् १९७५ वि० मे यह ग्रथ साधु सेवादास, वैद्य कृपारामजी, साधु रामकरणजी के उद्योग तथा शेखावटी के सेठ श्री शिवनारायणजी सूरजमलजी नेमाणी के व्यय से बम्बई के ज्ञानसागर प्रेस से मुद्रित और प्रकाशित हुआ था किन्तु सम्पादक महोदय की भाषा-अनभिज्ञता तथा रज्जबजी के काव्य से परिचय न होने के कारण यह ग्रन्थ आद्योपांत कुछ और का और ही हो गया है। शब्द, वाक्य, छन्द सभी भ्रष्ट हो गये हैं। इस ग्रन्थ के छप्पय भाग की सुन्दर टीका स्वामी रामदासजी दूबलघनिया वालो ने की थी जो ग्रन्थ के साथ ही दी गई है।

रज्जब बानी के रचनाकाल के सम्बन्ध मे रज्जब वाणी के सम्पादक ने उक्त मुद्रित ग्रन्थ को भूमिका मे लिखा है—इस मनोहर ग्रन्थ की रचना सम्वत् १६२५ वि० से सम्वत् १६५० वि० के भीतर ही हुई है। इस छपे हुये ग्रन्थ के प्रति की गई सम्पादक की तथा मुद्रक की एव व्यवस्थापको की उपेक्षा देख कर सचमुच बडा ही क्लेश होता है । छपाई और सम्पादन मे तो प्रमाद किया ही गया

है—रज्जबजी के सम्बन्ध में निराधार मत भी प्रस्तुत किये गये हैं । उदाहरण के लिये 'वाणी' का रचनाकाल स० १६२५ से १६५० के बीच का बताया है। प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि रज्जबजी सन् १५६७ (स० १६२४ वि०) मे उत्पन्न हुये थे । यदि बानी का रचनाकाल स० १६२५ से १६५० के वीच का मान लिया जाय तो फिर इसका अर्थ यह होगा कि रज्जवजी जब एक वर्ष की आयु के थे उसी समय बानी की रचना मे प्रवृत हो गये थे। रचनाकाल सम्वन्धी यह मत असगत एव सर्वथा निराधार है । इस सम्वन्ध मे पुरोहित हरिनारायणजी शर्मा का मत ही मान्य है । उन्होने राजस्थान पत्रिका, कलकत्ता मे प्रकाशित 'महात्मा रज्जबजी' शीर्षक लेख मे लिखा है—'रज्जवजी स० १६४४ वि० मे या उसके आस-पास ही दादूदयाल के शिष्य आमेर मे हुये थे और सम्वत् १७४६ मे रामशरण हो गये । इस कारण इन की रचनाये सम्वत् १६५० से लगा कर सम्वत् १७४० तक होती रही होगी । परन्तु इनकी अधिकाश रचनायें सम्वत् १७२५ तक हुई होगी । जब तक इनकी इन्द्रिया यत्किंचित् काम करती रही होगी ।' इसी प्रसग मे पुरोहितजी आगे कहते है, 'अपने गुरु के परमधाम-गमन पर इन्होने छन्द लिखे हैं। जिनका लेखनकाल सवत् १६६० सिद्ध होता है । गरीबदासजी के भेट के सवैये इससे भी कई वर्ष पीछे के हैं । शायद सवत् १६६५ और १६७० के वीच के हो । हमारे पास इनकी वाणी के कई अश स० १७४१ और १७४२ तथा १७४३ के लिखे मौजूद हैं । इसी से हम कहते हैं स० १७४० इनकी रचना का अतिम समय समझना चाहिये ।'[१] पुरोहितजी का यह मत प्रमाणो पर आधारित है । अतः मुद्रित ग्रन्थ की भूमिका का रचनाकाल सबधी मत भ्रामक एव अप्रामाणिक है । रज्जबजी के सस्कृत का विद्वान् होने वाली धारणा का भी कोई आधार नही है । यह ठीक है कि वे बहुश्रुत थे, सत्सगी थे—विद्वानों का साहचर्य उन्हें प्राप्त हुआ किन्तु स्वय सस्कृत के विद्वान् थे, यह बात किसी भी प्रकार मान्य नही ठहरती ।

रज्जब वानी मे जिन अगो का वर्णन किया गया है, वे हैं—

१–स्तुति का अग, २–भेंट का अग, ३–गुरुदेव का अग, ४–गुरु शिष्य निर्गुण का अग, ५–गुरु शिष्य निदान निर्णय का अग, ६–गुरुमुखि कसौटी का अग, ७–आज्ञाकारी व आज्ञाभगी का अग, ८–आज्ञाकारी का अग, ९–गुरु सयोग वियोग महात्म्य का अग, १०–विरह का अग, ११–प्रीति इकग प्रत्यक अंग,

---

१–पुरोहित हरिनारायणजी शर्मा का 'राजस्थान पत्रिका' में रज्जब विषयक लेख ।

१२–ब्रह्म अगिनि का अग, १३–विरह विभग अग, १४–भयभीत भयानक अग, १५–विरक्ति का अग, १६–सुखिम त्याग का अग, १७–मोहमरदन निर्मोही का अग, १८–सम्पत्ति विपत्ति मदहरन का अग, १९–लैका अग, २०–सुमिरन का अग, २१–भजन भेद का अग, २२–अजपाजाप का अग, २३–ध्यान का अग, २४–नाम महिमा का अग, २५–नाव निरूप आगम अकलि का अग, २६–भजन प्रताप का अग, २७–साधु परीक्षा का अग, २८–साधु असाधु परीक्षा का अग, २९–साधु महिमा का अग, ३०–तीरथ सतसग का अग, ३१–साधु सगति परमलाभ का अग, ३२–साधु का अग, ३३–मिहरी महूरति का अग, ३४–प्रसिद्ध साधु का अग, ३५–मायामधि मुक्ति का अग ३६–विचार का अग, ३७–पृथ्वी पुस्तक का अग, ३८–सद्गति सेझे का अग, ३९–साधु मिलाप मगल उत्साह का अग, ४०–चर्णोदक प्रसाद का अग, ४१–दास दीरघ का अग, ४२–लघुता का अग, ४३–गर्वगजन का अग, ४४–करुणा का अग, ४५–विनती का अग, ४६–सत सहाय रक्षा का अग, ४७–पीव पिछाण का अग, ४८–बल बमेक का अग, ४९–औतार अतीत महातम का अग, ५०–साक्षीभूत का अग, ५१–समरथाई का अग, ५२–मूलारभ का अग, ५३–चौरासी निदान निरनै का अग, ५४–आज्ञा साहिबी का अग, ५५–गैबी का अग, ५६–अनभै अगोचर का अग, ५७–मधिमार्ग निज स्थान निर्णय का अग, ५८–आतम निर्णय का अग, ५९–ज्ञान परचै का अग, ६०–परचा भोलेभाव का अग, ६१–हैरान का अग, ६२–पार अपार का अग, ६३–थकित निहचल का अग, ६४–आसै आसण का अग, ६५–अतकालि अंतरा व्यौरा का अग, ६६–पतिवरता का अग, ६७–सर्वंगी पतिवरता का अग, ६८–विभिचार का अग, ६९–रस का अग, ७०–प्रेम का अग, ७१–सूरातन का अग, ७२–शिकार का अग, ७३–शव्द परीक्षा का अग, ७४–ज्ञान परीक्षा का अग, ७५–प्राण परीक्षा का अग, ७६–गूप्तगोपि जीव प्रकट परीक्षा का अग, ७७–अपारिख का अग, ७८–अज्ञान कसौटी का अग, ७९–गर्भ-सिद्धान्त का अग, ८०–उपदेश चितावणी का अग, ८१–शरण का अग, ८२–काल का अग, ८३–सजीवनी का अंग, ८४–जीव ब्रह्म की अतराय का अग, ८५–उन्मनी का अग, ८६–निरपक्ष मध्य का अग, ८७–विवेक समता का अग, ८८–मेलग का अग, ८९–निरवैरता का अग, ९०–दया अदया मिश्रित दोष, ९१–दुष्ट दया का अग, ९२–कवला काढ अग, ९३–सुकृति अग, ९४–दान निदान पुण्य प्रवाण का अग, ९५–सुकृति निदान का अग, ९६–निरवैरी नर मिलाप का अग, ९७–पाय उपाय का अग, ९८–मेवा का अग, ९९–सेवा मुमिरण का अग, १००–सतजत सुमिरण मिश्रित अग, १०१–रत विकृत का अग, १०३–सुमति कुमति का अग, १०३–शक्ति उभै

गुणी का अग, १०४-माया जड चेतन का अग, १०५-माया का अग, १०७-स्वार्थ का अग, १०८-अविश्वास तृष्णा का अग, १०९-तृष्णा अविश्वास का अग, ११०-विश्वास सतोप का अग, १११-अचित अविश्वास का अग, ११२-निरिहाई निर्वान का अग, ११३-विवेक मधुकरी का अग, ११४-सयम कसौटी का अग, ११५-मृतक का अग, ११६-साच निर्णय का अग, ११७-परम सांच का अग, ११८-कृपण का अग, ११९-साच चाण्क का अग, १२०-वखत व्योरे का अंग १२१-निंदा का अग, १२२-कृतघ्नी निर्गुण का अग, १२३-कलयुगी का अग, १२४-कुसगति का अग, १२५-कुसग, सुसग का अग, १२६-अपलक्षण अपराध का अंग, १२७-सान का अग, १२८-मूढ कर्मी असाध्य रोग का अग, १२९-शिष्य सुत प्रस्तावना का अग, १३०-स्वाग का अंग, १३१-स्वाग साच निरनै का अग, १३२-तीर्थ सस्कार का अग, १३३-भरम विध्वस का अंग, १३४-झूठणि का अग, १३५-आचार अथेला का अग, १३६-विवेक विराग का अग, १३७-नीतगि का अग, १३८-दिलवर दिल सौदे सौदा का अग, १३९-गुरु गत मत का अंग, १४०-सारग्राही का अग, १४१-असार ग्राही का अग, १४२-सवद उभै आसा का अग, १४३-सवद का अग, १४४-वाणी विचार का अग, १४५-विद्यामहातम का अग, १४६-सरव ठौर सावधान का अंग, १४७-अकलि चेतनि का अग, १४८-अज्ञान अचेत का अग, १४९-दरिद्रता का अग, १५०-मन का अग, १५१-सूखिम जनम का अग, १५२-विषय का अग, १५३-काम का अग, १५४-इन्द्रियो का अग, १५५-रहति का अग, १५६-जतन का अग, १५७-सहकाम निहकाम का अग, १५८-प्रवृत्ति निवृत्ति का अग, १५९-पाप पुण्य निर्णय अग, १६०-झूठ साच निर्णय का अंग, १६१-करनी विना ज्ञान का अग, १६२-ज्ञान विना करनी का अग, १६३-नाम विवेक का अग, १६४-उपजणि का अग, १६५-गोपि पाप का अग, १६६-लोक लज्जा का अग, १६७-मन मुखी का अग, १६८-मैंवासी का अग, १६९-दुर्जन का अग, १७०-खेचर का अग, १७१-क्रोध का अग, १७२-हिंसा दोष का अग, १७३-सात्विक तामस निदान का अग, १७४-जरणा का अग, १७५-परम जरणा दुष्ट दातार का अग, १७६-सरव गुण अरथी का अग, १७७-साखि जोग मत का अग, १७८-विभिचार वरदाई का अग, १७९-प्रस्तावी का अग, १८०-खेल का अग, १८१-मुरपरसगी का अग, १८२-चतुर जवावी का अग, १८३-निंदा स्तुति का अग, १८४-अमर अपराध का अग, १८५-भोलेभाव का अग, १८६-रतन कला का अग, १८७-लाबि का अग, १८८-धीरज सहज स्वाति का अग, १८९-निक्वारिज नपुसक अग, १९०-खालसे का अग, १९१-पुस्तक नामा ।

इस ग्रथ के अत मे साखियो की जोड सख्या ५४२८ तथा अगो की जोड सख्या १६४ दी हुई है। यह संख्या भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियो मे भिन्न-भिन्न रूप मे मिलती है। साखी भाग के बाद रज्जबजी कृत पद भाग है जिसमे २१८ पद हैं। यह पद विभिन्न राग-रागनियो मे बधे हैं, जो निम्नलिखित हैं—

१. राग रामगिरि, २. राग माली गौड, ३ राग गौडी, ४ राग गुण्ड, ५. राग मलार, ६ राग टोडी, ७. राग आसावरी, ८ राग केदार, ९. राग मारू, १०. राग भैरू, ११ राग ललित, १२. राग बिलावल, १३. राग सोरठ, १४. राग बसत, १५ राग कान्हरा, १६. राग काफी, १७ राग कल्याण, १८. राग नटनारायण, १९ राग जयश्री (जैतश्री), २० राग धनाश्री।

इस पद भाग के समाप्त होने पर दादूजी के भेट के सवैये हैं जिनकी रचना रज्जबजी ने अपने गुरु दादूदयाल के व्यक्तित्व निरूपण मे की है। ये सवैये भी प्राय साखी भाग के अग शीर्षको मे रचे गये हैं। सवैया भाग मे ही रज्जबजी के भेट के सवैये हैं जो रज्जबजी के व्यक्तित्व निरूपण के लिये उनके कुछ शिष्यो तथा अन्य साधुओ द्वारा रचे गये है। इस खण्ड मे कही-कही पर विलक्षण प्रकार के छन्दो की रचना की गई हैं। इसी ग्रन्थ मे सवैया, कवित्त, अरिल, पद, छद आदि का प्रयोग किया गया है। इसके बाद रज्जबजी की छोटी छोटी १३ कृतिया है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

जैसा कि हम कह आये है कि रज्जब की दूसरी कृति सर्वंगी है जो सग्रह ग्रथ है इसे कही कही सर्वंग तथा सर्वांग योग भी कहा गया है।[1]

इसी प्रसग मे रज्जबजी की दूसरी कृति 'सर्वंगी' जो एक सकलन-ग्रथ है, पर विचार कर लेना समीचीन होगा। सर्वंगी रज्जबजी द्वारा सकलित विशाल ग्रन्थ है। इस ग्रथ मे १४२ अग हैं जिनको हम शीर्षको सहित नीचे दे रहे हैं। एक-एक अग के विषय पर अपनी बानी के साथ ही कई-कई महात्माओ की वानिया रज्जबजी ने सग्रह कर के इस ग्रथ मे एकत्र की है—हम उन महात्माओ के नाम भी साथ ही दे देना आवश्यक समझते हैं। यो तो महात्माओ के नाम गिन कर काम चलाया जा सकता था किन्तु अङ्गो सहित महात्माओ के नाम देने का एक मात्र उद्देश्य रज्जबजी की उस अनुसन्धान-प्रतिभा का परिचय कराना है जिसके द्वारा उन्होने एक एक विषय पर कई-कई महात्माओ की उक्तिया सकलित एव सम्पादित की हैं।

१–पु० हरिनारायणजी शर्मा का 'महात्मा रज्जब' शीर्षक लेख की टिप्पणी।

	अग	महातमा
१	अस्तुति को अग	—दादू, रज्जब, कबीर, कृष्णदास
२	भेंट को अग	—रज्जब
३	गुरुदेव का अग	—रज्जब, दादू
४	गुरुसिख निदान निरनै को अग	—अरिहतदेव, हरदासर्सिह, रज्जब, दादू
५	गुरुमुखि कसौटी को अग	—दादू, रज्जब, नापा, कबीर
६	आज्ञाकारी को अग	—दादू, रज्जब
७	आज्ञाभगी को अग	—दादू, रज्जब
८	गुरु सयोग वियोग महातम को अग	—रज्जब, दादू
९	विरह को अग	—नामदेव, कबीर, दादू, मुहमद, रज्जब, जन-गोपाल, वाजिददास, परमानन्द, नापा, सूरदास, बखना, अहमद
१०	विरह विभग, विसूरा का अग	—कबीर, रज्जब
११	ब्रह्म अग्नि का अग	—मुकुन्द, रज्जब
१२	विक्रत को अंग	—मुहम्मद, दादू, नानक, रज्जब, कबीर, अहमद
१३	सूखिम त्याग का अग	—दादू, रज्जब
१४	रत विक्रत का अग	—दादू, रज्जब
१५	सुमिरण का अग	—कबीर, दादू, बखना, नामदेव, गोरख
१६	भजन भेद का अग	—कबीर, दादू, रज्जब
१७	अजपा-जाप का अग	—नामदेव, रज्जब, दादू
१८	नाव महिमा का अग	—दादू, वाजीद, जनगोपाल, रज्जब, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, कबीर, छीपा
१९	नाव निरूप अग	—दादू, रज्जब
२०	भजन प्रताप का अग	—रैदास, नापा, जनगोपाल, परमानन्द, सूरदास, अग्रदास, रज्जब, वेनी, हरदास, पीपा, माधोदास ।
२१	ग्रन्थ साधमहिमा	—भविष्यपुराण, नानक, कबीर, दादू, वाजीद, रज्जब, नामदेव
२२	साध पारिख का अग	—कबीर, दादू, रज्जब, सूरदास, वीसा, परसराम, दीनदयाल, सोम
२३	ग्रन्थ साध परिक्षा	—चतुर्भुज, दादू, हरदास, रज्जब
२४	साध असाध परीखा का अग	—दादू, रज्जब, नामदेव, चन्द्रदास, सूरदास, जगन्नाथ, वाजीद, कबीर
२५	साध महिमा का अग	—दादू, सूरदास, जगन्नाथ, रज्जब, वाजीद, कबीर
२६	साध सगति परम लाभ का अग	—रज्जब, दादू, कबीर
२७	तीरथ सग का अग	—रज्जब

२८	मिहरि मुहूरति का अग	– दादू, रज्जब
२९	परसिध साध का अग	—कबीर, रज्जब
३०	मायामधि मुक्ति का अग	—दादू, नामदेव, रज्जब, कबीर
३१	सम्पत्ति विपत्ति मद हरन का अग	—रज्जब
३२	साध मिलाप मगल उद्दाह का अग	—दादू, नामदेव, रज्जब, कबीर, गरीबदास, बखना, जनगोपाल, मुकुन्द
३३	परसाद चरनोदिक महातम का अग	—कबीर, रज्जब, दादू, बखना, परमानन्द, कबीर, बेनीदास, रैदास, फरीदा, जाचन्द
३४	साध साई हेरे का अग	—कबीर, दादू, बखना, रज्जब, परमानन्द
३५	दास दीरघ का अग	—रज्जब
३६	भगति निरमल निहगरब का अग	—वेणीदास, दादू, जनगोपाल, जगजीवन, सूरदास, तुलसीदास, दादू
३७	लघुता का अग	—रज्जब
३८	करुना बीनती का अग	—नामदेव, कबीर, दादू, रैदास, सूरदास, हरदास, बाजीददास, अग्रदास, माधोदास, चत्रदास, खेमदास, अमरदास, गोस्वामी तुलसीदास, परमानन्द, भीव, गरीबदास, जनगोपाल, विष्णुदास, सेन, जैमल, सुदरदास, बखना, बीसा।
३९	सत सहाइ रक्षा का अग	—दादू, कबीर
४०	भगति पसाव का अग	—नरसी, दादू, रज्जब, नामदेव, अग्रदास, बखना
४१	सूखिम सेवा का अग (ग्रथ निरवाण जोगपट)	—रुद्रनाथ, गोरखनाथ, रज्जब, कबीर, नापा, हरदास।
४२	पीव पिछाण का अग	—सोम, कबीर, अगद, गरीबदास, बखना, नापा, नामदेव, सूर, अग्रदास, रैदास, मुकुन्द, बाजीद
४३	ग्रथ निरजन अष्टक	– दादू, जैमल, रज्जब
४४	बल विवेक का अग	—रज्जब
४५	औतार अतीत महातम का अग	—रज्जब
४६	साखी भूत का अग	—रज्जब, कबीर, दादू
४७	समरथाई का अग	—दादू
४८	ग्रथ अकल लीला	—रज्जब, कबीर दादू, पीपा, विष्णुदास, बाजीद
४९	आज्ञा साहिबी का अग	—विष्णुदास, कबीर, रज्जब वाजीददास, दादू
५०	परचा का अग	—कबीर, अगद, दादू, नामदेव, रैदास, सूरदास,
५१	पर्चै परीक्षा का अग	—रज्जब
५२	परचा भोलेभाव का अग	—रज्जब
५३	मधिमारग निजस्थान निरनै का अग	—दादू, कबीर रज्जब

५४	हैरान का अग	—कबीर, दादू, जनगोपाल नापा, रज्जब
५५	पार अपार का अग	—रज्जब, कबीर, रैदास, सूरदास
५६	थकित निहचल का अग	—कबीर, रज्जब, रैदास, सूरदास
५७	प्रीति अखण्डित का अग	—दादू, रैदास, सूरदास
५८	अतकाल अतराइ व्योरा का अग	—रज्जब, कबीर
५९	पतिव्रत का अग	—नामदेव, सूरदास, तुलसी नापा, रज्जब, वाजीद, कबीर, दादू
६०	सर्वंगी पतिवरता का अंग	—रज्जब
६१	रस का अग	—कबीर, सुखानन्द, दादू, रज्जब, बखना, सूर
६२	प्रेम का अग	—अहमद, कुतुब
६३	वेली का अग	—गोरखनाथ, कबीर, हणवत, नामदेव, दादू, जैमल, रज्जब
६४	सूरातन का अग	—दादू, कबीर, नापा, वाजीद, त्रिलोचन, नरसी, रज्जब
६५	सिकार का अग	—कबीर, रज्जब, जैमल, नापा
६६	पारिख का अग	—कबीर
६७	प्राण पारिख का अग	—रज्जब
६८	अपारिख का अग	—कबीर, हरीदास, नापा, रज्जब, नामदेव
६९	आसैं आसण का अग	—कबीर, नारायण, दादू
७०	भैमीत भयानक का अग	—कबीर, नानक, वाजीद, रज्जब
७१	उपदेश चितावणी का अग	—रामानन्द, विद्यादास, रज्जब, कबीर, जन-गोपाल, रैदास नामदेव, दादू, मुहम्मद, हरि-दास, सूरदास, सावलिया, अग्रदास, तुलसी, परसराम, सोम, त्रिलोकदास, नापा, गोरख-नाथ, वाजीद, फरीदा।
७२	काल का अग	—कबीर, रैदास, रज्जब, जैमल, नामदेव, दादू
७३	सजीवनि का अग	—नामदेव, कबीर, दादू, नापा, रज्जब
७४	अनभई का अग	—कबीर, हरिदास, नामदेव, गरीबदास, हरिदास, जैमल, नापा, गोरखनाथ, मुकुन्द, वीझा, गोविन्ददास, माथुर, नागरदास, त्रिलोचन, वाजीद, माधोदास, नारायणदास, चत्रदास, रज्जब, विष्णुदास, वेणीदास, शिवश्रमदास, कृष्णदास, दादू
७५	ज्ञान की आधी का अग	—कबीर, वाजीद, रज्जब
७६	पारगत वमेक का अंग	—रैदास, रज्जब, नामदेव
७७	जीव ब्रम्ह अतराछ निरनै को अग	—रज्जब

७८	निरपख मधि अग	—नामदेव, कवीर, दादू, अगद, रज्जव, वखना, वाजीद, प्रिथीनाथ
७९	वमेक समिता का अग	—कवीर, दादू, जैमल, सूरदास, कीतो, रज्जव, नापा, वाजीद, परसराम, नामदेव, गोरख, वलदास, वखना, चरपट
८०	दया निरवैरता का अग	—कवीर, गोरख, वहवलदास, रज्जव, नापा, वखना, दादू, वाजीद, चरपट,
८१	दुष्टदया का अग	—रज्जव, कवीर, दादू
८२	सुकृत का अग	—रज्जव, दादू, फरीद, कवीर, वाजीद, जनगोपाल
८३	दिलवर दिल सौदे सौदा का अग	—रज्जव
८४	दान निदान पुनि प्रवीन का अग	—रज्जव
८५	कवला काढ का अग	—रज्जव
८६	सेवा का अग	— कवीर, दादू, रज्जव
८७	सेवा सुमिरण का अग	—रज्जव
८८	सतजत सुमिरण मिश्रति का अग	—रज्जव
८९	क्रिपन का अग	—रज्जव, वाजीद, कवीर, दादू
९०	साच चाणक का अग	—दादू, रज्जव, नापा, माथुर, सूरदास, कवीर, हरिसिंह, परमानन्द, नागर
९१	सेवा निरफल का अग	—रज्जव
९२	वखत व्योरे का अग	—कवीर, रज्जव, मुकन्द
९३	मूढ करमी का अग	—कवीर, वाजीद, रज्जव
९४	न्यन्दा का अग	—रामदेव, रज्जव, दादू, वखना, कवीर
९५	कृतघ्न निगुना का अग	—अग्रदास, सूरदास, दादू
९६	कलिजुगी का अग	—दादू, रज्जव, अग्रदास, सतदास, गोपाल
९७	कुसगति का अग	—भीम, रज्जव, कवीर, हरिदास, दादू, कवीर, नामदेव, हरदास, नापा, रैदास
९८	भेप का अग	—जनगोपाल, पूरणदास, परसराम, रज्जव, तुलसी
९९	तीरथ तसकार का अग	—रामानन्द, कवीर, नामदेव, वखना, रज्जव, दादू
१००	अज्ञान कसौटी का अग	—रज्जव, कवीर, हरिदास, जैमल, वाजीद, नानक
१०१	भरम सिद्धात का अग	—रज्जव
१०२	भूठरिण का अग	—नामदेव, रैदास, नापा, रज्जव, हरदास
१०३	आचार उथेल का अग	—रज्जव
१०४	भरम विवस का अग	—कवीर, दादू, रज्जव, नामदेव, पीपा, नापा, वखना, हरदास, रैदास, गोरखनाथ, रज्जव, मुकुन्द, चरपट
१०५	वेद विकार का अग	—कवीर, रैदास, पीपा, हरदास, रज्जव वखना

१०६	नीतगि का अग	—रज्जब
१०७	गुरगत मतसत का अग	—रज्जब
१०८	सारग्राही का अग	—रज्जब
१०९	असारग्राही का अग	—रज्जब
११०	सर्व ठौर सावधान का अग	—दादू, रज्जब
१११	अकलि चेर्तानि का अग	—रज्जब
११२	अज्ञान अचेत का अग	—रज्जब
११३	दलिद्र का अग	—रज्जब
११४	मन का अग	—दादू, जनगोपाल, कबीर, सूरदास, रज्जब
११५	सूखिम जनम का अग	—रज्जब, दादू
११६	विषै का अग	—कबीर, दादू, रज्जब, हरदास, नापा, सूरदास, परमानन्द दास, वेलियानन्द, बाजीद, गोरखनाथ, जनगोपाल, सोम
११७	काम का अग	—रज्जब
११८	रहति का अग	—रज्जब
११९	मनसा गायत्री का अग	—पृथीनाथ, कबीर, दादू, जैमल, गोरखनाथ
१२०	माया का अग	—गोरखनाथ, रज्जब, कबीर, जनजीवन, बखना, सूरदास, बाजीद, नारायण, नामदेव
१२१	शक्ति साच शोध का अग	—रज्जब
१२२	स्वारथ का अग	—रज्जब
१२३	अवेसास तृष्णा का अग	—रज्जब, सूरदास, परमानन्द, कबीर, जनगोपाल
१२४	वेसास का अग	—रज्जब, परमानन्ददास, सूरदास
१२५	वेसास, सतोष का अग	—दादू, जनगोपाल, जैमल, सेखबहावदी, सूरदास, जनबाजीद, हरदास, परमानन्द, धना, रज्जब, कबीर नामदेव
१२६	निरिहाई निरवान का अग	—रज्जब, पीपा, कबीर
१२७	बमेक वेसास मधुकरी का अग	—कबीर, रज्जब
१२८	सजम, कसौटी का अग	—कबीर, दादू, फरीद
१२९	सहज कसौटी निरने का अग	—रज्जब, दादू, कबीर
१३०	मृतक का अग	—कबीर, दादू, रज्जब
१३१	साच निरनै का अग	—दादू, कबीर, रज्जब
१३२	परमसाच का अग	—रज्जब
१३३	करनी विना ज्ञान का अग	—रज्जब
१३४	ज्ञान विना करनी का अग	—रज्जब
१३५	नाव बमेक का अग	—रज्जब
१३६	क्रोध का अग	—रज्जब
१३७	हस्या दोप का अग	—रज्जब

१३८	जरणा का अग	—रज्जब
१३९	परम जरणा पुष्टवा को अग	—रज्जब
१४०	सर्वगुण अर्थी का अ ग	—रज्जब
१४१	प्रिथी पुस्तग कीया कुरान का अ ग	—रज्जब
१४२	सद्गति सेझैका अग	—रज्जब
१४३	लावि का अग	—रज्जब, रामानन्द, सूरदास
१४४	धीरज सहज स्वाति का अग	—दादू
१४५	विभिचार वरदाई का अग	—तुलसी, अग्रदास
१४६	आरत का अग	—दादू, कबीर, नामदेव, जनगोपाल, हरिदास, रज्जब ।

इन महात्माओ के अतिरिक्त शकराचार्य, भर्तृहरि, वसिष्ठ के सस्कृत श्लोको तथा मौलाना रूम, मनसूर, खुसरो, अहमद और काजी महमूद सूफी साधको के फारसी बैतो का सग्रह भी प्रसगानुसार किया गया है। एक-एक विषय पर विभिन्न महात्माओ की सारगर्भित वाणियो का सकलन किया गया है। दादूसम्प्रदाय के इस अद्भुत ग्रथ 'सर्वंगी' की हस्तलिखित प्रतिया राजस्थान मे यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं। हमे दो प्रतिया देखने को प्राप्त हुई हैं। उनमे से एक प्रति दादू महाविद्यालय की है और दूसरी नारायणे के दादू-द्वारा के सग्रहालय की है। नारायणे की प्रति सर्वंगी की शरह है—उसमे सर्वंगी का मूल भाग निकालना कठिन है। दादू महाविद्यालय जयपुर की हस्तलिखित प्रति मे हमे १४६ अग प्राप्त होते हैं किन्तु पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अपनी 'राजस्थान' पत्रिका मे प्रकाशित 'महात्मा रज्जब' लेख मे १४२ अग बताये है। राजस्थान के दादूपथी सतो से इस सम्बन्ध मे मैने प्रत्यक्ष वार्ता की और उन्होने बताया कि सर्वंगी की हस्तलिखित प्रतियो मे प्राप्त सामग्री मे पायः भिन्नता है। अस्तु यहा सर्वंगी की सामग्री का मूलशोधन अथवा पाठ-शोधन हमारा विषय नही है। हमे तो प्राप्त सामग्री के आधार पर रज्जब जी के साहित्य के विषय मे पाठको एव साहित्य-मर्मज्ञो के मस्तिष्क मे एक धारणा और दृष्टिकोण का निर्माण करना है। सर्वंगी तथा रज्जब बानी के अग शीर्षको मे विशेप अतर नही है। भेद इतना ही है कि रज्जब बानी मे समस्त उक्तिया रज्जब जी की मौलिक रचनाये है तथा सर्वंगी मे रज्जब जी द्वारा उनकी अपनी रचनाओ के अतिरिक्त अन्य कई-कई महात्माओ की उक्तिया भी हैं। दोनो ग्रन्थो का कलेवर प्राय समान है। दोनो कृतिया विशाल हैं। जहा रज्जब बानी में रज्जब जी की मौलिक प्रतिभा एव माया-ब्रह्म-जीव-जगत् सम्बन्धी प्रकाण्ड ज्ञान का परिचय मिलता है वही उनकी सकलित एव सम्पादित प्रति 'सर्वंगी' मे

उनके बहुश्रुत होने तथा पूर्ववर्ती और युगीन प्राय समस्त प्रसिद्ध महात्माओ की रचनाओ से परिचित होने का प्रबल प्रमाण प्राप्त होता है। ये दोनो निर्गुण सत साहित्य के अद्वितीय ग्रन्थ रत्न हैं। 'सर्वंगी' का रचना-काल पुरोहित शर्मा ने स० १६५० से १७४० के बीच का माना है। यह भी निर्विवाद है कि 'सर्वंगी' की रचना रज्जब वानी के उपरान्त हुई, क्योकि सर्वंगी मे रज्जब जी ने अपनी बानी की सामग्री का भी प्रसगानुसार चयन किया है। अत जो रचना-काल पुरोहित जी ने माना है उसे ही शुद्ध मान लेने मे कोई व्यवधान नही पडता।

(ख) काव्य-साधना

मानव-हृदय की राग-चेतना और काव्य दोनो सहजात एव अतरावलम्बित हैं। दोनो का इतिहास एक साथ उदय होता है तथा दोनो एक दूसरे के मुखापेक्षी हैं। काव्य के क्षेत्र में इस राग-चेतना तथा बुद्धि का भेद भी युग-पुष्ट है फिर भी राग-चेतना मे बुद्धि का एकान्त अभाव अथवा एकान्त अतिरेक ठीक नही। दोनो ही समर्थ काव्य-रचना के बाधक हैं। सुष्ठु एव मार्मिक काव्य-रचना के लिये मस्तिष्क स्थित बुद्धि को सदैव अपना आसन छोड कर हृदय की ओर कुछ नीचे उतरना पडता है तथा हमारी हृदयस्थ भावना को बुद्धि के स्वागत के लिये निर्विकल्प भाव से तत्पर रहना पडता है—सफल रचना का प्रादुर्भाव दोनो के इस समन्वय में सम्भव है। यो तो सस्कृत कवियो एव आचार्यों के द्वारा काव्य की विपुल रस एव अलकार परक परिभाषाये प्रस्तुत की गईं, किन्तु यहा काव्य की व्याख्या करना हमें अभिप्रेत नही। काव्य कला की विवेचना करने वाले विद्वानो द्वारा साहित्य की सृजनात्मक प्रेरणा के कारणो मे प्रमुखत आत्मप्रकाशन सौन्दर्य-प्रेम, कामना-पूर्ति, आनन्दोपलब्धि माने गये हैं। इन समस्त प्रेरक कारणो में प्रत्येक की स्थिति लोक-भावना के सदर्भ तथा सामाजिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में है। लोक अथवा समाज निरपेक्ष कोई भी रचना न तो शक्तिपूर्वक अपनी सत्ता का प्रकटीकरण कर सकती है और न लोक-हृदय में किसी नूतन निर्माण की प्रवृत्ति को ही जन्म दे सकती है। साहित्यसृजन के उक्त प्रेरक कारणो मे आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति प्रमुख है। यही सिद्ध कलाकार की आत्माभिव्यक्ति साधारणीकृत हो कर सर्वात्माभिव्यक्ति बन जाती है।

महात्मा रज्जब के काव्य पर जब हम उपर्युक्त दृष्टिकोण के आधार पर विचार करते हैं तो उसमें हमें भाव और बुद्धि का समुचित समाहार प्राप्त होता है। भाव और बुद्धि का योग रज्जब जी के गुरु दादूजी की वाणी में भी विद्यमान् है परन्तु रज्जब में भावतत्व का मात्राधिक्य उसे अपेक्षाकृत अधिक

प्रभावोत्पादक एव विशिष्ट बना देता है। कबीर-परम्परा के सत-साहित्य के परीक्षण मे हमे काव्यशास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्तो की शास्त्रीयता का मानदण्ड अधिक सहायता नही दे सकेगा। इन सतो की बानी अपने सहज सरल अकृत्रिम रूप मे जन-मानस पर सीधे अपना प्रभाव डालती है। हम देखते हैं कि न तो इन सत कवियो के काव्य में कोई ऐसा विशेष 'प्रतीयमान' है जो इन्हे ध्वनि-सिद्धान्त के निष्कर्ष पर खरा उतार सके, न इनके काव्य मे काव्यालकार-सूत्र ही कही प्रतिष्ठा पाता है—वक्रोक्ति में इन कवियो को आस्था नही, रीति का इन्हें ज्ञान नही, इनके काव्य मे कविता के रस के स्थान पर 'राम-रस' ही मिलता है। तब इन सतो के काव्य का शास्त्रीय विवेचन न कर के यदि हम उसका अध्ययन उसकी शक्ति, प्रभाव और प्रेरणा को आधार मान कर करे तो अधिक उपयुक्त होगा। इन कवियो की रचनाओ मे न तो सस्कृत की तत्सम पदावली है जिसके आधार पर भापालालित्य की विवेचना की जाए—भाषा सधुक्कडी या खिचडी है, और न काव्यगत कोई अर्थ-चमत्कार ही है, न छन्दो की योजना ही निखरी और कसी हुई है, छन्दो के लक्षणो के आधार पर जिन छन्दो का प्रयोग इन सत कवियो ने किया है वे या तो शिथिल है या फिर भ्रष्ट हैं। इस अनेकमुखा सौन्दर्य के अभाव के रहते हुए भी सतकाव्य मे न जाने कौनसा ऐन्द्रजालिक सम्मोहन है जिसकी छाया मे लोक-हृदय उसमे अविकल सतृप्ति एव तोष का अनुभव करता है, न जाने अपने किस जादू से इन सतो की कविता लोक-चित्त की युगानुगत तृषा बुझाती चली आ रही है। कविता के नाना प्रयोजनो एव लक्ष्यो को यदि हम दो शीर्षको में समेट ले, पहला जन-मानस परिष्कार, दूसरा भाषा का सस्कार—तो हमारी निश्चित धारणा है कि इन दोनो प्रयोजनो की अखण्ड सिद्धि सत-काव्य मे उपलब्ध होती है। एक ओर इस सत-काव्य ने लोक-मानस की विकृतियो, सकीर्णताओ, कुविचारो का निरसन किया और दूसरी ओर शब्दो के सहज स्वाभाविक प्रयोगो द्वारा हिन्दी भापा की अभिवृद्धि मे सहयोग प्रदान किया। हिन्दी खडी बोली का अद्यतन विकसित सुगठित रूप इसी सत-काव्य की देन का सुफल है। सामान्यत किसी वस्तु मे मिश्रण उसके मौलिक स्वरूप को नष्ट करता है, किन्तु इन सतो की भापा की खिचडी नि सदेह जन-साधारण एव अल्पज्ञ जनो की सुबोध भाषा बन गई। वह निर्बल अस्वस्थ मानस का भी पाचक आहार बन गई। क्योकि सस्कृत के आचार्यो की भापा के गरिष्ठताजन्य अपच की व्याधि से लोक-मानस पीडित था। उसकी पाचन-शक्ति की सवृद्धि मे सतो की यह खिचडी अतीव गुणकारी सिद्ध हुई। जिस जीवन-दर्शन को जटिल, दुर्बोध एव सामान्य

जन-दुर्लभ होने के कारण केवल समाज के इने-गिने विद्वान् ही समझ-बूझ सकते थे, उसी जीवन-दर्शन को इन सतो की साखियो मे गली-कूचे की मिट्टी आनन्दित होकर गाने लगी। इस सतवाणी मे श्रोताओ को कर्णकुहर-वेधक सगीत तो मिला ही साथ ही पाठको को युग-युग तक विचारमग्न बनाये रखने वाला दर्शन भी मिला। दर्शन और सगीत अपने आग्रहो का विसर्जन कर जब एक दूसरे मे एकाकार लय हो जाते है तभी काव्य-रचना निष्पन्न होती है। सगीत और दर्शन अपनी-अपनी सीमाओ की कारा के विवश वन्दी है। सगीत की सत्ता केवल वर्तमान मे है, दर्शन की भविष्य मे। तात्पर्य यह है कि सगीत का आनन्द तभी तक है जब तक श्रोताओ के कानो मे स्वर-लहरी गूजती रहे—जो निरतर सम्भव नही है। अत सगीत की स्वर-लहरी वर्तमान मे ही सीमित है—दर्शन मे प्रस्तुत किये गये विचार वर्तमान की कुक्षि मे जन्म लेते है किन्तु उन विचारो की सम्भावनाए सदैव भविष्य के गर्भ से होती हैं। जो विचार-दर्शन भविष्य से मुह मोड लेता है वह अतीत की समाधि मे जड बन कर गड जाता है। इस प्रकार दर्शन की उपपत्तिया भविष्य-सापेक्ष्य हैं। किन्तु काव्य वह विभूति है जिसका अतीत वर्तमान के वातायनो से झाकता हुआ भविष्य का दर्शन करता है—तब हम कह सकते है कि काव्य की निष्पत्ति त्रिकालातीत अथवा त्रिकालाबाधित है। कविता वर्तमान की सुषुप्तावस्था मे भविष्य के स्वप्नो को साकार करती है। सतकवियो की वाणी मे आधुनिक आलोचको की यह मान्यता कि भाषा विचारो का वाहन है पूर्णतया सत्य उतरती है। किसी कवि की भाषा यदि साधारण-जन समाज की दैनदिन वाणी मे समाहृत हो गई तो उस कवि का काव्य दुर्दम्य सत्व सम्पन्न होकर काल की पथरीली राह मे भी अपनी भाषा का रथ सँवारे अनन्त गन्तव्य की ओर अग्रसर होता जाता है। यदि ऐसा न हुआ तो वह वाहन काल की लम्बी पगडडियो के कठोर धरातल से टकरा कर टूट जाता है—विचूर्ण हो जाता है। अगणित कवियो की रचनाओ को मृत्यु के गाल मे अकाल जाना पडा—उसका यह भी एक प्रमुख कारण रहा है।

महात्मा रज्जब जी की साहित्य-सामग्री पर विश्लेषणात्मक ढग से विचार करने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उसका सर्व प्रथम विषय-गत श्रेणी-विभाजन कर लें—और इस दृष्टि से हम उसका विषय-विभाजन निम्नाकित श्रेणियो में करेंगे—

(क) गुरु शिष्य महत्त्व निरूपण,

(ख) साधु-असाधु भेद का चित्रण,

(ग) पक्षातीत तथा बाह्याडम्बर-विहीन मध्यमार्गी सहज साधना-का प्रतिपादन,

(घ) मानव मन की नाना अवस्थाओ का वर्णन, और

(ङ) जीव-माया-ब्रह्म का विश्लेषण

रज्जब जी की दोनो कृतियाँ—रज्जबबानी तथा सर्वंगी की सामग्री विषय की दृष्टि से प्राय एक समान है—उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन दोनो कृतियो की सामग्री पर पूर्णतः सार्थक सिद्ध होता है। परन्तु सर्व प्रथम यहा हम रज्जब जी की मौलिक रचना रज्जबवानी की सामग्री पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेगे।

गुरु शिष्य महत्त्व निरूपण—रज्जब जी अपनी बानी मे सब से पहले गुरु दादूदयाल का यह श्लोक उद्धृत करते हैं जो दादू विरचित दादू बानी के आरम्भ में दिया है —

दादू नमो निरजन, नमस्कार गुरु देवतः ।
वन्दन सर्व साधवा, प्रणाम पारगत. ।।

इसके उपरात साखियो में गुरु पीर, तथा समस्त आत्माओ, अक्षरधरो (विद्यावान्) साधुजनो और कवियो की अनाम वदना करते हैं, उनसे अपनी रचना सम्वधी भूलो की पूर्व क्षमायाचना करते हैं—

सिजदा पूरे पीर को, गुरु ग्यारहि डडौत ।
रज्जब मय भगवत के, सर्व आत्मह नौत ।।
गुरु आखिर धर साधकवि, सबनि करौं अस्तुति ।
रज्जब की चकचूक परि, खिमा करौ ह्वै सुति ।।
—अस्तुति को अग १—३

रज्जब जी चूक पड जाने की सभावनाओ पर विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि शरीर और शव्द की गति समान है। जिस प्रकार शरीर (मनुष्य) तीन गुणो से सयुक्त है, त्रिविध भाति का अर्थात् भला, वुरा और वीच का होता है उसी प्रकार शव्द भी भला, वुरा और दोनो के वीच का हो सकता है अत चूक पड जाना सभव है, उसके लिये किसी को दोष नही देना चाहिये—

सरीर सवद की येक गति, त्रिविध भांति तन होय ।
भले वुरे विच वप वयन, दोप न दीजे कोय ।।
— अस्तुति को अग, ४

इसी गुरुवदना प्रसग मे वे अपने गुरु दादूजी के दर्शन और सामीप्य लाभ हो जाने पर कहते हैं कि मुझे प्रसिद्ध महात्मा दादूजी गुरु के रूप मे प्राप्त हो

गये जिन्होने माया और ब्रह्म का सारा व्यौरा तथा उसकी समस्त विधियो का रहस्य बता दिया—

रज्जब को अज्जब मिल्या, गुरु दादू परसिद्ध।
व्यौरनि माया ब्रह्म की, सकल बताई विद्ध।।

गुरुदेव का अंग, साखी ८

रज्जब जी ने भेट के सवैयो में अपने गुरुदेव के प्रायः समस्त गुणो का उल्लेख किया है—

भगवा जु भावै नाहिं विभूति लगावै नाहिं पाखण्ड सुहावै नाहिं ऐसी कुछ चाल है।
टीका माला मानै नाहिं जैन स्वाग जानै नाहिं परपच बखानै नाहिं ऐसो कछू हाल है।।
सींगी मुद्रा सेवै नाहिं बोधविधि लेवै नाहिं भरम दिल देवै नाहिं ऐसा कछू ख्याल है।
तुरकी तो खोवि गाड़ी हिन्दुन की हद्द छाडी अन्तरि अजर माडी ऐसो दादू लाल है।।

दादू जी मे सतसुलभ उदारता थी, उनके सान्निध्य मे आने वाले सभी सत पूर्ण सुख सतोष का अनुभव करते थे—

दादू दरिया राम जल, सकल सत जन मीन।
सुख सागर में सब सुखी, जन रज्जब जो लीन।।

भेट का अग, साखी ७

ऐसे सर्वगुण साधना-सम्पन्न गुरु के शरीर-निपात पर इसी कारण रज्जब जी को घातक क्षोभ हुआ था—उन्होने अपने क्षोभ और विवशता को एक सवैया मे इस प्रकार व्यक्त किया है—

दीन दयाल दयो दुख दीननि दादू सी दौलत हाथ सो लीन्ही।
रोस अतीतन सौं जु कियो हर रोजी जु रकन की जग छीनी।।
गरीब निवाज गरीब हते सब सतन सूल अती गति दीन्ही।
हो रज्जब रोय कहै यहु काहि, त्राहि जु त्राहि कहा यहु कीन्ही।।

दादू जैसी विभूतियो के चले जाने पर अनासक्त विरक्त रज्जब जी जैसे महात्मा को भी रो कर त्राहि-त्राहि करना पडा। गुरु दादू पर रज्जब जी की

विशेष— यह खण्ड हम रज्जबवानी की उस हस्तलिखित प्रति से उद्धृत कर रहे हैं जो हमें दादू महाविद्यालय जयपुर के सग्रह से प्राप्त हुई थी तथा अन्य हस्तलिखित प्रतियों में उसे प्रमुख आधार बना कर रज्जबवानी का सम्पादन हमने हाल ही में किया है। इस अध्याय में तथा अगले अध्यायों में भी रज्जबवानी सम्बन्धी समस्त उद्धरण उसी हस्तलिखित प्रति से हम प्रस्तुत करेंगे—अतः अगले अध्यायों में इस प्रति का स्थान-स्थान पर उल्लेख करने की आवश्यकता न होगी, केवल हम अगों की सूचना देंगे।

अगाध श्रद्धा थी—वे अपने शिर पर गुरु का वरद हस्त प्राप्त कर तथा हृदय में त्रिभुवन नाथ को निवास देकर निर्भय हो गये थे—

गुरु दादू का हाथ सिरि, हिरदय त्रिभुवन नाथ।
रज्जब डरिये कौन सो, मिल्या सहाई साथ॥
गुरुदेव का अग, साखी २५

रज्जब जी की दृष्टि मे साधना के मनोवाछित गन्तव्य तक पहुचने के लिये गुरु मार्ग-निर्देशन का कार्य करता है—विना मार्ग के कोई कही नही पहुचता। इसी प्रकार विना गुरु के भी गमन सभव नही है—

गुरु विन गम्य न पाइये, समुझि न उपजे आइ।
रज्जब पथी पथ विन, कौन देसावर जाइ॥
गुरुदेव का अग, साखी ३२

जिस प्रकार विछुडे हुये चक्रवाक के युग्म को सूर्य आकर मिलाता है वैसे ही आत्मा और परमात्मा के विच्छेद का उच्छेदन कर गुरु दोनो का मिलाप कराता है—

राजत आतम राम विच, गुरु ग्याता सु दलाल।
ज्यों चकवा चकवी मिले, सूरजि काटे साल॥
गुरुदेव का अग, साखी ५०

इसी गुरु शिष्य प्रसग में अधिकारी गुरु और अधिकारी शिष्य के लक्षणो का वर्णन भी किया गया है। गुरु अथवा शिष्य में यदि किसी एक में भी पात्रता नही है तो दूसरे पक्ष की विशेपता का कोई प्रभाव नही पडेगा। गुरु तो उस चदन की भाति है जो जड शिष्य रूपी काठ को स्पर्श मात्र से अपना जैसा चदन वना देता है। परन्तु यदि शिष्य वास की तरह गाठ वाला है तो वेचारा गुरु क्या करेगा—

सतगुरु, चदन वावना, परस्यो पलटे काठ।
रज्जब चेला चूक में, रह्या वांस के ठाठ॥
गुरु का अंग, साखी १४८

यद्यपि गुरु कल्पवृक्ष है तो भी यदि शिष्य उससे इच्छा न व्यक्त करे तो वह कैसे देगा—

कल्पवृक्ष गुरु को कहा, जे कलपे नहि दास।
जन रज्जब रुचि प्यास विन, निहचै जाइ निरास॥
गुरु का अग, साखी १५

प्रसिद्ध गुरु पारस मिल भी जाय तो क्या ? यदि शिष्य लोहे के स्थान पर ककड़ बना है तो पारस का क्या प्रभाव होगा, क्योकि पारस तो केवल लोहे को कचन में परिणत कर सकता है ।

गुरु परसिध पारस मिल्या, सिख ही खूटा जोइ ।
रज्जब पलटि लहे सब, ककर का क्या होइ ।।
गुरु का अग, साखी १४७

चेतना-विहीन शिष्य तो उस रहट की भाति है जिसमे घरिया नही है । रहट कितने ही चक्कर क्यो न लगाये जल नही आएगा । उसी प्रकार ऐसे शिष्य के लिये कितने भी प्रयत्न करे, सब निष्फल रहेगा—

विण घड़ि माला रहट की, जल आवै कछु नांहि ।
त्यों रज्जब चेतन विन चेला, रीता सगति मांहि ।।
गुरु का अग, साखी १५३

यदि कही गुरु शिष्य दोनो ही ज्ञान-हीन हुये तो फिर दोनो का एक दूसरे के साहचर्य से उसी प्रकार विनाश अवश्यभावी है जैसे बास वृक्ष की दो डाले एक दूसरे से मिल कर घर्षण करती है तथा आग मे जल कर भस्म हो जाती हैं—

भूखे गुरु सिख यों मिले, ज्यूं साखी बस हार ।
जन रज्जब बोलत घसत, दोइ जरि वरि भये छार ।।
गुरु सिख निर्गुण का अग साखी १७४

परन्तु यदि शिष्य मे चेतना है और गुरु भी सुयोग्य और सिद्ध है तो फिर शिष्य का मन सद्गुरु के बाण से विद्ध हो कर रहेगा और सद्गुरु वही सच्चा कमनैत कहा जायगा जिसका बाण निशाने पर बैठ जाय—

सदगुरु तीरदाज है, सेवक मन नीसान ।
रज्जब गुरु कमणैत सो, जाका बैठा बाण ।।
गुरु सिख निदान निरनै का अग, साखी २७

गुरु का सिद्ध होना तभी प्रमाणित माना जायेगा जब वह शिष्य की जड़ता का निदान उसी प्रकार करले जैसे एक पहुचा हुआ वैद्य रोग का निदान कर औषधि देता है और देते-देते रोगी की व्यथा दूर हो जाती है—

रोगी वैद पिछाण ले, बूटी सत्य सुजाण ।
विथा थिलै होय परसेतै, रज्जब सो परिवाण ।।
गुरु सिख निदान निरनै अग, साखी ३०

सत्गुरु चद्रमा है, चेला चकोर है । जिस प्रकार चकोर चद्रसुधा का पान कर अगार भक्षण करता है उसी प्रकार चेला सतगुरु की शीतल वाणी के सहारे प्रचण्ड इन्द्रियो का भक्षण करता है—

रज्जब महत मयक है, चेला होइ चकोर।
इन्द्री गिलै अगार ज्यू, अगनि करै नहि जोर।।
गुरु सिख निदान निरनै का अग, साखी ४४

गुरु ब्रह्म-विभूति का कोषाध्यक्ष है, बिना उसकी कृपा के उसमे हाथ नही डाल सकता—

औजूद खजाना अलहै का, जर अन्दर अरवाहि।
रज्जब पीर खजानची, दस्त न सकई वाहि।।
गुरु सिख निदान निरनै का अग, साखी ५०

गुरुमुखी शिष्य गुरु के कठोर उपदेशो और आदेशो की चोट खाकर उसी प्रकार सुलक्षण तथा भला बन जाता है जैसे कुम्भकार की चोटे खा कर मिट्टी का घडा सुन्दर-सुडौल बन जाता है—

सेवक कुम्भ कुभार गुरु, घडि घडि काढै खोट।
रज्जब मांहि सहाय करि, तब बाहै दे चोट।।
गुरु-मुख कसौटी का अग, साखी २

जिस प्रकार धोबी की धमस सह कर वस्त्र निर्मल हो जाता है उसी प्रकार जिज्ञासु शिष्य गुरु अथवा पीर की मार खा कर निर्मल चित्त हो जाता है।

ज्यों धोबी की धमस सहि, ऊजल होइ सुचीर।
त्यू सिख तालिब निर्मल, भार सहै गुर पीर।।
गुरु कसौटी का अग, साखी ६

इस प्रकार अनेकानेक रूपको, उपमानो और उदाहरणो द्वारा रज्जब जी गुरु शिष्य के महत्त्व का निरूपण करते हैं। इस प्रसग के अत मे वे आज्ञाकारी शिष्य और आज्ञाभगी शिष्य के लक्षण और अन्तर की व्याख्या करते हैं।

जीव माया ब्रह्म

जीव के हृदय मे ब्रह्म से मिलने की पीडा उत्पन्न होनी चाहिये। बिना उस पीडा और तडपन के वह 'लाल' अप्राप्य रहेगा। दीनदयाल का दर्शन तभी होगा, जब साधक के हृदय मे उसके लिये दर्द पैदा हो जाय।[1] ब्रह्माग्नि तो वाडवाग्नि की भाति प्रचण्ड होती है, वह सदैव शरीर रूपी जल को जलाती रहती है। यदि शरीर जल से बुझ जाय तो उस प्रेमाग्नि को कच्चा मानना

---

१ – ब्रह्म अगनि का अग, साखी १

दरद बिना क्यों देखिये, पाम न दीन दयाल।
रज्जब बिरह बियोग बिन, कहा मिलै सो लाल।।

चाहिए ।[1] यदि दीदार का दरद नही है, प्राणी उसका तालिब नही है, यदि उसके वियोग का अनुभव भी न हो तो उस प्रियतम (ब्रह्म) का किस प्रकार मिलन सम्भव है ।[2] नयनो मे नाह (ब्रह्म) का स्नेह न हो और न उसकी ओर कभी दृष्टि ही जाती हो तो फिर राम का साक्षात्कार किस प्रकार हो सकता है । उसके लिये तो हृदय मे उत्कट जिज्ञासा होनी चाहिये ।[3] जीव को सदैव भगवान से भय मानना चाहिये । साधक यदि निर्भय हुआ तो मिलने में न केवल कठिनाई होगी प्रत्युत साधना के उच्च धरातल से साधक उसी प्रकार पतित हो सकता है जैसे नटिनी भयभीत (सावधान) होकर रस्से पर खडी होकर नाचती है किन्तु निर्भय (असावधान) होने पर वह पृथ्वी पर गिर जाती है ।[4]

निर्भय प्राणी निर्लज्ज एव निश्शक होने के कारण पूरी तरह से अपराध करता है । वह ससार से तो सम्बन्ध जोडता है किन्तु साधु-महात्माओ की सगति छोड देता है ।[5] रज्जब जी जीव के कर्तव्य का निर्देश करते हुए कहते हैं कि जीव को चाहिये कि माया को छोड कर ब्रह्म का भजन करे—यही सब से बडा ज्ञान है और इसी से मूर्ख भी[6] ज्ञानी हो सकता है । इस मन को उन्मनी मे

---

१ – ब्रह्म अगनि बडवा अनल, तन तोयें फू खाहि ।
इसक आगि काची रहे, जो बप वारि बुझाहिं ॥
ब्रह्म अगनि का अग साखी ८

२ – दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव ।
रज्जब विरह वियोग विन, कहां मिले सो पीव ॥
विरह विभग अग, साखी १

३ – नैनो नेह न नाह का, वहि दिसि दृष्टि न जाहि ।
रज्जब रामहि क्यों मिलै, तालिब नाहीं माहि ॥
वही, साखी ३

४ – निरभै नटणी पुहम परि, वरव चढ़ै भयभीत ।
त्यू रज्जब चढ़ि सुरति पर, भै मिलि होइ अतीत ॥
भयभीत भयानक का अग ।

५ – नीडर निलज निसक ह्वै, पूरि करैं अपराध ।
जन रज्जब जग सौं रचै, परिहरि सगत साध ॥ २०
भयभीत भयानक का अग ।

६ – माया तजि ब्रह्महि भजै, यैते को सब ज्ञान ।
रज्जब मूरिख चतुर ह्वै, मन उनमन लै सान ॥ १३०
उपदेश चितावनी को अग ।

तन्मय कर देना चाहिये। जीव को मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध होकर तथा माया का परित्याग कर राम का भजन करना चाहिये। ससार मे जीव के लिये इतना ही करणीय है।[१] रज्जब जी जीव को शिक्षा देते हुये कहते हैं कि ऐ जीव ! रकार (राम) का भजन कर, अलफ (भगवान) का आराधन कर, इस जगत मे इसके समान कोई ध्यान नही है।[२] यह जीवन जल-तरग की भाति बनता-मिटता रहता है। मूर्ख, साधना से प्रमाद क्यो करता है। राम को सभाल अन्यथा बाद मे पश्चाताप करना पडेगा।[3] यह ससार बादलो के समान अस्थायी है, बुदबुद की भाति क्षणभगुर है और जल-फेन की भाति अस्तित्वविहीन है। जीव की चारो योनियो मे ससार का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, इसमे किंचित् भ्रम नही।[४]

रज्जब जी जीव को अपनी शक्ति के अनुसार ही साधना करने का उपदेश करते हैं। जीव मे जितनी समाई, सामर्थ्य और शक्ति होगी वह उतनी ही साधना कर सकता है। यदि किसी प्राणी मे कम शक्ति है तो उसे अपनी शक्ति के अनुसार ही साधना करने से पूरा फल प्राप्त होगा। यदि किसी मे अधिक शक्ति (उनवान) है तो उसे भी अपनी पूरी सामर्थ्य से साधना करने पर ही पूरा फल मिल सकता है। अजरी (मक्खी) तथा अनल (आकाश का पक्षी) की शक्तियो मे अन्तर है, अत दोनो की उड़ान मे भी अन्तर स्वाभाविक है, किन्तु यदि दोनो अपनी अपनी पूरी शक्ति से उडते है तो दोनो अपने उद्देश्य मे सफल हो जाते हैं।[५]

माया

आत्मा और परमात्मा के बीच कनक और कामिनी प्राचीर बन कर अडे

---

१ – मन वच क्रम तिरसुद्ध ह्वै, माया तजि भजि राम।
जन रज्जब ससार में, येता ही है काम॥
उपदेश चितावणी का अंग, साखी १३१

२ – राम करहु रकार सौं, अलफ अराधो मर्न।
रे रज्जब ससार में, और न ऐसा धन॥
वही — १५०

३ – जल तरग को जीवणो, गाफिल कहा गवांर।
पीछे ही पछिताहुगे, रज्जब राम सभार॥
वही — १६१

४ – रज्जब बादरा बुद बुदे, तीजे जल के भाग।
चतुर खानि चख देखिये, है नहीं भ्रम भाग॥
वही — १७०

५ – रज्जब अजरी अनल का, एक उडान न होइ।
त्यू मुक्त सुमिरण समं, चित उनमान सु जोइ॥
उनमानिक अग — ४

है। यही दोनो के मध्य आवरण है, यही ओट है।[1] माया ऐसी विलक्षण है कि उसके मिलन पर भी कष्ट होता है, और विछोह पर भी दुख मिलता है। ठीक उसी प्रकार जैसे अनार मे वित आने पर (पकने पर) उसे फटना पडता है, तथा सरोवर के नीर समाप्त हो जाने पर उसे भी विदीर्ण होना पडता है। मायजन्य लाभ और हानि दोनो दुखदायी होते हैं।[2] जिस माया ने बडे-बडे ऋषियो, मुनियो, सिद्धो और साधको का भक्षण कर लिया उस पर विश्वास कर उस से स्नेह नही करना चाहिये।[3] इसमे कोई सन्देह नही कि यह सारा ससार माया से व्याप्त है। अतः इस ससार की किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का माया से पृथक् रहना तो सम्भव नही है। परन्तु हरिगुण पर आस्था रखने वाला व्यक्ति माया के बीच रहते हुये भी उससे उसी भाति निर्लिप्त रहता है जैसे समुद्र मे निवास करने वाली मछली उसके भीतर प्रतिबिम्बित सूर्य से कभी नही जलती।[4] माया स्वयं तो मौन रहती है, कुछ बोलती नही, किन्तु इसके साहचर्य मे सभी लोग खूब बोलते हैं।[5] कहने का आशय यह है कि स्वय जड होते हुये भी दूसरो को अपने प्रभाव से चेतन बनाये रहती तथा उनसे नाना प्रकार के अपकृत्य कराती रहती है। यह माया ससार मे सबसे अधिक प्रबल है। इसने ससार के चौरासी लाख योनियो के प्राणियो को अपने दास-दासी बना रक्खे हैं। कोई ऐसा नही है जो माया के प्रभाव से मुक्त रह सका हो।[6]

माया का पोषण मन के द्वारा होता है, यही उसे स्थान देता है। मन ही माया का आधार है। जब मन को माया मिल जाती है तो मनुष्य शरीर और

---

१ – माया का अग—

रज्जब आतम राम विचि, कनक कामिनी कोट।
यहु आड़ा अंतर इहै, यहु पड़दा यहु ओट॥ १

२ – ,, जथि अनार वित आये फटे, नीर गये पेरि फाटे ताल।
त्यू रज्जब सम्पत्ति विपत्ति, मन कू करै विहाल॥ ६

३ – ,, जो माया मुनियर गिले, सिध साधक कू खाय।
ता माया सो हेत कर, रज्जब क्यू पछिताय॥ ११

४ – ,, ज्यों सूरिज दीसै समुद मैं, मीन मरै नहिं कोय।
त्यू रज्जब माया मगन, हरिगुन लिपत न होय॥ १४

५ – ,, माया मुख बोले नहीं, सदा लिये चुप चार।
रज्जब बकते सब फिरै, इस मौनणि की लार॥ २०

६ – ,, चेरी के चेरे किये, चौरासी लख जत।
तो रज्जब कहि कौन है, शक्ति समान महत॥ १७

मन दोनो से अन्धा हो जाता है। माया के दूर हो जाने पर ही उसे सब कुछ दिखाई देने लगता है।[1] माया के ससर्ग से ही मन सासारिक भोगो की आकाक्षा करने लगता है तथा माया के दूर हो जाने पर ही मन ऐहिकता से मुक्त होकर योग मे प्रवृत्त होता है।[2] मन रूपी मोतिया (कुत्ता) तृष्णावश द्वार-द्वार पर चक्कर लगा रहा है। जब मनुष्य के अतर मे इस प्रकार की श्नानवृत्ति जागृत है तो राम से उसका मिलाप कैसे सम्भव हो सकता है?[3] मन की ऐहिक वृत्ति के कारण श्रेष्ठ कल्याणकारी वस्तुयें उसे नही भाती हैं और विनाशकारी वस्तुओ की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। अमृत का परित्याग कर वह विष-पान उसी प्रकार करता है जिस प्रकार कुत्ते और कौए पक्वान्न (पूड़िया) आदि को त्याग कर हड्डियो के खाने मे रत रहते हैं।[4] इस मन की कुटिल गति का भेद बड़े बडे ब्रह्म-ज्ञानी नही जान पाते, फिर अचेत, अज्ञान, जड प्राणी क्या जान सकते हैं?[5] मन को किस प्रकार वशीकृत कर के रखा जाय—उसमे अनन्त ईप्साए हैं—एक इच्छा का दमन कीजिये तो सहस्र इच्छाये मन मे उत्पन्न हो जाती है।[6] मन और इच्छा का ऐसा दृढ ग्रथि-बन्धन है कि इनको एक स्थान पर रोक कर रक्खा ही नही जा सकता—हां, एक ब्रह्म ही है जो इन्हें रख सकता है, अन्य कोई उपाय नही।[7] रज्जब जी यह सारी स्थितिया कच्चे मन की बताते हैं। उनका विचार है कि मन के पक्के हो जाने पर किसी प्रकार की चंचलता

---

१ – मन का अग—

जब मन कू माया मिलै, तन मन आधा होय।
रज्जब माया चलि गई, सब कुछ देखै सोय॥ ५

२ – ,, मन कू माया मिलै, तब जीव चाहै भोग।
रज्जब माया चलि गई, तब जीव उपज्वा जोग॥ ८

३ – ,, मन मोतिया घर-घर फिरै, अस्थिर बैठे नांहि।
रज्जब रामहि क्यों मिले, कूकर की मति मांहि॥ १०

४ – ,, कूकर काक करक परि, पाक पूरि तजि जांहि।
त्यू रज्जब मन की विरति, तजि अमृत विष खांहि॥ १२

५ – ,, रज्जब मन के पेंच कू, लखै न मुनियर प्राण।
तो क्या जाने जीव जड, सदा अचेत अयाण॥ २७

६ – ,, रज्जब राखै कोण विधि, मन में मौज अपार।
एक मौज जे मारिये, तौ उठि उदै हजार॥ ३६

७ – ,, मन मनसा जोडा चपल, राख्या रहै न ठौर।
बांधे बधै सु ब्रह्म पै, आन उपाव न और॥ ४६

नही रहती है। इसके लिये वे अनेक सिद्ध उपमान प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि यह मन बबूल के वृक्ष की भाति है, जिस प्रकार बबूल जब तक कच्चा रहता है तब तक उसमे काटे रहते हैं किन्तु उसके पक जाने पर समस्त काटे दूर हो जाते है। उसी प्रकार मन के कच्चे रहने तक ही उसमे वासनात्मक चचलता रहती है। किन्तु उसके परिपक्व हो जाने पर वह चापल्य-मुक्त होकर स्थिर हो जाता है।[1] मन की कच्ची और पक्की अवस्था को स्पष्ट करने के लिये रज्जव जी ने अत्यंत सजीव उदाहरण प्रस्तुत किया है। वे मानते है कि जिस प्रकार हाडी मे पकने वाला कण जब तक कच्चा रहता है तब तक बडी उछलकूद करता है किन्तु जब वह पक जाता है तो शान्त और स्थिर हो जाता है, उसी प्रकार मन भी पकने पर शान्त और स्थिर हो जाता है।[2] रज्जब जी ब्रह्म को आकाश की भाँति अनन्त और असीम मानते हैं। ब्रह्म और आकाश दोनो का आदि-अत-मध्य नह है। उसकी खोज करने वाले सब; थक गये किन्तु पार न पा सके।[3] वह परब्रह्म सर्व व्याप्त एव प्रत्येक वस्तु मे प्रतिबिम्बित है। आत्मा आती-जाती है किन्तु उस अनन्त का अंत नही मिलता। जिस प्रकार दर्पण मे आकृति प्रतिबिम्बित होती है किन्तु प्रतिबिम्ब को प्राप्त करना कठिन है—यही स्थिति ब्रह्म की है।[4] पचतत्वो द्वारा पिण्ड (शरीर) की रचना उसी राम ने की है—इस पिण्ड मे उसने प्राण समाविष्ट किये हैं। राम की इस विलक्षण रचना को देख कर बडे-बड़े साधक और सिद्ध हैरान हैं।[5] वह ब्रह्म न वुद्धि से अवगम्य है और न वाणी का ही विषय है कि उसका वर्णन किया जा सके। ज्ञान और वाणी दोनो उसके निरूपण में

---

१ – मन का अग—

यहु मन पेड़ बबूल का, कांचा कांटहु पूरि।
रज्जब पाका जाणिये, कुलि कांटे जब दूरि॥ ६२

२ – ,, थकित होत पाका सुमन, ज्यू कण हाड़ी माँहि।
काचा कूदै ऊछलै, निहचल बैसे नाँहि॥ ६६

३ – हैरान का अग—

इक साई अरु शून्य के, आदि-अत मधि नाँहि।
सोधनहारे सब थके, जन रज्जब ता, माँहि॥ ३

४ – ,, अन्त न लहै अनंत का, आतम आवै जाहि।
ज्यों रज्जब मुख मुकर में, प्राणी पावै नाँहि॥ ६

५ – ,, पंच तत्व सौं प्यण्ड करि, माहि समोया प्रान।
रज्जब रचना राम की, सिध साधक हैरान॥ ८

उसी प्रकार हतचेत हो गये है जैसे किसी ठग के विषैले लड्डू खाकर कोई पथिक अचेत हो जाय।[1] बडे-बडे ज्ञानियो ने उस ब्रह्म पर विचार करने की चेष्टा की किन्तु बेचारे थक गये—वे तो ज्ञानी होकर भी अज्ञानी बन गये। वेद और कुरान भी उसका मूल्याकन न कर सके, रज्जब जी यह देख कर आश्चर्यचकित हो जाते है।[2] वह अकल है, कोई कला का आकलन नही कर सकती। वह निर्गुण है, कोई गुण उसे नही पकड सकता। उसके अनुसन्धान मे जीव के सभी कृत्य असफल है, वह अपनी ही कृपा से स्वयमेव प्रकट होता है।[3] उस ब्रह्म के सम्बन्ध मे जितने भी आत्मज्ञानी कुछ विचार प्रकट करते है वे अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कहते हैं। वह ब्रह्म तो अकल और विलक्षण गति वाला है। उसके वास्तविक स्वरूप को किसी ने नही समझा।[4] उस ब्रह्म के साक्षात्कार का केवल एक उपाय है कि जीव अपनी सारी ऐन्द्रिक चचलता का परित्याग कर शान्त, निश्चल और स्थिर हो जाय क्योकि वह ब्रह्म स्वयं अचचल है। अचचल ही अचचल मे रह सकता है और चचल चचल मे। रज्जब जी इस युक्ति को ही सार्थक एव विश्वसनीय बताते हैं।[5]

साधु-असाधु, सयाण तथा सेवा सुमिरन का महत्त्व

साधु के लक्षणो का विश्लेषण करते हुये रज्जब जी कहते है कि जो व्यक्ति आत्मा को परमात्मा और साधु के अतिरिक्त अन्य कही नही बाधता वही पूर्ण अगाध बुद्धि वाला है तथा सत है।[6] साधु पुरुष में परमात्मा के प्रति एक रूप

हैरान का अग—

१ – ब्रह्म न मावै बुद्धि में, वरन्या बैन न जाय।
ज्ञान गिरा गहले हुये, ठग के लाडू खाय॥ १३

२ – वेत्वा थकहि विचार करि, दाने ह्वै नादान।
वेद कुरान न कीमति पावहि, रज्जब है हैरान॥ २५

३ – अकलि कला कलै नहि कोई, निरगुण गुण न गहावै।
रज्जब जीव कृत्त सब थाके, मिहरि आपणी आवै॥ २६

४ – आतम जे कुछ ऊचरै, सब आपण उनमान।
रज्जब अज्जब अकल गति, सो किनहू नहि जान॥ ३८

५ – थकित निहचल का अग—
निश्चल में निश्चल रहै, चचल चचल माहि।
जन रज्जब जाणी जुगत, यामें मिथ्या नाहि॥ १०

६ – साधु परीक्षा का अग—
आतम कहीं न बंधई, बिन साई अरु साध।
जन रज्जब ता संत की, पूरण बुद्धि अगाध॥ ६

प्रीति व लगन होती है। वह जागृति, स्वप्न, और सुषुप्ति तीनो मे एक सा रहता है।[१] जब कि सामान्य प्राणी सुपुप्तावस्था मे अचेत रहता है और अविद्या की निद्रा मे अचेत रहने से ही प्राणी चूक जाता है। अत जो सुषुप्ति मे भी चैतन्य को बनाये है वह श्रेष्ठ महात्मा है।[२] साधु-असाधु का अतरब तलाते हुये रज्जब जी कहते है—सर्वगुणसिद्ध साधु होता है और गुणो मे असिद्ध असाधु होता है। यही साधु-असाधु की पूर्ण परीक्षा का आधार हो सकता है।[३] साधु और असाधु जल और पृथ्वी की भांति हैं। जल पुन आकाश मे पहुच जाता है किन्तु पृथ्वी आकाश मे नही जा सकती है।[४] साधु-असाधु का अतर स्पष्ट करने के लिये रज्जब जी ने अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। उनका मत है कि बाहर से साधु और असाधु एक-से लक्षित होते हैं, किन्तु भीतरी गुणो की परीक्षा लेने पर सर्वथा भिन्न सिद्ध होते हैं—उसी प्रकार जैसे सोने मे पीतल का अश मिला दीजिये तो बाह्य रग में दोनो एक-से दीख पड़ेंगे, परन्तु निकष पर परीक्षा करने से दोनो की भिन्नता प्रकट हो जायेगी।[५] यो तो गन्ने का रस और जल का एक ही रूप होता है, परन्तु उनका पान करने पर दोनो मे अन्तर प्रकट हो जाता है।[६] ठीक यही स्थिति साधु और असाधु की है। औलिया (महात्मा) ससार के विपरीत चलता है तथा संसारी व्यक्ति सीधी गति चलता है। यही इन दोनो मे अतर है।[७] रज्जब जी ने साधु को ब्रह्म से अधिक महिमाशाली बताया है। वे

---

१ – साधु परीक्षा का अंग—

ज्यू जागत त्यू सोवते, सुपिने माँहि सु होय।
रज्जव पारिख प्रीति की, लगन कहावै सोय॥ १८

२ – ,, अचेत अवस्था नींद नर, यहु चूकण की ठौर।
पै सूतो स्यावति रहै, सो रज्जब सिर मौर॥ १७

३ – साधु असाध परीक्षा का अग—

सवगुण सधहित साधु है, अनसाधे सु असिद्ध।
रज्जब पाई प्राण ने, पूरी पारिख लद्ध॥ १

४ – ,, रज्जब पानी पृथ्वी पर पहुचा, पृथ्वी पाणी माँहि।
ज्यू सलिल समाना शून्य में, त्यू अवनि अकाश न जाहि॥ ८

५ – ,, साधू सोने में जड्या, खोटा पीतल प्रान।
जन रज्जब भोले बिकै, परख्यूं भिन्न बिनाम॥ १३

६ – ,, रज्जब पानी ईख रस, रूप एक रस दोइ।
ऊपरि सत असत समि, अतरि अतर होइ॥ १७

७ – ,, उल्टा चलै सु औलिया, सूधी गति ससार।
जन रज्जब यू जाणिले, इनका इहै विचार॥ २२

कहते हैं कि साधु अगस्त्य के समान है जो ब्रह्म-समुद्र को पी गये।[१] सेवा और सुमिरण ब्रह्म-साधना के लिये नितान्त आवश्यक है। गुरु की सेवा और गोविन्द का सुमिरण दोनो मिल कर ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार कराते हैं। दोनो के योग से एक की उसी प्रकार उपलब्धि होती है जैसे बीज के दाने में दो दल होते हैं, किन्तु उनसे आम का एक ही वृक्ष उगता है।[२] रज्जब जी का मत है कि सेवाकार्य छोटे से नही—वडे से बन पडता है। छोटा सेवा करने मे सकोच कर सकता है किन्तु वडे मे सेवा-भाव अधिक होता है। भगवान सारे ससार की सेवा (पोपण) करता है परन्तु उसकी सेवा (पोपण) कोई नही करता।[3] शरीर से सेवा और हृदय से भजन मिल कर जिस भक्ति का निर्माण करते हैं वह वस्तुत राम की पुत्री है। उसके प्राप्त हो जाने पर ऋद्धियां, सिद्धिया और निधियां तो उसकी चेरी बन कर आती हैं।[४] बिना सेवा-भावना के भजन व्यर्थ है और बिना भजन के सेवाभावना व्यर्थ है। ब्रह्म की सिद्धि के लिये दोनो का योग आवश्यक है।[५] दोनो एक दूसरे के बिना कुछ नही कर सकते। यह सेवा-भावना तो सेवक और स्वामी का अतर ही समाप्त कर देती है। गुरु शिष्य की आत्मा का परिष्कार करने में अपनी सेवा उसे अर्पित करता है तथा शिष्य गुरु के शरीर की सेवा करता है। इस प्रकार किसको स्वामी माने और किसको सेवक—यह निर्णय करना वडा कठिन है।[६] इन नाना प्रकार की उक्तियो द्वारा

---

१ – साध महिमा का अंग—

साध अगाध अगस्त है, सांई सुद्ध समुद।
उभै समानै उभै उर, रज्जब रही न बुद॥ ५

२ – सेवा सुमिरण का अग—

गुरु सेवा गोविन्द भजन, उभै बात वित एक।
रज्जब बीरज दालि ह्वै, बम्रे अम्रिपा एक॥ ५

३ – सेवा का अग— साई सेवै सबन को सांई कोई नांहि।
मनसा वाचा करमना, मैं देख्या मन माँहि॥ २७

४ – ,, रज्जब बेटी राम की, भगति सु सेवा अग।
ऋद्धि सिद्धि निधि लोड़ी सबै, आवैं तिनके सग॥ २८

५ – सेवा सुमिरण का अग—

ओषधि बिन पथ क्या करे, पथ बिन ओषध बादि।
यू सुमिरण सुकृत घमिल, उभै न पावै दादि॥ १८

६ – सेवा का अग—

गुरु सेवा सिख प्राण की, सिख सेवा गुरु गात।
रज्जब दोन्यू दास हैं, नहिं स्वामी की बात॥ ५४

रज्जव जी सेवा और सुमिरण की महत्ता कडे परस्पर सापेक्ष मानते है। भजन में अहकार न आ जाय इसलिये सेवा आवश्यक है और सेवा सासारिक विषयो की न होने लगे इसलिये ईश्वर-भजन (सुमिरण) पूर्णत अनिवार्य है। सेवा और सुमिरण इन दोनो गुणो से विभूषित साधक अपने आध्यात्मिक लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। सुमिरण के साथ सेवा-भाव उत्पन्न हो जाने पर फिर परम-तत्व को प्राप्त करने मे विलम्ब नही लगता।

पक्षातीत मध्यमार्गी सहज साधना

पक्षातीत साधना पर रज्जव जी का विशेष आग्रह है। जो व्यक्ति किसी पक्ष अथवा वर्ग के आग्रहो को स्वीकार कर के चलता है वह न तो उत्कर्षपथ पर वढ पाता है और न सत्य का ही अनुभव कर पाता है। जो विरोधी मार्गों का परित्याग कर पक्षाग्रह से मुक्त सत्य का आराधन करता है वही सच्चा साधक है। रज्जब जी हमे सुन्दर उदाहरणो द्वारा स्पष्ट करते हैं। दो दलो के बीच अकुर निकलता है—वह दो दलो मे से किसी ओर नही झुकता—दोनो से निर-पेक्ष होकर उठता है, इसीलिये वह ऊर्ध्वगामी होता है। किन्तु दोनो दल अपने ही स्थान पर पड़े पड़े धूल मे मिल जाते है।[1] ससार सर्प के मुख के समान है, उसमे दो विषैली दाढे ही दो पक्ष है, उन्ही दोनो के बीच निर्विष मणि निकलतो है। इसी प्रकार ससार के दो विरोधी पक्षों के बोच से सच्चे सिद्ध का आविर्भाव होता है।[2] ससार मे जितने उत्कर्ष तथा आलोकमयी वस्तुये हैं वे सब पक्ष-विहीन हो कर ही उन्नति-लाभ करती हैं। दो परस्पर विरोधी मार्गों के बीच तीसरा मार्ग ही वरेण्य है।[3] रज्जब जी की सम्मति है कि सत को न तो हिन्दू धर्म से ही आसक्ति रखनी चाहिये और न इस्लाम से प्रेम करना चाहिये। जिसने इन दोनो को पैदा किया है उसी से प्रेम करना चाहिये।[4] विरोधी पक्षो

---

१ – निरपख मध्य का अग –

द्वै पख वीरज दालि है, बिचि अकूर अतीत।
सो रज्जब ऊचा चल्या, यहु तोजी रस रीति॥ ६

२ – „ ससार सर्प मडाण मुख, पख जाडच् विष होय।
वहां मुनी मणि नीपजै, निरपख निरविष सोय॥ ८

३ – „ चद सूर पाणी पवन, आभै उडग अतीत।
धर अम्बर परसै नहीं, यहु तीजी रसरीति॥ १३

४ – „ हेत न कर हिन्दू धरम, तजि तुरकी रस रीति।
रज्जब जिन पैदा किया, ताहीं सों करि प्रीति॥ ३३

मे एक दूसरे का दोप-दर्शन ही होता है, इससे आत्मा भी द्विविधा मे पडी रहती है। जो निष्पक्ष है वही निर्द्वन्द्व है।[1] सबको समान भाव से देखना चाहिये क्योकि संसार की समस्त साधनाओ का गन्तव्य एक ही है। जिस प्रकार किसी नगर तक पहुचने के लिये कई दिशाओ के लोग विभिन्न पथो से होकर आते हैं, इसी प्रकार नारायण तक पहुचने के लिये विभिन्न धर्म-पथो के लोग अपने-अपने मार्ग पर चल कर पहुचते हैं। अत' विरोध वस्तुत नही है क्यो कि सब का लक्ष्य एक है।[2] इसी प्रकार साधना मे अतिवाद अच्छा नही होता। कभी इधर, कभी उधर चक्कर लगाने से भी ब्रह्म की प्राप्ति नही हो सकती। जब तक हृदय मे ही उसे न ढूढा जायगा तब तक कोई चाहे सातो द्वीपो, नवखण्डो मे भ्रमण करे, तीर्थ व्रत करे, उस परमात्मा का साक्षात्कार असम्भव है।[3] प्राय: मुसलमान उस अल्लाह को पाने के लिये मक्का जाते है और हिन्दू कैलाश जाते हैं परन्तु मुहम्मद साहब किस मक्के गये थे और भगवान शकर किस कैलाश गये थे। पथ वह ग्रहण करना चाहिये जिस पर चलना आत्मा स्वीकार करे।[4] कहने का अभिप्राय यह है कि नाना परस्पर विरोधी पथो, मार्गो, विश्वासो और साधनाओ मे मध्य-मार्ग वरण करना ही सच्ची साधना का लक्षण है।

काव्यगत विशेषतायें

रज्जव जी के साहित्य के सम्बन्ध मे हम कह चुके हैं कि साहित्यशास्त्र अथवा काव्य शास्त्र के नियमो अथवा सिद्धान्तो के आधार पर रज्जव जी के साहित्य (हमारे विचार से सम्पूर्ण संतसाहित्य) का पर्यालोचन करना न तो न्याय-सम्मत ही है और न आधार-प्रेरित ही। सतसाहित्य की परम्परा में रज्जव की रचनाओ का आस्वादन कुछ निराला और भिन्न प्रकार का है।

---

१ – निरपख मध्य का अग—

पखा पखी मधि पिशुनता, प्राणहु दुविधा द्वन्द।
जन रज्जब निरपख नर, निरवैरी निर्द्वन्द ॥ ४२

२ – विवेक समता का अंग—

नारायण अरु नगर कूं, रज्जब पंथ अनेक।
कोई आवो किहीं दिशि, आगे अस्थल एक ॥ १८

३ – मधि मार्ग अस्थान निर्माण का अंग—

सप्त द्वीप नव खण्ड फिरि, हाथ चढ़ै कछु नाहिं।
रज्जब रजमा पाइये, आये उर घर माहिं ॥ १३

४ – ,, किस मक्के मुहमद गया, महादेव किस थान।
रज्जब चलिये पथ उसि, पथी प्राण सुजान ॥ २६

उनके छन्द-पक्ष मे तो किञ्चित् शास्त्रीयता मिल जाती है परन्तु यदि हम उसका रस-मूलक अध्ययन करते हैं तो केवल निर्वेद-पुष्ट शान्त रस ही रचनाओ मे आद्योपान्त व्याप्त लक्षित होता है। सर्वत्र जीवन की ऐहिकता तथा जगत् के मिथ्यात्व की चर्चा, सत-स्वभाव सुलभ सेवा, जप-तप, इन्द्रियनिग्रह, मन. निरोध, नीति और अनीति, साधु-असाधु भेद, जीव-माया-ब्रह्म का निरूपण, सत्यासत्य विवेक, चेतावनी तथा उपदेश, लय-समाधि, अजपाजप, सुरति-निरति प्रभृति विषयो की नियोजना ही उपलब्ध होती है। यही कारण है कि कबीर, दादू, नानक, सुन्दरदास, पलटू, मलूकदास, रविदास आदि सतो के काव्य मे विद्वानो ने विषयगत विवेचन तो प्रस्तुत किया है किन्तु उसके काव्य-शास्त्रीय पक्ष पर विचार करने का कोई आधार न पा कर उसका स्पर्श भी नही किया। अत यहा रज्जव जी के साहित्य के काव्यपक्ष पर विचार करते समय काव्य-शस्त्रीय रस-सिद्धान्त की गहराइयो में जाने की आवश्यकता नही प्रतीत होती।

सत साहित्य के लिये पाठको को यह तथ्य अप्रकट नही रहा कि दादू सम्प्रदाय मे तीन विशिष्ट महात्मा ऐसे हैं जिनकी वाणिया सर्वाधिक समादृत हुईं—वे हैं दादू, रज्जव और सुन्दरदास। यदि इन तीनो महात्माओ की बानियो का संक्षेप मे तुलनात्मक विश्लेषण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचेंगे कि दादूदयाल की बानी सहज, सरस और अयत्नज है, वह दादूजी के हृदय की अशेष विभूति से आप्लावित है। दादू बानी की कवित्त्वमयता भी सहज है, वह किसी प्रकार भी प्रयत्नसाध्य नही प्रतीत होती। रज्जवजी की कृतियो मे रज्जब जी के हृदय की सहज विभूति के साथ-साथ रचना का प्रयत्न-साध्य गौरव भी परिलक्षित होता है। उनकी रचनाओ का अध्ययन करने से यह आभास मिलता है कि रचना करते समय रज्जब जी के अध्यात्मनिष्ठ सत के साथ उनका कवि भी जागृत और सचेष्ट रहा है। रज्जब जी के समस्त आध्यात्मिक विचार साहित्यिक शैली मे अभिव्यजित हुये हैं। हम यह निस्सकोच कह सकते हैं कि दादू सम्प्रदाय के महात्माओ में रज्जब जी ही एक ऐसे महात्मा हैं जिनमे काव्य की अद्वितीय प्रतिभा उनकी रचनाओ से प्रतिबिम्बित होती है।

काव्यात्मक अभिव्यक्तियो में उपमा एव दृष्टान्त का प्राय. बाहुल्य होता है। रज्जब बानी में इनका विशाल कोष विद्यमान् है। विभिन्न उपमानो, रूपको, उदाहरणो एव दृष्टान्तो की सुललित योजना से उन्होने अपनी अभिव्यजना सम्बन्धी प्रभावात्मकता को समृद्ध किया है। उन्होने प्राय: प्रत्येक दोहे, सोरठे, पद, छप्पय, सवैया और कवित्त में नये-नये रूपक के माध्यम से जटिल से जटिल विषय को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में शायद ही कोई एक ग्रन्थ ऐसा प्राप्त हो जिसमें इतनी उपमाए और दृष्टान्त प्रसङ्गोचित रूप से सयोजित हुए हो । परिणामतः हम कहेंगे कि रज्जब साहित्य मे अध्यात्म के गौरव और काव्य के वैभव का मणि-काचन सयोग हुआ है । दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि रज्जब की रचनाओ मे आध्यात्मिक साधना की नीरसता एव शुष्कता का परिहार सरस लोकरजक रूपको एव काव्यमयी उक्तियो द्वारा किया गया है । यह सब होते हुये भी उनके भावो की सहजता नष्ट नही होने पायी । महात्मा सुन्दरदास के साहित्य मे प्रत्येक विचार एव प्रसग का दर्शनीकरण करने की चेष्टा लक्षित होती है । शुद्ध वेदान्त को साहित्यिक सौष्ठव के साथ नही, दार्शनिक वैभव के साथ प्रस्तुत करने का महात्मा सुन्दरदास ने उद्योग किया है । इन तीनो महात्माओ की कृतियो की रचनाशैली में सक्षेपत. यही अंतर हो सकता है कि दादू जी ने हृदय का भाव अत्यन्त सहज निश्छल भाव से व्यक्त किया है, रज्जब मे हृदय के सहज भाव काव्यरस में निमज्जित होकर आये हैं तथा सुन्दर मे सहज भावो की परिणति दार्शनिक विचारो मे होती हुई प्रतीत होती है । इसे स्पष्ट करने के लिये इन तीनो महात्माओ का एक-एक सद्गुरु सम्बन्धी उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करेंगे ।

दादू – दादू सतगुरु सहज में, कीया बहु उपगार ।
निरधन धनवंत कर लिया, गुरु मिलिया दातार ।।

सुन्दरदास – सुन्दर समुझे एक है, अनसमझे को इति ।
उभे रहित सद्गुरु कहे, सो है वचनातीत ।।

रज्जब – तन मन शक्ति समद गति, निर्मल नावं जहाज ।
वावचान वुधि थभ चढ़ि, गुरु सारे सब काज ।।

उपर्युक्त तीनो साखियों की भावाभिव्यक्ति पर ध्यान देने से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि दादू की अभिव्यजना का प्रमुख गुण सहजता है । सुन्दर की अभि-व्यक्ति का दार्शनिकता तथा रज्जब जी की वाणी का साहित्यिकता ।

रज्जब जी के काव्यपक्ष की काव्यशास्त्रीय विवेचना करने के लिये उसके रूपको, उपमाओ, दृष्टान्तो आदि पर विचार कर लेना अनुपयुक्त न होगा । सम्पूर्ण सत साहित्य पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि काव्यालकारो में रूपक अलकार की योजना करने की विशेष प्रवृत्ति सत कवियो मे प्राय दृष्टिगोचर होती है । रूपक अलकार में उपमान और उपमेय इन दोनो

का अभेदाभेद (एक दूसरे से नितान्त अभिन्न) कर के वर्णन किया जाता है।[१] अर्थात् उपमान तथा उपमेय के परस्पर एक दूसरे के अत्यन्त सदृश होने से जब उनके परस्पर भेद का ज्ञान छिप जाय और वे अभिन्न से प्रतीत होने लगें।[२] साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने रूपक की परिभाषा करते हुये बताया है कि रूपक अलकार मे (विषय अथवा उपमान द्वारा) अनपन्हुत (न छिपाये गये) विषय (आरोप विषय उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अभेदारोप होता है।[३] आचार्य मम्मट और कविराज विश्वनाथ दोनो ने रूपक के तीन भेद माने है—(१) परम्परित, (२) साग, (३) निरग।[४] उपमान और उपमेय मे अत्यन्त सादृश्य प्रदर्शित करने के लिये दोनो में एकता (अभेद) का आरोप जहा किया जाता है वहा रूपक अलकार होता है।[५] रूपक अलकार का यह तो शास्त्रीय लक्षण हुआ किन्तु इसके द्वारा होने वाली अर्थ की निष्पत्ति कवि के प्रयोगकौशल पर निर्भर रहती है। कवि उपमान और उपमेय में जितनी ही अधिक सादृश्य की योजना कर सकेगा उतना ही अधिक वह पाठक को इस अलकार द्वारा आह्लादित करेगा।

रज्जब बानी में प्रयुक्त कतिपय प्रसिद्ध रूपको के उदाहरण ही इस बात को सिद्ध करने और कवि की रूपकयोजना प प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त होगे। रज्जब जी गुरु के उपकारी स्वभाव की व्याख्या वृक्ष के रूपक के माध्यम से करते हैं। गुरु वृक्ष है, अग उसकी डालिय है, वचन पत्ते है, राम फल है, कोई भी शिष्य पथी उस वृक्ष की छाया में बैठ कर अपने त्रिविध ताप दूर कर सकता है तथा उसमें लगे हुये राम फल का आस्वादन कर सकता है तथा इसका रसास्वाद करने से जीवन सफल हो जाता है।

---

१ – तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो·।
—काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, सूत्र १३९

२ – अतिसाम्यादनपन्हुतभेदयोः अभेद।
—वही, दशम उल्लास, १३९वें सूत्र की व्याख्या

३ – रूपक रूपितारोपाद्वि (पो वि) षये निरपह्नवे।
—साहित्य दर्पण, दशम परिच्छेद, सूत्र २८

४ – (क) तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति त्रिधा
—साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद, सूत्र २८

(ख) मम्मट के काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में १३९ सूत्र की वृत्ति।

५ – चन्द्रालोक रचयिता पीयूषवर्ष श्री जयदेव पचम मयूख १८वां श्लोक
यत्रोपम न चत्रेण सर्वथाप्युपरज्यते।
उपमेयमयी भित्तिस्तत्र रूपकमिष्यते॥

गुरु तरवर अग डाल वहु, पत्र वैन फल राम।
रज्जब छाया में सुखी, चाख्यू सरै सुकाम ॥[1]

कही-कही पर तो रूपक के द्वारा रज्जव जी सद्गुण सम्पन्न उपमेय को हीनगुण के रूप मे प्रस्तुत कर के भी उसकी महत्ता मे वृद्धि कर देते हैं। एक स्थल पर वे विषय प्रवृत्त नर-नारी (उपमेय) को चकवा-चकवी के उपमान का सादृश्य स्थापित कर गुरु वचन (उपमेय) मे रात्रि (उपमान) का अभेद आरोपित करते हैं। सामान्यत रात्रि अधकार, निराशा और दुर्भाग्य का प्रतीक होती है। इधर गुरु-उपदेश जीवन मे आलोक, ज्ञान और आशा का सचार करता है, परन्तु उसे रात्रि वता कर भी उसकी महत्ता मे वृद्धि ही की गई है। पुरुष और स्त्री रूपी चकवा-चकवी मे विच्छेद उत्पन्न करने के लिये गुरु का उपदेश रात्रि बन कर आ गया—अर्थात् दोनो मे गुरु ने विषय-विरक्ति उत्पन्न कर दी। चकवा-चकवी स्वभावत: निशागमन पर एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। साधना पक्ष मे ज्ञान और काम (नारी) एक दूसरे से विरक्त हो जायें तो साधना सफल हो जायेगी—

रज्जव नारी नर जुगल, चकवा चकवी जोड।
गुरु वैन विच रैन में, किया वहुन पर फोड ॥
गुरुदेव को अग, साखी ४७

उपर्युक्त साखी में परम्परित तथा साग दोनो प्रकार के रूपको की योजना हुई है। यहा हम साग रूपक नही मान सकते, साहित्यदर्पणकार ने परम्परित रूपक एव साग रूपक के क्रमश निम्नलिखित लक्षण निर्धारित किये हैं—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम्।
तत्र परम्परितम् श्लिष्टाश्लिष्टशव्देनिवन्धनम्।
दशम परिच्छेद ३०

अर्थात् परम्परित रूपक में एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण हुआ करता है। उपर्युक्त साखी में चकवा-चकवी का अभेदारोप नर-नारी के अभेदारोप का कारण है तथा चकवा-चकवी के अभेदारोप के लिये गुरुवचन और रात्रि में अभेदारोप किया गया है। साग रूपक का लक्षण—

अङ्गिनो यदि सागस्य रूपणं सागमेव तत्। दशम परिच्छेद ३०

अर्थात् जिसमें अंगो के रूपण के साथ-साथ अगी का रूपण हुआ करता है। यहा पर एक देशविर्वात साग रूपक न हो कर समस्त वस्तु विषय साग रूपक है

१ – रज्जव वानी, गुरुदेव का अंग, साखी ४६

क्योकि चकवा-चकवी उपमान के आरोप्यमाण अगो का जैसे रात्रि और विद्रोह का शब्दत. उपान्त हुआ है।

रज्जब जी द्वारा नियोजित उनकी रचनाओ के समस्त रूपको की व्याख्या करना तो यहा सम्भव नही—यहा पर हम उनके कतिपय प्रसिद्ध रूपको को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं।। परम्परित और साग रूपक

प्यण्ड प्राण दोन्यू तपहि, जथा कड़ाही तेल।
रज्जब हरि शशि ज्यू रहहि, अगनि मध्य नहि मेल॥

इस साखी में रूपक के साथ-साथ उपमालकार भी विद्यमान है। रज्जब जी की रचनाओ मे असख्य रूपको की योजना हुई है। कहना चाहिये कि रज्जब साहित्य में सारी भावाभिव्यजना रूपकमयी है।

पारस का रूपक—

गुरु परसिध पारस मिल्या, सिख ही खूटी जोइ।
रज्जब पलटै लोह सब, ककर का क्या होय॥

गुरुदेव का अग—१४७

चदन का रूपक—

सतगुरु चदन बावना, परस्यो पलटै काठ।
रज्जब चेला चूक मे, रह्या बांस के ठाठ॥

गुरुदेव का अग—१४८

रहट का रूपक—

विण घडिमाल रहट की भरमै, जल आवै कछु नाहि।
त्यू रज्जब चेतन बिन चेला, रीता सगति मांहि॥

गुरुदेव का अग—१५३

धनुर्धर का रूपक—

सतगुरु तीरदाज है, सेवक मन नीसांण।
रज्जब गुरु कमणैत सों, जाका बैठा बांण॥

गुरु सिख निदान निरनै का अग—२७

चकोर का रूपक—

रज्जब महत मयक है, चेला होइ चकोर।
इन्द्री गिलै अगार ज्यू, अगनि करै नहि जोर॥

गुरु सिख निदान निरनै का अग—४४

कुभकार का रूपक—

सेवक कुभ कुभार गुरु, घडि घडि काढ़ै खोट।
रज्जब मांहि सहाइ करि, तब बाहै दे चोट॥

गुरु सिख कसौटी का अग—२

सिलाई का रूपक—

नाव सुई पट प्राणपति, सुरत सनेही ताग।
रज्जब रज तज काढ़तो, कौन वसत विच लाग ।।

अजपाजाप का अग—८

रज्जब जी के साहित्य के यदि समस्त रूपको को हम एकत्र करें तो इसके लिए स्वतन्त्र ग्रन्थरचना की आवश्यकता है। हमारे विचार से तो रज्जब-साहित्य की इस व्यापक एव बहुलतम रूपकयोजना को देख कर हमारी यह धारणा बनती जाती है कि यह एक स्वतन्त्र विवेचना का विषय बन सकता है। रज्जब जी के साहित्य मे दृष्टान्त, उपमा आदि अलकारो की भी कुशल योजना एव सिद्ध प्रयोग हुआ है। आचार्य विश्वनाथ ने दृष्टान्त की यह परिभाषा दी है—'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य, वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्' (साहित्यदर्पण, सपादक डा० सत्यव्रतसिह, पृ० ७६३) अर्थात् दृष्टान्त अलकार मे समान धर्म से युक्त उपमान और उपमेय रूप वाक्यार्थो (अथवा प्रकृत और अप्रकृत रूप धर्मिद्वय मे) बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की झलक होती है, 'अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्या द्विधा' (साहित्यदर्पण, सम्पादक डा० सत्यव्रतसिह, पृ० ७६३) कह कर आचार्य विश्वनाथ ने दृष्टान्तालङ्कार के साधर्म्य और वैधर्म्य दो भेद किये। रज्जब-बानी मे दृष्टान्त के दोनो भेद उपलब्ध होते हैं। साधर्म्य दृष्टान्त का उदाहरण लीजिये—

पाले के पर्वत गलहि, देखि सूर की ताप।
ऐसी निधि अघ ऊतरैं, जन रज्जब हरि जाप ।।

भजन प्रताप का अग, साखी ३२

इस साखी मे हरिजाप और सूर्य के ताप मे साधर्म्य की योजना की गई है तथा पाले के पर्वतो के गलने और पापो के क्षय होने में साधर्म्य की योजना हुई है।

रज्जब लघु दीरघ मिलत, मानि महातम जोइ।
जथा तक्र पै परसतो, जावण हूं दधि होइ ।।

साध सगति मरम लाभ का अंग—साखी ६

इस दोहे में दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास तथा अनुप्रास तीन अलकारो की एक साथ योजना हुई है। यहाँ लघु-दीरघ तथा तक्र और पय के मिलाप में साधर्म्य की स्थापना की गई है अत यहाँ साधर्म्य दृष्टान्त है।

विशेष से सामान्य का ग्रहण है इसलिए अर्थान्तरन्यास है। रज्जब बानी मे यदि ह संख्यानुपात की दृष्टि से अलकारो का क्रम प्रस्तुत करना चाहे तो वह

इस प्रकार होगा। सर्व प्रथम रूपक, फिर उपमा तदन्तर दृष्टान्त, तत्पश्चात् प्रतिवस्तूपमा, तदुपरान्त उत्प्रेक्षा, यत्र तत्र अर्थान्तरन्यास और अनुप्रास अलकार उपलब्ध होते हैं।

अलकारयोजना के सदर्भ में जब हम रज्जबसाहित्य का अनुशीलन करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुचते हैं कि रज्जब जी ने अलकारो की योजना भावाभिव्यक्ति को आकर्षक बनाने से अधिक सुस्पष्ट एव प्रभावशाली बनाने के लिए की है। रज्जब जी के काव्य मे अलकार बडे ही सहज रूप मे प्रयुक्त हुए हैं। जब किसी भाव को पाठक के हृदय मे स्पष्ट रूप से कवि ध्वनित करना चाहता है तो वह अपनी काव्यात्मकता का आश्रय लेता है। भावाभिव्यक्ति यदि अलकार की अपेक्षा रखती है तो अलकार अभिव्यक्ति का पोषक बन जाता है और यदि कवि का उद्देश्य आचार्यत्व प्रदर्शन अथवा अनावश्यक अपने काव्य के अन्दर अलकारो की भरमार करना है तो अलकार का कठोर भार कविता कामिनी के कोमल कलेवर का सौन्दर्य नही, विकार बन जाता है, पाठक के लिए प्रसाद का विषय न होकर पीडा मे परिगणित हो जाता है।

(ग) छद और भाषा

हिन्दी काव्य के छन्दो का प्रधान आधार सस्कृत वृत्तो की प्रकृति, लक्षण और गुण है, किन्तु सस्कृत को हम एकमात्र आधार नही मान सकते। हिन्दी के छन्द केवल सस्कृत से ही नहीं आये हैं। अपितु प्राकृत और अपभ्रश के छद भी उसके प्रधान स्रोत हैं। हिन्दी के अधिकाश छन्दो का (विशेषत मात्रिक तथा कवित्त, घनाक्षरी आदि छन्दो का) सस्कृत में नाममात्र भी उपलब्ध नही होता। इधर सस्कृत के अनेक छद और छन्दो वर्ग (विशेषत आर्या और वैतालीय वर्ग) हिन्दी में पहुचने से पहले ही प्रयोग-बहिष्कृत हो चुके थे।[१] भारतीय छद तत्त्व पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से हमें उसके विकास की तीन अवस्थाओ का ज्ञान होता है।

(क) स्वर तत्त्व प्रधान—Rising and falling tones,
(ख) ध्वनि तत्त्व प्रधान—Short and long Sounds,
(ग) काव्य तत्त्व प्रधान—Time element

प्रथम तत्त्व प्रधान छन्दो की योजना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है।

---

१ – श्री रघुनन्दन शास्त्री, हिन्दी छन्द प्रकाश, प्राक्कथन।

इसमें छन्द की गति नीची-ऊंची—उदात्त-अनुदात्त, स्वरित आदि—स्वरलहरियो पर अवलम्बित होती है। इसे हम स्वराघात नाम से भी अभिहित कर सकते हैं। द्वितीय तत्त्व प्रधान छन्दो का प्रयोग हमें सस्कृतसाहित्य में प्राप्त होता है। इन छन्दो में लय ह्रस्व-दीर्घ ध्वनियो पर आधारित है। तृतीय तत्त्व प्रधान छन्दो की योजना हिन्दी में उपलब्ध होती है। प्राकृत और अपभ्रश काव्य के छन्दो की भाँति ही हिन्दी के छन्दो में काव्यतत्त्व प्रधान है। क्योकि उनमें लय के लिये ध्वनि की मौलिक ह्रस्वता या दीर्घता पर विचार नही किया जाता, अपितु किसी ध्वनि के उच्चारण में जो काल लगता है उसके आधार पर उस ध्वनि की ह्रस्वता या दीर्घता का निर्णय होता है। हिन्दी के छन्दो में कोई भी स्वर प्रमुखत काल सापेक्ष है। 'ए' दीर्घ होने पर भी हिन्दी में उसका दीर्घत्त्व उच्चारण में व्यतीत काल पर निर्भर है। खडी बोली के छन्दो में इस कालतत्त्व की प्रधानता किञ्चित् घट गई है, किन्तु व्रज, अवधी और राजस्थानी भाषाओ में इस तत्त्व का विशेष महत्त्व है। वहाँ दीर्घ भी कालावलम्बित होने से ह्रस्व की भाति उच्चारित हो सकता है।

काव्यगत छन्दो के इतिहास की भी अपनी एक स्वतन्त्र परम्परा है। उस परम्परा का समुदय वेदो से होता है और सगीततत्त्व के योग से आधुनिक हिन्दी साहित्य मे उसका समाहार प्रतीत होता है। छन्द-लक्षण-सम्बन्धी सामग्री भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के १४ वे व पन्द्रहवें अध्याय में उपलब्ध होती है। अग्निपुराण में भी एक अध्याय छन्दो पर है जिसमे पिगल की शैली का अनुसरण किया गया है। मिहिर ने अपनी 'वृहत्सहिता' मे एक अध्याय छन्दो पर लिखा है। किवदन्ती यह भी है कि कालिदास ने भी 'श्रुतवोध' नामक छन्दग्रथ लिखा। आचार्य भामह, दण्डी, महोत्पल, जयदेव, जैन विद्वान जयकीर्ति, क्षेमेन्द्र, केदार भट्ट, विरहाक, हेमचन्द्र, गगादास प्रभृति, नाना विद्वानो के छन्द-लक्षण-ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है। इन प्राचीन ग्रथो के आधार पर आधुनिक काल में भी त्रिशाधिक छन्दग्रथो की रचना हुई। इन सवो मे जगन्नाथप्रसाद भानु के छन्दप्रभाकर को वडी ख्याति हुई। यहा पर छन्दो के इतिहास अथवा विकास क्रम के व्योरे मे जाना हमारे लिए न तो अभीष्ट है और न अपेक्षित ही। हमे तो केवल रज्जब जी के काव्य में प्रयुक्त कतिपय छन्दो पर सक्षिप्त रुप से विचार करना है।

हिन्दीकाव्य के इतिहास पर जव हम दृष्टिपात करते है तो देखते है कि ८वी शताब्दि से लेकर आज तक हिन्दीकाव्य मे साहित्य की विपुल राशि छन्दो

में ही प्राप्त होती है। हिन्दी मे विशेषकर प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य मे दो प्रकार के छ्द प्रयुक्त हुये हैं, एक वे जो प्राकृत और अपभ्रंश से हिन्दी मे आये हैं, और दूसरे वे जो प्रधानतया सस्कृत की देन हैं। हम इन्हें सुविधा के लिये क्रमशः 'मात्रिक' और 'वर्णिक' कह सकते हैं। यद्यपि इनके अतिरिक्त अग्रेजी के प्रभाव में प्रयुक्त कुछ स्वच्छद छन्द भी है जिन्हें हम लयात्मक रचना (Rhythmical composition) कह सकते हैं, किन्तु इनकी निश्चित शैली के विकास के अभाव मे इनका विधिपूर्वक अध्ययन अथवा विश्लेषण कर सकना सम्भव नही है। इसी प्रसग मे मात्रिक और वर्णिक वृत्तो के लक्षणो पर भी दृष्टि केन्द्रित कर लेना आवश्यक है। जिन छन्दो मे मात्राओ की सख्या के आधार पर पद-रचना होती है उन्हे मात्रिक छद कहते है—इसको, 'जाति' भी कहते है। वर्णिक वृत्त वे छन्द हैं जिनमे वर्णों की सख्या और क्रम (लघु, गुरु वर्णों के स्थान का स्थिरीकरण) के आधार पर पाद रचना की जाती है। केवल वृत्त कहने से भी वर्णिक छन्द का ही बोध होता है। वर्णिक वृत्तो मे क्रम या लघु, गुरु वर्णों का स्थान नियत होता है। यदि एक पाद का पहला या तीसरा या कोई और अक्षर गुरु है तो सब पादो मे उस सख्या के अक्षर गुरु ही होंगे, परन्तु मात्रिक छन्दो मे क्रम नही होता। उनमे केवल मात्राओ की सख्या पूरी होती है।

उदाहरणार्थ—

	वर्ण सख्या	मात्रा सख्या
छविवती दुहिता वृषभानु की	१२	१६
निपट थी जिस काल पयोमुखी	१२	१६
वह तभी व्रजभूप कुटुम्ब की	१२	१६
परम कौतुक पुत्तलिका रही	१२	१६

इस छन्द के प्रत्येक पाद मे वर्ण १२ और मात्रा १६ है। इसमे लघु, गुरु वर्णों का क्रम नियत है। प्रत्येक चरण का चौथा, सातवा, दसवा और बारहवा अक्षर गुरु, है और पहला, दूसरा, तीसरा, पाचवा, छठा, आठवा, नवा तथा ग्यारहवा अक्षर लघु है। गण परिभाषा मे यहां न, भ, म, और र गण है इससे यह वर्णिक वृत्त (द्रुत विलम्बित) है। अब एक दूसरा उदाहरण है—

	मात्रा सख्या	वर्ण सख्या
सत असतन कै अस करनी	१६	१२
जिमि कुठार चदन आचरनी	१६	१२
काटै परसु मलय सुनु भाई	१६	१२
निज गुन देह सुगध बसाई	१६	१२

इस छन्द के प्रत्येक पद मे १६ मात्रायें हैं परन्तु वर्णो की सख्या एक समान नही है। लघु-गुरु-क्रम नही मिला। पहले पाद का प्रथम अक्षर गुरु है और दूसरा अक्षर लघु है किन्तु इस क्रम का निर्वाह अन्य छन्दो मे नही है। इससे यह मात्रिक छन्द (चौपाई) है। पादो की रचना के आधार पर छन्दो के तीन भेद किये जा सकते हैं। पहला सम, दूसरा अर्ध सम, तीसरा विषम। जिन छन्दो के चारो पादो मे एक ही लक्षण समान रूप से चरितार्थ हो वे सम छन्द कहलाते है। जिन छन्दो का प्रथम पाद, तृतीय पाद के समान तथा द्वितीय पाद चतुर्थ पाद के समान हो वे अर्घ सम छन्द कहे जायेगे। जिन छन्दो मे न सम छन्द के ही लक्षण उपलब्ध हो और न अर्घ सम के उनकी गणना विषम छन्द मे की जायेगी।

छन्दो की दृष्टि से 'रज्जव जी की वानी' कृति पर ही विचार करना उपयुक्त होगा—वही उनकी मौलिक कृति है। 'सर्वंगी' सग्रहग्रथ है, उसमे अनेकानेक महात्माओ के वचन सगृहीत हैं। उसमे जो भाग रज्जव जी का अपना है, उसमे वानी की रचनाये उद्धृत हैं, अत. उनकी छदपद्धति का पृथक् अध्ययन करने की आवश्यकता नही प्रतीत होती। रज्जव जो ने अपनी 'वानी' मे मात्रिक एव वर्णिक दोनो प्रकार के वृत्तो का प्रयोग किया।

मात्रिक छद—

१–दोहा (साखी), २–सोरठा, ३–चौपाई, ४–वरवै, ५–कुण्डलिया, ६–छप्पय।

वर्णिक—

७–सवैया, ८–कवित्त, घनाक्षरी, ९–पद, १०–कमल बघ, ११–छत्र वध, १२-वर्प, १३-प्रणव छद।

सर्व प्रथम हम रज्जवजी के दोहा छद पर विचार करेंगे। दोहा अर्ध सम मात्रिक छद के अन्तर्गत आता है। दोहा छद के प्रथम तथा तृतीय चरण में १३–१३ और द्वितीय तथा चतुर्थ पाद मे ११–११ मात्रायें होती हैं। यति पाद के अत मे होती है। विपम पादो के आदि में जगण (।ऽ।) नही आना चाहिये। सम पादो के अन्त में लघु पडता है। तुक सम पादो की मिलती है, विपम को नही।

विषम चरण तेरह कला, सम ग्यारह निरधार।
प्रथम तृतीय वजिति जगण, दोहा विविध प्रकार॥

हिन्दी छन्दप्रकाश, ले० रघुनन्दन शास्त्री, पृ० २

यो तो लक्षणकारो ने दोहे के लगभग २३ भेद बताये हैं। विविध दोहाकारो द्वारा दोहे की अनेक प्रकार की रूप-रचनाओ के कारण ही उसके इतने भेद मानने पडे।

सत कवियो की वाणियो का सार सर्वस्व दोहो (साखियो) में अभिव्यक्त हुआ है। कहना तो यह चाहिये कि सत कवि अपने पदो अथवा अन्य प्रकार के छन्दो के लिये उतने प्रसिद्ध नही जितने अपने दोहो (साखियो) के लिये। रज्जब जी ने अपना समस्त गभीर विचारतत्व दोहो में व्यक्त किया है। यद्यपि अनेक प्रकार के छन्दो में उनकी रुचि और गति है परन्तु दोहो में व्यक्त की गई उनकी विचार-विभूति ही अन्य छन्दो मे दुहराई गई है। छन्दरचना के सम्बन्ध में हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सत कवियो मे कोई भी छन्द आद्योपान्त अपने शुद्ध लक्षणो के निकष पर खरा नही उतरता। रज्जब साहित्य के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। यहा भी दोहे का एकरूप शुद्ध निर्वाह नही हुआ या यह कहिये कि दोहे के कई रूपभेद रज्जब जी की कृति मे उपलब्ध होते हैं।

विरछ बीज फिरि आवई, पत्र प्यण्ड सों जाय।
तो चौरासी क्यों मिटै, नर देखौ निरताय॥

रज्जब बानी, चौरासी निदान निरनं का अग, साखी – १

यह दोहा निर्धारित लक्षणो के आधार पर शुद्ध है। परन्तु कही कही रज्जबजी ने दोहे के प्रारम्भ मे अपना नाम जोड कर उसे लक्षण भ्रष्ट बना दिया है—

रज्जब तन में मन मुकते रहै, वरतणि वधै सुनांहि।
पचम दृष्टि देखै उन्हे, माया काया मांहि॥

माया मधि मुकति का अग, साखी – २६

यहां प्रारम्भ मे रज्जब शब्द के कारण रचना दोष आ गया है। तृतीय चरण मे १३ मात्राओ के स्थान पर १४ मात्रायें आ गई हैं। इस प्रकार के अनेक दोहे रज्जब बानी मे मिलते हैं। रज्जबजी ने कुछ दोहो के प्रथम पाद के प्रारम्भ मे 'परिहा' शब्द जोड़ा है उसके कारण भी दोहा लक्षणच्युत हो गया है। किन्ही किन्ही दोहो में तो प्रथम और तृतीय पादो मे १३ मात्रा के स्थान पर १५ और १६ मात्राओ तक का प्रयोग किया गया है—

भगवंत भगति मोहै सदा, सोई सदगति साथ।
रज्जब आतम राम लगि, सुमिरै अग अगाध॥

लाबी का अग, साखी – १

यहा प्रथम पाद मे १५ मात्राये है।

तामस रूप मिल्या मन फाटै, सातिग फारा ही मिलि जाइ।
कांजी छाछ दूध को जैसे, जन रज्जब देखो निरताइ॥

सातिग तामस निदान का अग, साखी – ५

उपर्युक्त दोहा छद लक्षण की दृष्टि से विलक्षण है। प्रथम पाद में १६ मात्राये, द्वितीय पाद में १५ मात्राये है, पुन तृतीय पाद में १६ तथा चतुर्थ पाद में १५ मात्राये हैं।

रज्जवजी ने यत्र तत्र सोरठो की रचना भी की है। दोहे के क्रम को उलट देने से सोरठा वन जाता है। इसमें प्रथम और तृतीय पाद सम होते हैं, द्वितीय और चतुर्थ विषम। रज्जबजी के सोरठो मे भी लक्षणच्युति-दोष विद्यमान् है—

पारस परसत लोह, सोंघे से मंहगा भया।
तौ क्यों न करीजे मोह, रज्जब सांचे साधु सों॥
साधुसगति परम लाभ का अंग, साखी ४

इस सोरठे के तृतीय पाद मे ११ मात्राओ के स्थान पर १३ मात्राये हैं। यदि 'तौ' शब्द का प्रयोग न किया गया होता तो सोरठा लक्षण-शुद्ध होता।

रज्जव भागी भूख, भजन करत भगवत का।
गये सु दारिद दूख, आपति फिरि आवै नहीं॥
भजनप्रताप का अग, सा० ६७

यह सोरठा शास्त्रीय लक्षण–सम्मत होने से शुद्ध है।

रज्जवजी ने चौपाइया दो प्रकार की प्रयुक्त की है।

पति परमेश्वर धीरज नाव, अबला आतम रति रुचि ठांव।
मेला या सम कोई नांहि, विगति वाल ब्रह्म उपजै मांहि॥

उपर्युक्त चतुष्पदी मे वर्णिक वृत्त लक्षित होता है। चौपाई के प्रत्येक पाद मे १६ मात्रायें होती हैं। अत मे जगण (ISI) तगण (SSI) वर्जित है। उदाहरणार्थ—

विधु ववनी सब भाति सवारी, सोह-न वसन विना वर नारी।
भणिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
(बालकाण्ड, तुलसी)

किन्तु तुलसी ने भी कही कही चौपाई के लक्षणो से कुछ भिन्न चौपाइया लिखी है, उदाहरणार्थ—

ककन किकिनि नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि

अथवा

मुष्टिक एक ताहि कपि हनी,
रुधिर वमन धरणी ठनमनी॥

रज्जबजी भी अपने चौपाई छन्दो मे प्रायः लक्षणो की नियमितता की रक्षा नही कर सके है।

प्रथम प्राण परम गुरु पावै, परम पुरुष का भाव उपावै।
परम पद सो देय बताई, तब परै अग अगनि सुष पाई ।।

ग्रथ परा-भेद, चौ० १

इस चौपाई के प्रथम पाद मे एक मात्रा की न्यूनता है तथा चतुर्थ पाद मे एक मात्रा का आधिक्य है।

रज्जबजी ने जितने प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया है उनमे लक्षण दोष प्राय देखने को मिलते हैं। रज्जबजी के समस्त छन्दो मे साखी, छप्पय और अरिल अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय बन सके हैं। दादू सम्प्रदाय के प्राय सभी सत अरिल लिखने मे अभ्यस्त थे। रज्जबजी ने अपनी 'बानी' में आद्योपांत बीच-बीच मे अरिल छन्द का प्रयोग किया है। बानी के अन्तिम भाग में ८३ अरिल लिखे हैं। यहा पर हम उनके अरिल का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

यहै दया सुनि सत्य सुजीवन मारिये।
मन वच क्रम तिरसुद्ध पिशुनता टारिये ।।
सब सुकृत तिन कीन्ह मिहर मनसा धरी।
परिहां रज्जब रीझै राम रही क्या अनकरी ।।

रज्जबजी के अरिलो के चतुर्थ पाद में 'परिहा' शब्द जुडा रहता है किन्तु लक्षण ग्रथो में अरिल का लक्षण भिन्न है तथा जिस छन्द को रज्जबजी ने अरिल नाम से अभिहित किया है, उसे छन्द ग्रथो मे प्लवगम नाम दिया गया है। प्लवगम मे २१ मात्रायें होती हैं। आदि मे गुरु अक्षर होना चाहिये। यति प्राय ८ और १३ पर होती है। रज्जबजी अपने अरिलो में इस प्लवगम छन्द के लक्षणो का भी निर्वाह नही कर सके।

छप्पय – यह छन्द रोला और उल्लाला छन्दो के योग से बनता है। यह छन्द षट्पदी है। लक्षणकारो ने छप्पय के ७१ भेद किये है। रज्जबजी ने उल्लाला पादी छप्पय का प्रयोग किया है। ४ पाद रोला के तथा अतिम २ पाद उल्लाला के छप्पय छन्द का निर्माण कर देते है। रज्जबजी के छप्पय का एक उदाहरण लेंगे—

बैरागरमय विभो अष्ट कुल पारस धरिये।
कल्पवृक्ष बनराय, फूल फल अमरस भरिये ।।
सप्तसमुद्रहु सुधा, सोइ सरिता सु तलावहु।
पीवन कू सु पियूष, तिहीं मारग गुरु आवहु ।।

नगरपुरी वैकुठ विधि, चिन्तामणि घर परचिणे।
रज्जब गुरु पूजा सजीव, नामहु सरवर ना गिणे ।।

रज्जब वानी छप्पय, गुरुदेव का अग, छप्पय, १

सवैया :– रज्जबजी के सवैये दो प्रकार के उपलब्ध होते हैं। एक तो शुद्ध सवैया। इसमे मुक्ताहार, वाम, दुर्मिल, सुन्दरी आदि कई जाति के सवैयों का प्रयोग किया गया है। किन्ही-किन्ही सवैयो मे आधा पाद टेक की भाति पहले दिया गया है और इसके पश्चात् ४ पूरे पाद सम दिये गये है—

रज्जब दयाल सुत ब्रह्म को बजाज है।

इसके उपरान्त ४ पाद समान तुक के दिये गये है।

किन्तु इस प्रकार के छन्दो में हम सवैये के स्थान पर रूप घनाक्षरी के लक्षण पाते है। कलाधर ३१ वर्ण का अत मे गुरु तथा रूप घनाक्षरी ३२ वर्ण की अत मे लघु होता है। रज्जबजी के एक सवैये का उदाहरण हम प्रस्तुत करेंगे—

विरकत रूप धरचो वपु बाहरि, भीतर भूख अनत विराजी।
ऊपरि सो पनहीं पुनि त्यागि जू, माहीं तृषा तिहु लोक की साजी ।।
कपट कला करि लोक रिझायो हो, रोटी को ठोर करी देखो ताजी।
हो रज्जब रूप रच्यो ठग को जिय, साधु लखै सब लाखिर पाजी ।।

किरीट, सवैया, २४ वर्ण[1]

घनाक्षरी—भगवा जु भावै नाहि विभूति लगावै नाहि,
पाखण्ड सुहावै नाहि ऐसी कछु चाल है।
टीका माला मानै नाहि जैन स्वाग ठानै नाहि,
परपच बखानै नाहि ऐसा कछु हाल है।
सींगी मुद्रा सेवै नाहिं वोध विधि लेवै नाहिं,
भस्म तिल देवै नाहिं ऐसा कछू ख्याल है।
तुरकी तो खोदि गाडी, हिन्दुन की हद छांडी,
अंतर अजर माड़ी ऐसो दादू लाल है ।।[2]

अब हम रज्जबजी के पद, त्रिभगी तथा वर्ष छन्द का एक एक उदाहरण देकर छन्द प्रकरण समाप्त करेगे।

त्रिभगी :– ३३ मात्रा–अन्त में गुरु—

---

१ – रज्जब वानी–दादू दयाल जी की भेंट के सवैये–सांच चाणक का अग, सवैया–१
२ – " " " " " घनाक्षरी–१

तो बैरी घास, दूदर दासं, खाई त्रास गुण प्रासं।
विसरण अवास, फेरया फास, दोषी नास नह सास ॥

जुद्ध जु जास कहिये कास, बीर विलास नह हास।
प्राणी पास क्रीलतरास, बारह मास कादि करम करता केल ॥

अंतिम पाद त्रिभगी के लक्षणो से च्युत है।

वर्ष छन्द :– मगण तगण जगण —

दोष अनन्त चलै क्यू जीव।
सुनहु सत परसै क्यू पीव ॥
प्रथमहि देह पाप का मूल।
दोष सकल डाली फल फूल ॥[1]

पद– राम बिन सावन सह्यो न जाई।
काली घटा काल हो आई कामिनि दाबै भाई ॥
कनक अवास घास सब फीके, बिन पियँ कै परसग।
महा विपति वेहाल लाल बिन, लागै विरह भुवग ॥
सूनी सेज हेज कहौं कासौं, अबला धरै न धीर।
दादुर मोर पपीहा बोलै, ते मारत है तीर ॥[2]

सत कवियो के पद-रचना प्रसग मे हम यह संकेत करना चाहते है कि कबीर, सूर, दादू, तुलसी, मीरा आदि पुराने कवियो ने एक पाद पादाकुलक, चौपाई या शृगार को टेक के रूप में रख कर पीछे रूपमालो सार, विधाता, सरसी, हरिगीतिका, दण्ड आदि के अनेक पाद रख कर गीतियो की रचना की है, तथा इन गीतियो को अनेक राग-रागनियो के ठाठ मे बाधा है। यो तो रज्जबजी की छन्दपद्धति का सम्यक् वर्णन करना एक स्वतत्र ग्रथ का विषय है किन्तु यहा हमारे सकेत भी दिशा-दर्शन के लिये पर्याप्त होगे।

भाषा—सत साहित्य की भाषा मे अनेक भाषाओ का सम्मिश्रण प्राप्त होता है। भाषा की एकरूपता का निर्वाह सत कवियो की भाषा मे नही हो सका, यही कारण है कि कबीर आदि सत कवियो की भाषा को विद्वानो ने 'सधुक्कडी' अथवा 'खिचडो भाषा' के नाम से अभिहित किया है। किसी भाषा के सम्बन्ध मे उसके रूप अथवा क्षेत्र-निर्णय करने मे उसके कारक, क्रियापद एव सर्वनामो का परीक्षण ही विशेष महत्त्व रखता है। यद्यपि विभिन्न भाषाओ मे विभिन्न

---

१ – रज्जब बानी, ग्रन्थ दोष दरीबै छन्द–१
२ – रज्जब बानी, पद भाग–राग मलार, पद–१

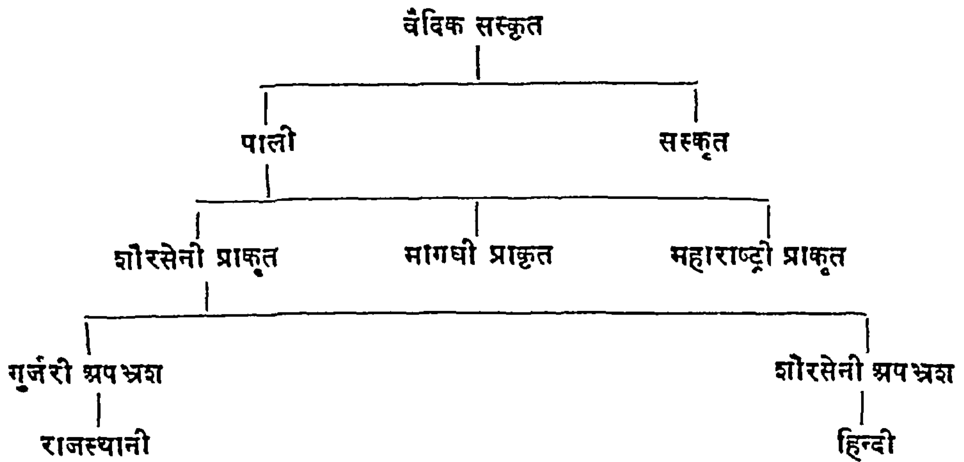
वस्तुओं के लिये भिन्न शब्दो का प्रयोग होता है, किन्तु भाषाओं की वस्तु संज्ञा-भिन्नता इतनी व्यापक नही जितनी कारक, अव्यय, सर्वनामो एवं क्रियापदो की भिन्नता। उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायेगा—

भाषा	सर्वनाम	अव्यय	कारक
हिन्दी खड़ी बोली	हमारा, तुम्हारा	निकट	का
अवधी	हमार, रउरे, रावरे, तुम्हार	नियर नेरे	केर या कर
ब्रज	हमारो, तुम्हारो	ढिग	को
राजस्थानी	म्हारो, थारो	कने	र, रा
पंजाबी	हमारा, तुम्हारा या तुहडा	नेड़े नेड़ा	दा
गुजराती	मारो, तमारो	पासे	नू
मराठी	माझा, तुझा	जवल	चा
बंगला	आमार, तोमार	काछे	र, रा

रज्जबजी की भाषा कबीर-परम्परा की भाषा है। रज्जबजी के गुरु दादूदयाल की भाषा से मिलती जुलती है, अंतर केवल इतना है कि कबीर की भाषा कटु, कठोर-शब्द बहुला है तथा दादूजी की भाषा अपेक्षाकृत मधुर, सरस तथा कोमल है। दादू और रज्जबजी की भाषा मे कबीर की अपेक्षा अधिक साहित्यिकता एवं मनोहारिता है। कहना चाहिये कि इन महात्माओं की भाषा काव्यानुवर्तिनी है। रज्जबजी के काव्य में यो तो प्रधानतया राजस्थानी भाषा का प्रयोग लक्षित होता है, किन्तु बीच-बीच मे पंजाबी, गुजराती, उर्दू, फारसी, संस्कृत का भी पुट मिलता है। अनेकानेक भाषाओं की शब्दावली के मिश्रण के कारण इन संतों के काव्य का भाषा-शास्त्रीय अध्ययन दुष्कर है। कबीर की भाषा पर यदि भाषा विज्ञान की दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न किया जाय तो वह सम्भव नहीं। इसमे दो मत नही हो सकते कि यदि कबीर की भाषा की शास्त्रीय विवेचना हो सकती तो उस परम्परा के सभी संतो की भाषा पर सुविधा से भाषाविज्ञान सम्मत निर्णय प्रस्तुत किये जा सकते थे। कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है, क्योंकि वह खिचड़ी है। कबीर की रचना मे कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं, परन्तु भाषा का निर्णय अधिकतर शब्दों पर निर्भर नहीं है। भाषा के आधार क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारक चिन्ह हैं, जो वाक्य-विन्यास की विशेषताओं के लिये उत्तरदायी होते हैं। कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रियापद, कारक चिन्हादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं।[1] यह

१—कबीर ग्रन्थावली की भूमिका—सं० डा० श्याम सुन्दरदास

कथन रज्जब जी की भाषा के सम्बन्ध में भी पूर्णत: सत्य है। भारतीय आर्य-भाषाओ का सक्षिप्त चित्र प्रस्तुत करना चाहें तो इस प्रकार कर सकते हैं—



यहा पर हमारा विवेच्य राजस्थानी भाषा है। राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत यो तो अनेक बोलिया हैं परन्तु मुख्य बोलियो को हम पाच श्रेणियो मे विभक्त करेंगे। मारवाडी, ढूढाडी, मालवी, मेवाती और बागडी। यह श्रेणी-विभाजन उन क्षेत्रो के आधार पर है जिनके आधार पर इनका नामकरण तथा विभाजन किया गया है।

मारवाडी को प्राचीन काल में मरुभाषा भी कहते थे। यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर तथा सिरोही राज्यो मे प्रचलित है तथा अजमेर, मेरवाडा, किशनगढ, पालणपुर के कुछ भागो, जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश, सिन्धप्रात के कुछ भागो में, जोधपुर और उसके आस पास के कुछ स्थानो में बोली जाती है। मेवाडी इसी मारवाडी की उपबोली है। ढूढाडी का क्षेत्र शेखावाटी प्रान्त को छोड कर पूरा जयपुर राज्य, लावा, किशनगढ, टोक तथा अजमेर-मेरवाडे का उत्तरी पूर्वी भाग है। इस भाषा पर गुजराती और मारवाडी दोनो भाषाओ का प्रभाव है। इसकी साहित्यिक कृतियो मे ब्रजभाषा का भी यत्किंचित् प्रभाव है। ढूढाडी का बूदी और कोटे मे प्रचलित रूप हाडोती नाम से विख्यात है। इन दोनो भाषाओ में नाम मात्र का अतर है। मालवा प्रान्त की भाषा मालवी है। मेवाड तथा मध्यप्रदेश के कुछ भागो में यह व्यवहृत होती है। इसमें मारवाडी और ढूढाडी दोनो की विशेषतायें विद्यमान् हैं। कही-कही मराठी का प्रभाव भी है। यह कर्णमधुर और कोमल भाषा है। मालवे के राजपूतो में यह रागड़ी नाम से विश्रुत है। मेवाती का प्रचलन अलवर-भरतपुर राज्य के उत्तर पश्चिम भाग है तथा दिल्ली के दक्षिण में गुडगाव में बोली जाती है। इस पर ब्रज भाषा का

विशेष प्रभाव है। बागडी, डूगरपुर और बासवाडा के सम्मिलित राज्यो का प्राचीन नाम बागड है। उस प्रदेश की भाषा बागडी कहलाती है। यह मेवाड के दक्षिण भाग मे बोली जाती है। इस भाषा को डा० ग्रियर्सन ने भीली नाम दिया है। इन पाचो बोलियो के कुछ समानार्थक शब्दो का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

मारवाड़ी	ढूंढाड़ी	मालवी	मेवाती	बागड़ी	हिन्दी खड़ी बोली
१–एक	एक	एक	एक	एक	एक
२–कजुस	मूजी	मूजी	माखीचूस	सामटा	कजूस
३–कनै	कनै	रे कनै	के ये	नै	के पास
४–थोडो सो	थोडो सो	थोडो	कछु	थोडोक	थोडा सा
५–धन	धन	माल	माल	धन	धन
६–हो	'छो	थो	यतो हो	हतो	था
७–उणनै	ऊनै	वणी नै	वालू	अंने	उसे
८–रोजीणा	हरभगत	सदाई	सदा	दाहडी	हमेशा
९–इणबात	यो	ओ	याई	ई	
१०–रो	ही	,,	,,	,,	यह
११–उर	उर	उर	उर	वीक	उर
१२–रैवतो	लग्यो छो	रह्यो-लग्यो रेत्यो थो	वणो रह हो	लागीरेती	लगा रहता था

रज्जव जी ने अपने काव्य मे जिस भाषा का प्रयोग किया है वह किसी एक प्रदेश की भाषा नही है। उसमें राजस्थानी की सर्वाधिक विशेषतायें अवश्य विद्यमान् हैं। प० मोतीलाल मेनारिया जब यह कहते है, 'ढूढाडी में प्रचुर साहित्य है। सत दादू और उनके शिष्य प्रशिष्यो की रचनायें इसी भाषा में हैं' तो उनका यही आशय है कि इन सतो की भाषा राजस्थानी प्रधान है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उस पर अन्य भाषाओ का प्रभाव नही है। रज्जब जी की भाषा पर जिन बोलियो अथवा भाषाओ का प्रभाव है उनमें ब्रज, अवधी, खडी बोली हिन्दी, पजाबी, गुजराती, मराठी प्रमुख है। यह मानना भी असगत नही कि रज्जब जी की भाषा राजस्थानी तथा उसकी एक बोली ढूढाडी के लक्षणो से विशेष अभिभूत है,[1] यद्यपि राजस्थानी को उपर्युल्लिखित पाचो

---

१ –"सत दादू और उनके शिष्य प्रशिष्यों की रचनाए इसी भाषा में है।" राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १० ले० प० मोतीलाल मेनारिया।

बोलियो का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । इन भाषाओ के अतिरिक्त फारसी और सस्कृत की छाया भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है ।

'सर्वंगो' में तो रज्जबजी ने कतिपय सस्कृताचार्यों के श्लोक उद्‌धृत किये हैं तथा स्वय भी अपभ्रशाधारित अव्याकृत सस्कृत मे कुछ काव्य पक्तिया लिखी है। फारसी मे रज्जबजी ने शेर (बैंत) लिखे है किन्तु वे भी फारसी भाषा की व्याकरणसम्मत शब्द-योजना से विरहित है। रज्जब बानी मे भी फारसी के कुछ बैंतो तथा शब्दो का प्रयोग हुआ है ।

रज्जबजी ने अपनी रचनाओ मे कदे (कभी), कने (निकट) हुवै (हो), री, अर (और) ऊभे (खडे), लो (साथ), छाना (छिपा हुआ) आदि राजस्थानी भाषा के शब्दो का प्रयोग किया है । अपभ्रश की शैली मे तत्त (तत्व), दत्त (दिया), कद (कद), चद (चद), जक्क (जक), बक्क (बकना), धक्क (आघात) आदि शब्दो का प्रयोग किया है ।[1] पजाबी मे 'न' के स्थान पर 'ण' का

---

१ – (क) लो हिन्दू न तुरक, ह्वै, रह थक्क पाई जक्क गुरु बक्कं ।
सूर न सक्क, डरै न धक्क, मधि मध तक्क नह चक्कं ।।
गुण छेद मधि अग, कवित्त ४

रज्जबजी के भेंट के सवैये—

(ख) · · सो तत्तं दादू दत्त ।
—छद जाति त्रिभगी सुमिरण का अग, कवित्त ४

(ग) अतरि यहि अतर घणा, कीचहि बीच अपार
—विरह का अग, साखी १०

(घ) रज्जब परसै पार हुवै, कठिन सो यहु काज ,
—साधु सगति या सत्संग का अग, साखी ८

(ङ) जन रज्जब के जीव कन, सो न कराई नाथ ,
—विनती का अग, साखी १२६

(च) जीव कृत्य जगदीश कन, काया कदे न जाय ,
—विनती का अग, साखी ८८

(छ) रज्जब रहिये सगतिन्ह, विविध वहानू लार ,
—साधु मिलाप मगल उत्साह का अग, साखी ७

(ज) मैं मेरा पागा मुदा, मन का विस्वावीस
रज्जब खोटा तू सही, तौत्यानहि जायीत ।—सा० ४६

(झ) मिहरि तुम्हारी ऊबरै, साचा सिरजन हार । सा० ५१

(ञ) तो रज्जब तुझकू मिलै, नहि माया नहि जाय ।—सा० १२०

(ट) रज्जब री कथा सुणि पडो ।
—रज्जबजी के भेंट के सवैये, गीत १

प्रयोग होता है, रज्जवजी की रचनाओ मे भी 'ण' का प्रयोग मिलता है। व्रज और अवधी के शब्द तो वाहुल्य से प्रयुक्त है। खडी बोली के अव्यय क्या, कौन, कैसे; सर्वनाम पद किसका, उसका, तुझको, मुझको, मैं, मेरा, तू, तेरा, तुम्हारा, क्रियापदो मे था, हुआ, गया, जाना है, जाइये आदि का प्रयोग किया है। हम यह कह चुके हैं कि खडी बोली के निर्माण मे स कवियो की भापा का महत्त्व-पूर्ण योग है। फारसी के वैंत भी रज्जवजी ने लिखे है जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। यहा एक वैत उदाहरण के लिये पर्याप्त है—

हर इक नफस कि मीरवद, अजा उमरि गोहरेस।
कारा रिव राज मुलकहू, आलम वहावुअद ॥

इसके प्रथम चरण का उत्तरार्द्ध तथा दूसरा चरण भाषा-भ्रष्ट एव व्याकरण की दृष्टि से असगत है। लगभग सभी वैत अशुद्ध ही मिलते हैं, कुछ तो हस्त-लिखित प्रतिया तैयार करने वाले महानुभावो का अज्ञान भी इसका कारण है। रज्जवजी ने सस्कृत विद्वानो और विचारको के जो श्लोक प्रस्तुत किये हैं वे भी अशुद्ध हैं—कारण यही था कि रज्जबजी बहुश्रुत थे, सुपठित न थे और न विशेष शिक्षित ही थे।[1] सुनी हुई रचनाओ में पाठ दोष उत्पन्न हो जाने के लिये सदैव अवकाश रहता है।

निष्कर्षत हम रज्जवजी की भाषा के सम्बन्ध मे यही कहेगे कि वह पाच-छ भापाओ का सम्मिश्रण है। वह कोई एक ऐसी स्वतत्र भाषा नही है जिस पर व्याकरण के नियमो और सिद्धान्तो के अनुसार विचार किया जा सके, अथवा उसके शब्दो का व्युत्पत्ति-मूलक अध्ययन किया जा सके। सक्षेप में हम इतना ही कहेंगे कि रज्जवजी ने सत कवियो की रचनाओ में प्रचलित बोलियो के समस्त रूपो का अपनो रचनाओ मे प्रयोग किया है। रज्जबजी की भाषा राजस्थानी तथा खडी बोली के निकट है। व्रज और अवधी का लोच, पजावी की परुषता, खडी बोली का सस्कार, मराठी की गम्भीरता, गुजराती की मृदुलता रज्जवजी की भापा के विविध अग हैं जो राजस्थानी भाषा के परिधान से अलकृत है।

रज्जव साहित्य के भापा सम्वन्धी विचारो का उपसहार करने से पूर्व आव-श्यक हो जाता है कि रज्जवजी का भापा-सम्वन्धी दृष्टिकोण भी समझ लें। वे भापा को सार्वजनीन वनाने के पक्षपाती हैं। रज्जवजी के विचार से प्राकृत सस्कृत का मूल है तथा उसी ने सस्कृत को जन्म दिया है।

---

१ – 'महात्मा रज्जब' लेखक पुरोहित हरिनारायण शर्मा, राजस्थान पत्रिका, कलकत्ता।

आदि जु प्राकृत मूल है, अंत पराकृत पान।
रज्जब विचि वृक्ष संस्कृत, फल रथ कौने थान।।
रज्जब बानी, वाणी विचार का अंग, सा० २

यहा पर भाषा वृक्ष का मूल और शिखा प्राकृत को बताया गया है तथा संस्कृत को बीच का खण्ड सिद्ध किया गया है। सिद्ध भाषा-शास्त्री की ज्ञान-परम्परा में ही प्राकृत का परिचय उनकी इस मान्यता में प्राप्त होता है कि प्राकृत से ही सस्कृत उद्‌भूत हुई है। रज्जबजी इसी को भाषा-भेद की सच्ची जानकारी मानते हैं।

पराकृत मधि ऊपजै, सस्कीरत सब वेद।
अब समझावै कौन करि, पाया भाषा भेद।।
वाणी विचार का अंग, साखी ४

प्राकृत सूर्य के समान है तथा सस्कृत में लिखे गये निगम (वेद) नेत्रो के समान हैं परन्तु जिस प्रकार सूर्य के बिना नेत्र व्यर्थ हैं उसी प्रकार प्राकृत के बिना सस्कृत शक्तिहीन है।

प्रकट पराकृत सूर सम, निगम नैन उनहार।
जन रज्जब जगि येक बिन, चहू ओर अंधार।।
वाणी विचार का अंग, साखी ५

जो शरीर में प्राण का महत्त्व है वही सस्कृत में प्राकृत का। प्राकृत के बिना शब्द की सिद्धि नही होती—

प्यंड प्राण बिन कछु नहीं, शब्द न साधति होय।
तैसे रज्जब सस्कृत, बिना जु प्राकृत जोय।।

सस्कृत अपने बीज रूप में प्राकृत ही थी—यह परिवर्तन तो बाद में हो गया—

बीज रूप कछु और था, वृक्ष रूप भया और।
त्यो प्राकृत ते सस्कृत, रज्जब समझा ब्यौर।।

अंत में रज्जबजी प्राकृत और सस्कृत दोनो को मिथ्या मानते हैं, यदि उनमें राम-नाम की महिमा का वर्णन नही है, गान नही है—

रज्जब वाणी सत्य सो, जामें है निज नाम।
कहा पराकृत सस्कृत, राम बिना वे काम।।
साखी १३

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लिखित रज्जबजी की भाषा विषयक धारणा से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वे लोक-भाषा अथवा जन-भाषा को विशेष महत्त्व देने के पक्ष में हैं।

अध्याय ६

रज्जब साहित्य में मानव जीवन के विविध पक्ष

(क) लौकिक पक्ष (ख) आध्यात्मिक पक्ष

मानव-सस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी वस्तु अथवा क्रिया का मूल्याकन लोक-हितैषणा एव लोक-निर्माण की भूमिका पर होता रहा है। वह व्यक्ति साधू माना गया जिसने परहित के लिये अपने सारे सुख और ऐश्वर्यों से मुह मोड लिया और अपने आपको जनजनार्दन की सेवा के लिये समर्पित कर दिया। वह वस्तु सुन्दर बन गई जिसका लोक-जीवन को निर्विघ्न बनाने मे कुछ भी उपयोग हो सका तथा वह कार्य मगलमय सिद्ध हुआ जो लोक-हृदय मे सद्वृत्तियो की रचना का कारण बन गया। सदसद् विवेक को परिभाषित करने के लिये भी उपर्युक्त धारणाओ का आश्रय लेना पड़ता है। विश्व की नाना वस्तुओ के विस्तार मे मानव की सत्ता श्रेष्ठतम सिद्ध हुई तथा उसकी विभूति सर्वोत्कृष्ट। मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष ससार मे केवल मानव जाति को ही प्राप्त हो सके। अन्य जीवो की सत्ता-सीमा का अर्थ अन्नमय कोप मे है और उसकी इति प्राणमय कोष मे। इन्ही कतिपय विशिष्टताओ की यत्न मुक्त स्वाभाविक उपलब्धि ने मनुष्य को ससार के समस्त जीवनधारियो में उत्कृष्टतम बना दिया। मानवसृष्टि को हम उसके क्रमिक विकास की दृष्टि से दो अवस्थाओ में विभक्त कर सकते हैं।

(क) मानव-प्रकृति-प्रधान अवस्था।

ख) मानव-सस्कृति-प्रधान अवस्था।

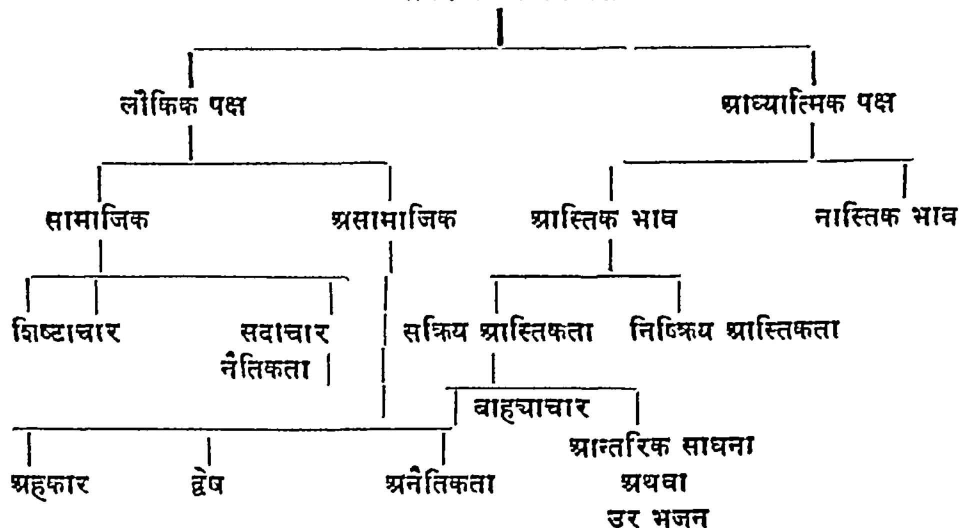
यहा प्रकृति से तात्पर्य मनुष्य के स्वभाव से है। जब मनुष्य अपनी प्रकृति-प्रेरित रुचि के अनुसार व्यवहार करता है तो हम उसकी उस अवस्था को प्रथम श्रेणी के अतर्गत रक्खेंगे। मनुष्य इस स्थिति को एक लम्बे युग तक इसलिये चला सका कि वह सघ अथवा समाज-निरपेक्ष जीवन बिताता था। किन्तु सामाजिक सघटना मे उसे अपनी मनः-प्रेरित वृत्तियो को नियन्त्रित एव सवृत करना पडा। कहने का आशय यह कि समाजबद्ध हो जाने पर मनुष्य को अपनी रुचि और दूसरे की रुचि में एक सधिबिन्दु खोजना पडा—उसे अपने मन के साथ साथ दूसरे के मन का भी ध्यान रखना पडा। स्व और पर का सम्मिलन मानव सस्कृति की यात्रा की पहली मजिल है तथा स्व का पर में लय उसका चरम

गन्तव्य है। परहितार्थ आत्म-विसर्जन ही मानव सस्कृति का रहस्य है। सभ्यता और सस्कृति में अन्तर है। मनुष्य के अशन, वसन और वासन की व्यवस्था उसकी सभ्यता का आधार है तथा उसका आचार-विचार सृजनादि उसकी सस्कृति के अग है सभ्यता शरीर है तो सस्कृति उसकी आत्मा—एक स्थूल है दूसरी सूक्ष्म। मनुष्य द्वारा उसकी अन्त -वृत्तियो का लोकहिताय नियमन करना ही मानव सस्कृति का उच्चतम आदर्श है। मनुष्य के समाज रूप में आबद्ध हो जाने पर सस्कृति का बहुमुखी विस्तार हुआ। उसका कारण यह था कि समाज-सापेक्ष जीवन में सेवा, परोपकार, मगल चिन्तन के अधिक अवसर आने लगे।

किसी एकान्त गिरि गुहा में तपोनिरत मुमुक्षु योगी का समाज-निरपेक्ष ध्यान, मनन एव चिन्तन सस्कृति का निर्बल अग ही बन सकते है—सबल नही। किन्तु यदि वह एकान्त वास में अपने कठोर तप मे समष्टि के मगल का भाव रखता है तो वह निश्चय ही मानव संस्कृति को गति एव बल देता है। यह समाज केवल मनुष्य तक ही सीमित नही—पशु पक्षियो, अगणित जीवो, वनस्पतियो तक इसका विस्तार है। कालिदास की शकुन्तला तो वृक्षों-लताओ के प्रति भी अहिंसा का भाव रखती थी। इस दिशा में भारत की सस्कृति अधिक उत्कर्षशालिनी रही। किसी देश का धर्म वहा की सस्कृति के अङ्क में ही पोषित होता है।

इसी संस्कृति और धर्म की सगति जिस साहित्य में व्याप्त है उस साहित्य में लोक-जीवन को मगलमय पथ पर अग्रसर करने की अपूर्व शक्ति एव अद्भुत प्रेरणा अन्तर्निहित रहती है। ऐसे साहित्य को ही साहित्य की सज्ञा दी जाती है। भारत के भक्त कवियो ने विपुल सत्साहित्य की रचना की। इन भक्तो में निर्गुणोपासक सन्तो ने मानव की अन्त -साधना पर अपना ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित किया—बाह्याचारो के स्थान पर अन्त करण के परिष्कार के लिये इन सन्तो का विशेष आग्रह रहा। सस्कृति एव साहित्य के सम्बन्ध की इस पूर्वपीठिका पर रज्जब साहित्य का परीक्षण करके हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उन्होने जीवन के प्राय. समी पार्श्वों का सम्यक दर्शन करते हुए मानव में व्याप्त सत को जागृत कर के असत् को नष्ट करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। मानव की प्रवृत्तिया ही उसके निर्माण अथवा विनाश का मूल हेतु हुआ करती हैं। अस्तु रज्जब जी के साहित्य में दुष्प्रवृत्तियो के प्रति सर्वत्र भर्त्सना का भाव पाया जाता है। एतद्विषयक समीक्षा के लिये प्रस्तुत प्रसग में हमें आचार अथवा साधना पर किसी शास्त्र का उल्लेख न कर केवल रज्जबजी के विचारो से ही परिचित होना है।

मानव जीवन के विविध पक्षो का सर्वांगीण अध्ययन करने के लिये हम जीवन को मूलत दो कोटियो मे विभक्त कर सकते हैं, पहला लौकिक पक्ष और दूसरा आध्यात्मिक पक्ष। लौकिक पक्ष के लिये हम 'भौतिक' शब्द का प्रयोग जानबूझ कर नही कर रहे हैं। जीवन के इन विविध पक्षो का एक समग्र चित्र हमारे सामने आ जाय, इसके लिये हम इनका एक रेखा-चक्र प्रस्तुत करना समीचीन समझते हैं। इसमे हमने मानव की बहुविध वृत्तियो को दृष्टिगत रखते हुये ही उन्हें श्रेणीबद्ध करने का प्रयत्न किया है—



जीवन के विविध पक्षो के इस वशवृक्ष का अविकल स्वरूप रज्जबजी के साहित्य में प्राप्त होता है। उन्होने जीवन के दो मूल पक्षो—लौकिक तथा आध्यात्मिक—का विस्तृत चित्रण किया है। लौकिक-पक्ष के भेद-प्रभेद भी उनके साहित्य में वर्णन के विषय बने हैं। आध्यात्मिक पक्ष रज्जबजी की आस्था का मुख्य आधार है। आध्यात्मिक पक्ष के आस्तिक भाव वाले पक्ष की ही रज्जब-साहित्य में प्रचुरता है। नास्तिक भाव की अप्रत्यक्ष चर्चा उनके ग्रथ 'जैन जजाल' में अत्यन्त सक्षिप्त रूप से की गई है। उसमे भी जैनियो के मिथ्याडम्बर पर अधिक चोट की गई है—नास्तिकता पर प्राय नही के बराबर। एक स्थान पर सात आठ पक्तियो में साख्य मत का उल्लेख किया गया है, किन्तु वहा साख्य को ब्रह्मोपासना के एक मार्ग के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। मानव जीवन के इन विविध पक्षो का वर्णन निर्गुण भक्तिमार्गी सन्तो ने 'अगो' में किया है। नाथपथी योगियो ने भी इन विविध पक्षो का अपने साहित्य में निरूपण किया है। निर्गुण सन्तो में इस 'अग' परम्परा मे वर्णन करने का प्रारम्भ

कबीर ने किया। यह अग शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। एक तो वर्ण्य विषय के अध्याय के रूप में और दूसरे वर्ण्य विषय अथवा 'पक्ष' का बोध कराने वाले शीर्षक के रूप मे। उदाहरणार्थ 'विरह का अग' जहा दिया है उसका आशय विरह का अध्याय भी है तथा विरह का विषय भी। हम सर्व प्रथम रज्जब जी के साहित्य मे निरूपित लौकिक पक्ष का विवेचन करेंगे।

(क) लौकिक पक्ष :—

ससार की सत परम्परा के इतिहास का अवलोकन करने से इस बात का पता चलता है कि जो सत केवल अपने लिये मोक्षकामी बन कर समाज से दूर किसी एकान्त गिरि-गुहा मे साधना करते रहे, उनके द्वारा सामान्य लोक पीडा के निवारण का वैसा सक्रिय प्रयत्न नही हो सका, जैसा उन सतो द्वारा जो समाज के वीच मे रहते हुये अपनी व्यक्तिगत साधना करने के साथ-साथ समाज में सात्विक वृत्तियो के प्रसार के लिये अपने जीवन का बहुमूल्य समय भी देते रहे, इतना ही नही, समाज मे पावन मर्यादाओ की स्थापना मे प्राणोत्सर्ग भी करते रहे। अध्यात्म के क्षेत्र मे भी मनुष्य के स्वार्थ और परमार्थ परीक्षित होते रहे। कुछ महात्मा ऐसे हुये जिन्होने अपनी साधना को अपने निजी मोक्ष मे ही केन्द्रित किया तथा दु ख-दग्ध जन साधारण का यह कह कर तिरस्कार करते रहे कि उन्हें अपने पूर्व सचित कर्मों का फल तो भोगना ही पडेगा, किन्तु महात्माओ की एक ऐसी भी श्रेणी रही है जिसके द्वारा लोकव्यथा और पीडा के शमन एव निवारण का अनवरत प्रयत्न चलता रहा। यहा तक कि यदि आवश्यकता हुई तो उन्होने पतित से पतित जीव के उद्धार के लिये अपने मोक्ष अथवा स्वर्गारोहण को तिरस्कृत कर दिया। महाभारत के युधिष्ठिर अपने शरणागत श्वान के लिये स्वर्ग से आये हुये विमान मे तब तक न बैठे जब तक उनके सहचर श्वान को विमान मे न बिठा लिया गया। इस धरा के समस्त प्राणी मुक्त हो, एक ओर यह परमार्थ का भाव, दूसरी ओर समाज की उपेक्षा कर के अपने निजी मुक्तिलाभ के लिये अथक उद्योग करने वाले साधको का स्वार्थ, साधना का यह द्विविध क्रम अद्यावधि चलता आया है। किन्तु लोकोपकारी महात्मा वही माने गये जो समाज की मुक्ति कामना से प्रेरित होकर अपने प्राण-रस से इस धरित्री के प्राणियो का प्रोक्षण करते रहे। ऐसे महात्माओ की साधना एव कार्यकलाप किसी एक सम्प्रदाय अथवा वर्ग तक ही सीमित नही रहे। वे एक सम्प्रदाय मे दीक्षित होकर भी सभी सतप्त प्राणियो को अपनी लोक-हृदय-विश्रामदायिनी कृपा की छाया से उसी प्रकार शान्ति और आत्म-ज्ञान प्रदान करतेर हे, जैसे धरा के एक छोटे से खण्ड मे वटवृक्ष अकुरित होकर एक सकीर्ण परिधि मे विकसित

होकर बिना किसी भेदभाव के अपनी प्रशस्त छाया द्वारा समस्त पथिकों का ताप हरण करता है। ऐसे महात्माओं की अपनी साधनापद्धति व्यक्तिनिष्ठ न होकर समाजनिष्ठ हुआ करती है। वे एक ऐसी पद्धति का आश्रयण करते हैं जिसे सामान्य समाज अपनी साधना का आधार बना सके। एक वाक्य में कह सकते है कि ऐसे सत धर्म एव सदाचार का सामूहिकीकरण करते रहते हैं। धर्म को व्यक्ति की सीमा के बाहर ला कर उसे सार्वजनिक बना देते हैं। ऐसा करने के लिये सामान्य समाज की सामर्थ्य तथा धर्मसाधना की कठोरता के मध्य में एक ऐसा सन्धि-बिन्दु खोज निकालते हैं कि धर्म एक व्यक्ति की सम्पत्ति न हो कर सामान्य जनधारणा का विषय बन जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, सुकरात, दयानन्द, रामकृष्ण परमहस, विवेकानन्द, गान्धी, विनोबा, दूसरी ओर कबीर, तुलसी, नानक, दादू, रज्जब, सुन्दर ऐसे ही महात्माओं में थे जिन्होंने समाज को यह व्यावहारिक शिक्षा दी कि मनुष्य साधना मे यदि सतत लगा रहे तो एक बार सफलता अवश्यम्भावी है। महात्मा और एक सिद्धभिषज की कार्यप्रणाली मे बडा साम्य है। जिस प्रकार वैद्य शारीरिक व्याधियों के शमन के लिये एक ओर तो रोगी को औषधि देता है, दूसरी ओर सयम (परहज) बताता है। औषधि का ग्रहण और स्वाद का त्याग इन दो का पालन वैद्य कराता है। महात्मा तो मनुष्य की अन्तर्व्याधियों का चिकित्सक है। एक ओर वह उसे मुक्तिलाभ के लिये परमात्म-पथ की औषधि देता है, दूसरी ओर सासारिक इन्द्रिय-विषय-त्याग का आग्रह करता है। वैद्य औषधि देने तथा परहेज के आग्रह के साथ ही रोगी को कुछ सुपच-पथ्य भी बताता है, महात्मा परमात्म सेवन तथा विषयत्याग के साथ-साथ नैतिक और सदाचार की सीख भी देता है। औषधि ग्रहण तथा स्वादिष्ठ वस्तुओं के त्याग के साथ जिस प्रकार सुपच पथ्य की आवश्यकता है उसी प्रकार मुक्ति के लिये परमात्म साधन एव विषय त्याग के साथ-साथ लौकिक धर्म साधन का पथ्य भी आवश्यक है। लौकिक धर्म आध्यात्मिक साधना में मुक्ति-लाभ के लिये पथ्य का कार्य करता है। लौकिक धर्म के अन्तर्गत नीति, सदाचार, शिष्टाचार, मैत्री भाव, समाज सेवा, परहित साधन, दूसरों के प्रति कृपा-करुणा का भाव, मृदु भाषण आदि आते हैं। आध्यात्मिक साधन के अन्तर्गत हम इन्द्रिय निग्रह, मनोनिग्रह, चित्त की एकाग्रता, ईश-भजन आदि लेगे।

रज्जब जी ने अपनी साधना में जीवन के लौकिक पक्ष और आध्यात्मिक पक्ष दोनों को यथापेक्षित महत्त्व प्रदान किया है। आध्यात्मिक धर्मसाधना के लिये रज्जब जी लौकिक धर्मसाधना के जिन अगो को उपयोगी एव आवश्यक मानते हैं अथवा जिन अगो को हम जीवन के विविध पक्षों के रूप में मान सकते

हैं, उन पर विचार करने का प्रसग यहा उपस्थित है। रज्जब जी ने लौकिक धर्म-साधना और परम धर्मसाधना को जोडने वाली एक शृखला का भी उल्लेख किया है, वह शृखला है सद्गुरु और साधु की। सद्गुरु तथा साधुजन कर्तव्य का बोध करा कर अथवा लौकिक धर्मसाधना की विधि बता कर परम धर्म-साधना-पथ पर साधक को अग्रसर करता है। सद्गुरु ही लोक और निर्वाण अथवा जीव और ब्रह्म के बीच की सधिशृखला है। रज्जब जी ने भी सतगुरु को जीव और ब्रह्म के बीच सौदा कराने वाला 'दलाल' बताया है।

रज्जब जी ससार के द्वन्द्वात्मक स्वरूप से परिचित थे। यही कारण है कि उन्होने अपने काव्य मे प्रत्येक विषय के दोनो पक्षो पर प्रकाश डाला है। सत-गुरु, असत्, असत्गुरु, शिष्य-कुशिष्य, ज्ञान तथा अज्ञान, नीति तथा अनीति, कृपा तथा क्रोध, सत्य तथा असत्य, प्रीति तथा वैर, वैराग्य तथा आसक्ति, आज्ञा-कारिता तथा अनाज्ञाकारिता, सत्सग तथा कुसगति, मिलाप तथा विछोह, दया तथा द्वेष, सुकृति तथा कुकृति, पुण्य तथा पाप, स्तुति तथा निन्दा, अहिंसा तथा हिंसा, निवृत्ति तथा प्रवृत्ति, निष्काम तथा सकाम, सार तथा असार, परमार्थ तथा स्वार्थ, सुमति और कुमति आदि जीवन के नाना पक्षो को द्वन्द्वात्मिक रूपो में प्रस्तुत किया है। अत हम यहा पर रज्जब जी द्वारा वर्णित मानव जीवन के लौकिक पक्षो पर उनके परस्पर विरोधी युग्मो अथवा द्वन्द्वो पर साथ-साथ ही विचार करेंगे।

साधु असाधु

साधु पुरुष के लक्षणो के निदर्शन में रज्जब जी ने एक मनोवैज्ञानिक क्रम का निर्वाह किया है। सर्व प्रथम उन्होने साधु के लक्षणो एव विशेषताओ का चित्रण किया है। साधु में कौन-कौन से गुण होने चाहिये, उसमें किस साधना की सम्पत्ति होनी चाहिए, इसका विवेचन किया गया है। इसके उपरात साधु और असाधु का अतर बताते हुये उनकी भिन्नतासूचक आधारभित्तियो का उल्लेख एव उनके विविध लक्षणो का वर्णन किया गया है। इस प्रसग के अत मे साधु-महिमा का वर्णन है। उसके आध्यात्मिक ऐश्वर्य एव साधनात्मक प्रभाव को सुस्पष्ट शैली मे अकित किया गया है। किसी वस्तु के सम्यक् परिचय की यही मनोवैज्ञानिक पद्धति हो सकती है। सर्व प्रथम वस्तु की विशेषताओ का वर्णन, तत्पश्चात् अन्य विरोधी गुण वाली वस्तु से उसकी तुलना एव भेदनिरूपण, और अत में उस वस्तु के प्रभावात्मक परिणाम एव आन्तरिक वैभव का अभिव्यक्ती-करण। परिचय, तुलना अथवा विश्लेषण तथा प्रभाव, यही क्रम वस्तु के अन्त-

रङ्ग अथवा वहिरङ्ग दोनो पक्षो मे सार्थक एव उपयुक्त सिद्ध होता है। रज्जव जी का साधु सम्वन्धी वर्णन का क्रम है—

(क) साधुपरीक्षा का अग । (ख) साध-असाध-परीक्षा का अग । (ग) साधमहिमा का अंग । (घ) साध-सगति-परम-लाभ का अग। (ङ) साध का अंग।

इनमे प्रथम चार का तीन में समाहार हो जाता है। साधसगति परम लाभ के अग का विषय साधमहिमा के अग में ही अन्तर्भूत किया जा सकता है। अन्तिम साध का अग एक प्रकार का परिशिष्ट ही माना जायेगा। उक्त साधु-असाधु-विषय को हम मानवजीवन के लौकिक पक्ष के अन्तर्गत रख रहे हैं। इसका कारण यह है कि हमारे दैनिक आचार-व्यवहार में साधु और असाधु दोनो की आवश्यकता है। लौकिक आचारो मे ही साधु की परख हो जाती है। सामाजिक जीवन में एक गृहस्थ के हृदय में यदि साधभावना उदाराशयता एव परोपकारिता न हो तो समाज की मर्यादाओ में विषमता उत्पन्न हो जाय। लौकिकता और आध्यात्मिकता मे कुछ विशेष अंतर नही है। यदि किसी व्यक्ति का लौकिकपक्ष दुर्बल है तो आवश्यक नही आध्यात्मिक पक्ष दृढ हो। उधर आध्यात्मिकता के अभाव में लौकिक व्यवहार निर्वल और पगु वन सकते हैं। ईश भजन में रत महात्मा के लिये यह भी आवश्यक है कि वह समाज के लोगो के प्रति कृपा, करुणा एव नम्रता का भाव रखे और इसी प्रकार एक समाज मे रहने वाले व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह प्रत्येक प्राणी में व्याप्त परमात्मा-तत्व पर आस्था रखे। वह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' मान कर चले। उसके जीवन में यह मान्यता तभी व्यवहृत हो सकती है जव उसका यह अखण्ड विश्वास हो कि यह सस्कृति एक ही परम सत्ता से प्रकाशमान् है, सव कुछ उसी की विभूति है। ऐसा मान लेने से 'अय निज. अयपर' का भेद क्षीण हो जायेगा और वह सव जीवो में अपना ही चित्र देखेगा। सब के प्रति प्रेम और मैत्री का भाव रखेगा। परमेश्वर में आस्था विश्वमैत्री का मूलाधार है। इसके अभाव में मनुष्य का हृदय द्वेष का भण्डार बनता है।

रज्जब जी की दृष्टि मे साधुता जहा मानवजीवन का एक पक्ष है तो असाधुता उसका दूसरा पक्ष। क्योकि यह ससार परस्पर विरोधी गुण वाली वस्तुओं का आगार है। यह जगत् जड, चेतन एव 'गुणदोष मय' है। किन्तु रज्जव जी एक को वरेण्य तथा दूसरे को त्याज्य बताते हैं। अपनी इसी धारणा की पुष्टि के लिये वे साधु के गुणो और असाधु के दुर्गुणो का वर्णन करते हैं। साधु के लक्षणो की चर्चा करते हुये वे कहते है कि साधु को पहिचानना कठिन नही है। साधु के

हृदय मे हरिरूपी हीरा है जो प्रकाश कर रहा है। वह शरीर मे छिप नही सकता। वह उसी प्रकार दूर से दृष्टिगोचर होने लगता है जैसे भोडल के भीतर का दीपक दूर से ही चमकने लगता है।[१] शरीर से त्याग करने वालो की ससार मे कमी नही है किन्तु मन के त्यागी बिरले ही होते है।[२] रज्जब साधु और असाधु का भेद निर्दिष्ट करते हुये कहते है कि साधु और असाधु दोनो ही इसी लोक मे रहते है। किन्तु एक ऊर्ध्वगामी होता है और दूसरा अधोगामी। उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पर्वत मे निवास करने वाले जल और पाषाण मे जल तो ऊपर आकाश की ओर जाता हैं किन्तु पत्थर पृथ्वी नही छोड़ पाता।[3] भगवान् के हाथ मे तुला है, उसमे दो भावो के पलडे है। जड़ और चेतन तुलतें हैं किन्तु दोनो का मूल्य समान नही होता है। ठीक यही स्थिति असाधु और साधु की है।[४] तराजू के एक पलड़े मे वस्तु होती है, दूसरे मे बाट। किन्तु दोनो का मूल्य एक नही होता।[५]

साधु स्वर्ण है, असाधु खोटा पीतल है। दोनो का वाहर से रंग एक-सा भासित होता है किन्तु दोनो का परीक्षण करने से दोनो की भिन्नता का ज्ञान हो जाता है। रत्न और फिटकरी दोनो रूप रग मे एक से प्रतीत होते है किन्तु दोनो मे बडा अतर है। इसी प्रकार वेष से साधु-असाधु एक से लगते है पर वस्तुत भिन्न है।[६]

---

१ – हरि हीरा हिरदै बसै, सो घट छाना नाहि।
रज्जब दीसै दूरि सौं, ज्यू दीवा भोंडल माँहि॥
साधु परीक्षा का अंग, सा० ६

२ – तन त्यागी त्रिभुवन भरे, मन त्यागी कोइ एक। सा० १९

३ – पाणी अरु पाषाण के, पर्वत पिरथी माँहि।
एक समायें सून्य फिरि, एक अवनि सु छाडे नाहि॥
साधु असाधु परीक्षा का अग, सा० ७

४ – दोइ भाव के द्वै पले, तुला हाथि हरि माँहि।
जड चेतन सु तहां चढ़े, मोल एक सो नाँहि॥ १०

५ – वस्त बाट दोऊ तुलहिं, लिपै छिपै सो नाहिं।
रज्जब कही विचारि करि, ताको तुला सु माँहि॥ ११

६ – साधू सोने में जड़्या, खोटा पीतल आन।
जिन रज्जब मोलें बिकें, परख्यूं भिन्न बिना न॥ १३

साधु और असाधु ऊपर से समान लक्षित होते है किन्तु दोनो के अभ्यन्तर मे उसी प्रकार अतर है, जिस प्रकार साधारण जल और ईख का रस देखने मे एक सा प्रतीत होता है परन्तु पीने मे दोनो का अतर स्पष्ट हो जाता है।[1] कोयला और कौवा रूप-रग मे एक से होते है किन्तु दोनो के खान, पान और वाणी में अतर है। इसी प्रकार साधु और असाधु भी वेष में समान है परन्तु दोनो का अन्तर्पक्ष भिन्न है।[2] साधु सासारिकता के प्रतिकूल गमन करता है तथा ससार के लोग सीधे चलते है, साधु और सामान्य व्यक्ति में यही भेद है।[3]

रज्जबजी ससारपरायण व्यक्ति का और ससारविरक्त साधु का अतर आकने के लिये अत्यत सुन्दर उपमान का प्रयोग करते है। वे कहते है कि ससारी जन चन्द्र के समान है जिसके हृदय में श्यामता है, परन्तु साधु सूर्य की भाति चमकता है जिसमे पृथ्वी की छाया नही पडती।[4] इसके पश्चात रज्जबजी साधु जन के प्रभाव एव ऐश्वर्य का वर्णन करते है।

साधु पुरुष अगस्त्य की भाति शक्ति-सम्पन्न है। परमात्मा विशुद्ध सागर है। दोनो एक दूसरे के हृदय में समा गये—एक भी बूद बाहर न रह गया। साधु पुरुष भी परमात्मा रूपी सागर को अपने हृदय में समाहित कर लेता है[5]। साधु और परमेश्वर की महिमा का वर्णन करने मे रज्जवजी असमर्थता का अनुभव करते है। वे कहते है कि यदि बुद्धि पर इसके लिये भरोसा किया जाय तो वह अल्प है और यदि संसार में तुलना के लिये अनुमान से कार्य लिया जाय तो वह तुच्छ है। कठिनाई है कि परमात्मा और साधु पुरुष की महिमा का वर्णन कैसे

---

१ – रज्जव रतनों में फटक, रूप रग मिलि जाइ।
आगे आघ न एक ह्वै, बिकै न सो समि भाइ॥ वही, सा० १४
ऊपरि सत असत समि, अन्तरि अतर होइ।
रज्जव पानी ईख का, रूप एक रस दोइ॥ वही, सा० १७

२ – साधू कोयल काग जन, दरस एक अनुमान।
जन रज्जव बोलै विगति, अरु खान पान पहिचान॥ वही, सा० २०

३ – उलटा चले सो औलिया, सूधी गति ससार।
जन रज्जव यूं जाणिलें, इनका यहै विचार॥ सा० २३

४ – संसारी राकेस उर, झाई दरसे माहि।
साधू दल सूरजमयी, प्रतिबिम्ब पड़ै सु नाहिं॥ २६

५ – साध अगाध अगस्त है, साई सुद्ध समद।
उभ समाने उभै उर, रज्जव रही न बुद॥ साध महिमा का अग सा० ५

किया जाय ।[1] यहा पर रज्जब जी दोनो को समर्थ सिद्ध करते हैं । साधु पुरुष के लिये वे एक सुन्दर उपमान खोज लेते हैं । साधु द्वादश कलाओ से सम्पन्न सूर्य है जिसके उदय होने पर गुण रूपी तारे तथा अधकार विलुप्त हो जाते है। सूर्य के प्रकाश से ही नेत्रो मे देखने की शक्ति आती है तथा नेत्रो से देखने के पश्चात् ही ज्ञानचक्षु भी काम करने लगते हैं । आशय यह है कि सूर्य के न होने पर नक्षत्र चमकते हैं तथा नेत्रो मे देखने की क्षमता होते हुये भी रात्रि के अधकार मे कुछ नही दिखाई देता—वस्तुओ के न दिखाई पडने पर बुद्धि अथवा ज्ञानचक्षु भी काम नही करते । इसो प्रकार साधु पुरुष के अभाव मे गुण (सत-रज-तम) अपना प्रकाश करते रहते हैं । कोई व्यक्ति तब तक त्रिगुणातीत नही बन सकता जब तक साधु पुरुष का साहचर्य न प्राप्त हो तथा अविद्याधकार के कारण स्थूल नेत्रो से ससार को देखते हुये भी मनुष्य उसकी वास्तविकता को नही देख पाता उसका कारण है ज्ञाननेत्र का अभाव तथा यह ज्ञाननेत्र साधु पुरुष को कृपा से ही खुलते है ।[2] साधु पुरुप केवल एक रग (ब्रह्म) मे ही मस्त रहता है दूसरे रग (माया) मे उसकी रुचि नही होती । उस सत के समान कलियुग मे कुछ नही है।[3]

रज्जब जी साधु को परमात्मा से भी बडा सिद्ध करते हैं । उनके विचार से परमात्मा से साधु बडा है परन्तु साधु से बडा ससार मे कुछ नही है । इस विचार का श्रेय वे गुरु को देते है । क्योकि इस प्रकार की विचार की शक्ति अथवा दृष्टि गुरु से हो प्राप्त हुई[4] ।

रज्जब जी जोवन के साधु और असाधु पक्ष का चित्रण कर के केवल साधु और असाधु की परिभाषा ही नही प्रस्तुत करते, अपितु एक सत कवि के नाते ससार के लोगो को सकेतात्मक ढग से उपदेश भी करते हैं कि साधु पक्ष का ग्रहण तथा असाधु पक्ष का त्याग ही मनुष्य को लोक परलोक में सुखी बनाता

---

१ – रज्जब साई साध की, महिमा कही न जाइ ।
अकलि अलप अनुमान तुछ, जे कछु कहे बनाइ ।। सा० २५

२ – साधु उदय सूरिज कला, गुण तारे तम नास ।
रज्जब रारि खुलै सर्व, चखि चेतनि परकास ।। सा० ३२

३ – एक रग राता रहै, दूजे रग रुचि नांहि ।
जन रज्जब ता सत समि, को कहिये कलि मांहि ।। सा० २७

४ – साहिब सो साधू बडा, साधू बडा न कोइ ।
रज्जब देख्या गुर दृष्टि सब, नीकै करि जोइ ।। सा० १०

है। यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करे तो देखेगे कि यह ससार इन्ही दो पक्षो में विभक्त है। चाहे कोई चेतन हो अथवा जड, पर यदि उसमे लोकोपकार की वृत्ति अथवा शक्ति है तो वह साधु श्रेणी में रखा जायेगा और यदि वह अमगलकारी है तो निस्सन्देह उसमे असाधुता के लक्षण विद्यमान् हैं। कोई व्यक्ति बाह्य अलकरण से साधु की कोटि में नही आ जाता और न वाह्य वेशरचना के अभाव मे किसी साधुता में कोई हीनता ही आती है। रज्जब जी कही कही अपनी कवि सुलभ मति से अपने प्रतिपाद्य को विलक्षण ढग से प्रस्तुत करते हैं। हम पीछे रज्जब जी का यह विचार रख चुके है कि साधू की गति उलटी होती है तथा ससार के सामान्य जनो की सीधी। यहा इन्द्रिय प्रेरित गति सीधी है और इन्द्रियो के विपरीत आचरण ही उल्टी गति है। विचित्र बात है कि इस ससार में जो उल्टी गति से चलते हैं वे साधु हैं और जो सीधी गति से चलते हैं वे ससारी है। यहा इन्द्रियानुकूलता ही सीधा मार्ग है तथा इन्द्रिय प्रतिकूलता ही उल्टा मार्ग है। इसी लिये 'उलटा चलै सो औलिया,' इस पर प्रायः सभी सत एक मत हैं।

दया और क्रोध

मानव जीवन के समस्त अन्य पक्ष साधु एव असाधु इन दोनो पक्षो के पोषक अथवा अशभूत पक्ष है। यहाँ पर दया और क्रोध भी साधु तथा असाधु के क्रमशः सहायक अग हैं। जिस व्यक्ति में दया का अभाव होगा वह साधु नही हो सकता तथा जिस व्यक्ति में क्रोध है वह व्यक्ति निश्चय ही असाधु है। रज्जब जी मूलतः मानव जीवन के दो पक्ष मानते हैं। उन्हें साधु-असाधु अथवा सत और असंत किन्ही भी नामो से अभिहित किया जा सकता है। साधु अथवा असाधु के अतिरिक्त शेष सभी पक्ष साधु या असाधु के लक्षण माने जा सकते हैं।

दया का भाव मनुष्यता को परखने की सच्ची कसौटी है। यदि किसी व्यक्ति के हृदय में दया का भाव है तो उसके द्वारा पीडितो का कल्याण निश्चित है। दया को रज्जब जी मन की निष्क्रिय वृत्ति नही मानते। दया में पर-पीडा-हरण का प्रवल भाव सन्निविष्ट रहता है। किसी दुखी व्यक्ति की व्यथा को देख कर हम केवल दयालु वन कर हाथ पर हाथ धर कर नही वैठ सकते। दया की वृत्ति इतनी वेगवती होती है कि वह मनुष्य को शान्त निष्क्रिय बैठने नही देती। दूसरे के कष्ट-निवारणार्थ अविलम्ब प्रयास करना सच्ची दया का एक अपरिहार्य अग है। किसी अत्यन्त तृषित व्यक्ति को देख कर हम केवल मौखिक सहानुभूति नही प्रदर्शित करेंगे—उसकी तृषा शान्त करने के लिये कही न कही से जल ला कर

उसे पिलायेंगे। रज्जबजी दया और कृपा इन दोनो मे व्यापकता की दृष्टि से अन्तर मानते हैं। यही कारण है कि उन्होने अपनी बानी मे दया का अग और कृपा का अग इन दो भिन्न-भिन्न अगो की रचना की है। दया के भी उन्होंने तीन भेद किये हैं। पहला निर्वैरता, दूसरा अदया मिश्रित दया, तीसरा दुष्ट दया। इन तीनो मे प्रधानता निर्वैर दया को देते हैं क्योकि वह समस्त जीवो को विना किसी भेदभाव के पालती है।[१] निर्वैर दया की परिधि मे सारे जीव आ जाते हैं—उस स्थिति मे शत्रु कोई रहता ही नही—यह दया दयालु और दया-भाजन दोनो का उपकार करती है।[२] क्योकि जब दयालु का कोई शत्रु नही है तो यह निश्चय हो गया कि उसको किसी से हानि की आशका नही है। और यह तो स्पष्ट है कि वह सब पर दया कर के सब का कल्याण करता है। अपना और सब का कल्याण इस निर्वैर दया के द्वारा ही सम्भव है। रज्जब जी सब पर दया करने का उपदेश देते हुये भी दया के प्रसग मे एक का वध करना उचित ठहराते है वह हैं मन अथवा इच्छा। वे कहते हैं कि सब पर दया करो किन्तु यदि मारने का पराक्रम ही दिखाना है तो उस मन (इच्छा) को मारो जो अपने अभ्यन्तर में छिपा हुआ है। अन्य कोई मारने योग्य नही है।[३] जब सभी जीवो मे वही परमात्म तत्व व्याप्त है तो हम किससे राग करे और किससे द्वेष ? अत इस प्रकार की पिछडी निर्दय वृत्ति का त्याग कीजिये।[४]

दया के इस सतोगुणी रूपवर्णन करने के पश्चात् रज्जब जी उसके रजोगुणी रूप का वर्णन करते हैं। दया के भीतर भी अदया का भाव कभी-कभी वर्तमान रहता है। जिस प्रकार मिश्री मे विष घोल कर दिया जाता है उसी प्रकार दया में दुष्टता मिली रहती है।[५] कर्म के स्थान पर कुकर्म उसी प्रकार

१—मुख्य दया निर्वैर ह्वै सब जीवहु प्रतिपाल।
तो रज्जब तिन प्राण ने, मेल्या मगल भाल॥
दया निर्वैरता का अग, सा० १

२—निरवैर होत वैरी नहीं, चौरासी में कोय।
रज्जब राखत और कू, अपणी रक्षा होय॥ सा० २

३—मार्‌या जाय तो मारिये, मन सा वैरी नांहि।
जन रज्जब सो छाड़ि करि, मारणकू कछू नांहि॥ सा० ४०

४—राग रोष कासों करी, सब में साहिब जाणि।
रज्जब बुरा न वांछिये, छाडि देहु गत वाणि॥ सा० १०

५—ज्यू मिसरी मांहि घोलि विष दीजै, ज्यू सुकृत में कुकृत मीजै।
दया मध्य दुष्टता ऐसी, ज्यू घर मांहि सुडापणि वैसी॥
दया अदया मिश्रत का अग, चौ० ४

अशोभन है जैसे आखो मे जाला। जब आत्मा पर अविद्या का मलाक्षेप पडा है तब फिर वह कैसे देख सकती है, उसे कैसे पता चलेगा कि यहा काटे हैं।[1] रज्जबजी ने दया का तीसरा तमोगुणी रूप दुष्ट दया के नाम से प्रस्तुत किया है। यह दया रज्जब जी की दृष्टि मे सर्वश्रेष्ठ है। इस दया मे प्रकट भाव से रोष भासित होता है किन्तु उसके भीतर कल्याण का भाव निहित है। रज्जबजी इसको एक सुन्दर उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। जब माता-पिता छोटे बालक को मिट्टी खाते देखते हैं तो उसे निकालने के लिये कभी-कभी उसके मुँह पर थप्पड मारते हैं—इससे बालक को थोडी देर के लिये कष्ट भी होता है परन्तु इस प्रकार की दुष्ट दया से प्राणियो का अन्ततोगत्वा कल्याण ही होता है।[2] बालक नादान होने के कारण ही मिट्टी खा रहा था। यह दया मूर्खो, अबोध जनो के प्रति ही होती है। अज्ञानतावश कुमार्ग पर चलने वालो को दुष्ट दया प्रताड़ित कर के सुमार्ग पर लाती है। अत यह दया अतिशय वरेण्य है। रज्जब जी के विचार से पवित्र आत्माओ से प्रेम करना चाहिये और दुष्टात्माओ से शत्रुवत् व्यवहार करना चाहिये। भले लोग जब कृपा करते हैं तो कल्याण के लिये और जब रोष करते हैं तब भी भलाई के लिये, अतः ऐसे जनो की दया और क्रोध दोनो ही वाछनीय हैं।[3]

मनुष्य के हृदय मे दया विरोधी भाव क्रोध है। रज्जब जी क्रोध को काल ही मानते हैं। अहकार यमराज है जो उस क्रोध के उद्दीपन का कारण होता है।[4] क्रोध को रज्जब जी सारे प्राणियो के हृदय मे व्याप्त मानते हैं। उसके प्रभाव से कोई प्राणी नही बचा। परन्तु उसके रहते हुये भी उससे उसी प्रकार पृथक् रहना चाहिये जिस प्रकार समुद्र बडवानल की ज्वाला से मुक्त रहता है,

---

१ – धरम स्थान कुकरम न सोभै, जथा नैन मधि फूला।
आतम आखि अध्यारा मैला, कहिये कहां सु सूला ॥ सा० १०

२ – देखहु दुष्ट दयाल गति, ज्यू बालक पितु मात।
रज्जब काढ़ै मारि मुख, मूरख माटी खात ॥
दुष्ट दया का अग, सा० १

३ – कुलिखहिं सो रहम करि, बद अमलो लौ बैर।
मिहरि गुसा मकसूद जू, रज्जब के महि गैर ॥ सा० ३

४ – क्रोध काल कहिये सदा, अतक है अहकार।
जन रज्जब जोरै जुलम, पाया भेद विचार ॥
क्रोध का अग सा० १

अथवा जिस प्रकार आकाश के बादल बिजली से बच कर रहते हैं।[1] यदि ऐसा न हो तो समुद्र का जल बड़वाग्नि से भस्म हो जाय तथा बादल बिजली से जल कर नष्ट हो जायें। इसी प्रकार यदि मनुष्य क्रोधाग्नि की प्रचण्ड ज्वाला से बचने की चेष्टा नही करता तो वह उसे बिना नष्ट किये नही रहती। क्रोध को प्रेरित करने वाला मान (अहकार) बडे-बडे महन्तो मे रहता है। जैसे पारस पत्थर जो लोहे को सोना बना देता है उसमे भी अग्नि का निवास है उसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्तियो के चित्त मे भी क्रोध का भाव विद्यमान् रहता है।[2] क्रोधी व्यक्ति के हृदय मे पाप-पुण्य का विवेक नही रहता। किसे मारना चाहिये। किसे नही, इस ज्ञान से भी वह वचित हो जाता है। वह माता, पिता, बहन, पत्नी सभी का क्रोधावेश मे वध कर देता है।[3] रज्जब जी वाद-विवाद मे भी क्रोध की सम्भावना मानते हैं। सामान्यत. सज्जनो की वाणी उसी प्रकार शीतल एव शान्तिदायिनी होती है जिस प्रकार चन्दन की लकडी, किन्तु यदि उसे अधिक घिसा जाय तो उससे भी अग्नि उत्पन्न हो जाती है।[4] इसी प्रकार विवाद मे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। अत रज्जब जी क्रोध को पूर्णतः त्याज्य मानते हैं। दया और क्रोध दोनो साधु और असाधु का क्रमश. लक्षण हैं। साधु मे दया होती है और असाधु में क्रोध। मानव जीवन के ये दोनो पक्ष अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

कुसग और सुसग

कुसगति समस्त विकृतियो का मूल है। रज्जबजी द्वारा वर्णित मानव जीवन के जिन विविध पक्षो पर हम विचार कर रहे हैं वे हमारे यहा की धर्मशास्त्रीय परम्परा में हैं। रज्जब जी कुसगति को कुमति की उदयस्थली मानते हैं। जिस प्रकार मदिरा पीने वाले बर्तन में दूध रखने से फट जाता है, उसी

---

१ — बडवानल सो वारि निधि, सजल घटा मधि बीज।
 त्यू रज्जब तजि जो रहे, नू करि धका धिक धीज॥ सा०१

२ — मान महन्तन मे रहै, क्रोध कलकी नेम।
 ज्यू पारस पावक बसै, जा लगि लोहा हेम॥ सा० ११

३ — क्रोधी डरै न कलक ते, मारै माता बाप।
 बहन विहरि वधू बधै, पिसुण न देखे पाप॥ सा० ३

४ — साधु सबद त्रिक काठ सो, शीतल तापहि हरै।
 परि घसे उभै भग पास जन, रज्जब तेऊ जावै॥

प्रकार बुरी सगति मे भले व्यक्ति भी बुरे बन जाते हैं।[१] दुष्ट जनो की यह विशेषता है कि वे स्वय तो नष्ट होते ही हैं, अपने साहचर्य में आये हुये व्यक्तियो को भी उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे बास का वृक्ष घर्षणजन्य दावाग्नि से स्वय तो जलता ही है और आस पास के सभी वृक्षो को भी जला देता है।[२] इस प्रकार कुसंगति में पड़ कर अच्छे व्यक्ति का मन भी विकारयुक्त हो जाता है। जैसे अत्यन्त पवित्र होने पर भी गगाजल शराब में मिला देने से अपवित्र हो जाता है।[३] विष और मिश्री को मिला कर खाने से मृत्यु हो जाती है। यह सभव नही है कि मिश्री विष के कुसग से प्रभावित न हो। इसी प्रकार सुन्दर विचार वाले मनुष्य भी कुसग मे पड कर कुचाली हो जाते हैं। अतः कुसग का त्याग करना चाहिये।[४]

बादलो से स्वच्छ जल बरसता है किन्तु वही जल नगर के मल के स्पर्श स एसा मैला हो जाता है कि पिया नही जाता।[५] ठीक यही स्थिति उस सज्जन की भी है जो कुसग में पड़ कर घृणा का पात्र हो जाता है। कुसग मे दुर्वृत्तियां जागृत होती हैं। किन्तु वही मैला जल जब पवित्र सरिता के जल में मिल जाता है तो वह भी पवित्र हो जाता है। इसी प्रकार कुसग के विकारो से ग्रस्त व्यक्ति जब पवित्रात्माओ के सम्पर्क में आता है तो वह भी पवित्र बन जाता है।[६] सज्जन का साथ अमृत रूपी सम्पति है, वह सुख की राशि है। किन्तु

---

१ – रज्जब रहे कुसग मे, कुमति उदय ह्वै जाय।
ज्यू सुरापान के कुभ में, खीर खार हुवै जाय॥
कुसंगति का अग, साखी ६

२ – एकै बूटै बांस के, जरै अठारह भार।
जन रज्जब जल जालसी, पापी को परिवार॥ साखी ११

३ – गगोदक मद में मिल्यू, सकल महातम जाय।
यू तन उत्तम निज गति, रज्जब नरक समाय॥ साखी ८

४ – विष मिश्री पानी सहित, खाय सु होवै मीच।
त्यू तन उत्तम करणी कुचल, रज्जब परिहरि नीच॥ साखी १७

५ – विमल बारि बादल सों बरखै, परै नगरि परि आय।
सहर विकार परस जल मैला, पाणी पिया न जाय॥
कुसग सुसग का अग, साखी १

६ – पुनि वे सलिल जाइ सलिता में, निरमल नाव कहाइ।
त्यू रज्जब वप वाइक मैला, प्रस्थल सगि विकाइ॥ साखी ८

दुर्जन की सगति दुःसह दु.ख का कारण है। उसके साथ सदैव मानसिक पीड़ा मिलती है।[1]

यह कुसग और सुसग समाज-सापेक्ष वस्तुये है। मानव के लौकिक पक्ष पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है। कहना चाहिये कि कुसग से मनुष्य का लोक धर्म नष्ट हो जाता है और लोक धर्म नष्ट हो जाने पर मनुष्य का आध्यात्मिक पक्ष कभी स्थिर नही रह सकता। लोकाचार के पवित्र आदर्श आध्यात्मिक साधना के लिये अनिवार्य है। साधक को अपनी साधना की सफलता के लिये साधु जनो के सग में रहना चाहिये। यदि वह ऐसे कुसग में पड गया जो इन्द्रियासक्ति को वल देता है तो साधना कभी सफल नही हो सकती। हमारे भारतीय महात्माओ ने सत्सग का अतिशय महत्त्व बतलाया है तथा कुसग के नाना दुष्फलो का वर्णन किया है। गोस्वामी तुलसीदास तो निमेषमात्र के सत्सग को स्वर्ग अपवर्ग से अधिक लाभदायी बताते हैं।[2] रज्जब जी ने अपनी वाणी मे जीवन के लौकिक पक्ष की जो भूमिका प्रस्तुत की है उसमें सदाचार की महत्ता की प्रतिष्ठापना हुई है।

पाप पुण्य

पाप और पुण्य इन दोनो कर्मों के परिणाम भी समाज से सम्बन्धित हैं। सामाजिक आचार-व्यवहार को हम मानव जीवन का लौकिक पक्ष मानते हैं। अतः पाप और पुण्य भी लौकिक पक्ष के ही अग माने जाने चाहिये। जिस कार्य से समाज को पीडा पहुँचे वह पाप है और जिससे समाज को सुख प्राप्त हो वह पुण्य है। दार्शनिकता की जटिल गहनता मे इस पाप-पुण्य की स्थिति अत्यत सूक्ष्म हो जाती है, वहां यह कहना कठिन हो जाता है पाप क्या है और पुण्य क्या है? एक ही कार्य भिन्न प्रसगो मे कभी पाप कभी पुण्य बना रहता है। सामाजिक जीवन में पाप और पुण्य का निर्णय उतना दु साध्य नही। अपने को पीडा देकर भी दूसरे को सुखी बनाना यह श्रेष्ठ पुण्य है, तथा अपने को सुखी बनाने के लिये दूसरो को पीडित करना यह महा पाप है। परार्थ के लिये आत्मोत्सर्ग पुण्य है,

---

१ – सज्जन सुधा सु सम्पती, सकल सुखों की राशि।
दुर्जन दुख दारुन दुसह, पीडा प्राणहु पासि॥ सा० ११

२ – तात सर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥
रामचरित मानस

स्वार्थ के लिये परपीडन पाप है। हमारे भारतीय चिंतनशास्त्र मे धर्म और अधर्म इन्ही पुण्य और पाप के पर्याय है।

पाप की पीडा से कलछ-कलछ कर मानवात्मा पुण्य का अध्यास करती है। इसी लिये महात्मा रज्जब पाप को पुण्य का मूल बताते हैं। वे धर्म को क्रिया का फल मानते है।[1] पाप पुण्य का विवेक अत्यन्त सावधानी से करना चाहिये। क्योकि एक पापी प्रलय मे नष्ट हो जाता है और एक पाप कर के ही प्रख्यात होता है।[2] एक कर्म कर्म-सग से मुक्त करता है और एक कर्म कर्म के बधन में बाँधता है। कर्म का आधार कर्म है।[3] इस प्रकार रज्जब जी पाप को ही पुण्य का उद्गम सिद्ध करते हैं तथा यह भी सकेत करते हैं कि पुण्य के उदय से पाप नष्ट हो जाते हैं। रज्जबजी पुण्य द्वारा पाप के क्षय पर विश्वास करते हैं। रज्जबजी की पाप-पुण्य-सम्बन्धी धारणा में मनुष्य के इसी जीवन में सुधार की सम्भावना के लिये पूर्ण अवकाश है। उनका विचार है कि जब कोई व्यक्ति पाप करता है तो वह पापी है और जब वह पुण्य करता है तब वह साधु है। रज्जबजी इस मान्यता के पक्ष मे नही है कि यदि किसी ने कोई पाप कर्म कर दिया तो वह चाहे कितने पुण्य कार्य करे उसका उद्धार नही हो सकता। जब किसी ने चोरी की तो वह चोर है और यदि पुण्यकर्म किया तो साधु है। भाव बदलते ही भावी भी बदल जाती है और सुधार हो जाने पर पापी भी मुक्तिलाभ करता है।[4] पुण्य तो उस काष्ठ-नौका के समान है जिसमें बैठ कर चोर, ठग, पापी, धर्मात्मा सभी तर जाते हैं। नाव पर कोई भी बैठे, वह डूबती नही।[5] इस प्रकार रज्जबजी पुण्य की पूर्ण प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुये अधम, पातकी

---

१ – पाप पुण्य का मूल है, तामे फेर न सार।
धर्म कर्म करि ऊपजे, रज्जब समझि विचार॥
पाप पुण्य निणय का अंग, साखी १

२ – एक पापी परलै गये, एक पापी परसिद्धि।
रज्जब समझिरु कीजिये, पाप पुण्य की विधि॥ साखी ७

३ – एक कर्म कर्म ऊपजे, एक कर्म कर्म जाय।
रज्जब करम करम कू, नर देखो निरताय॥ साखी ८

४ – चोरी की तब चोर है, धर्म-कर्म ह्वै साध।
भाव फिरत भावी फिरी, तिनहुं मुक्ति फल लाध॥

५ – रज्जब सुकृत सेवा चोर ठग, पापी तिरहिं अपार।
ज्यू बूड्यू बूडे नहीं, नाव काठ के भार॥

निराशजनो को भी मुक्ति का अत्यन्त आश्वासन भरा सदेश देत हैं। यही भक्ति-सिद्धान्त का रहस्य है।

सत्य असत्य

रज्जबजी अपनी व्यक्तिगत साधना मे अपने साथ किसी प्रकार की रियायत न बरत कर भी साधना को सामाजिक एव लोक-ग्राह्य बनाने के लिये उसमे यत्किंचित् परिवर्तन करने के पक्ष मे थे। वे रूढ विश्वास एव जड धारणाओ के पोषक न थे। वे यह भली-भाति समझते थे कि सत्य के दो पक्ष होते हैं—समाजसापेक्ष तथा समाजनिरपेक्ष। समाजनिरपेक्ष सत्य यद्यपि अपने मे अधिक शुद्ध होता है परन्तु वह व्यक्तिगत साधना के उपयोग का तो हो सकता है किन्तु उसका सामाजिक अनुवर्तन नही हो सकता। रज्जबजी सत्य और असत्य को परस्पर अविच्छेद्य मानते हैं। उनके मतानुसार दोनो को उसी प्रकार पृथक् नही किया जा सकता जैसे वृक्ष से उसकी छाया को। वृक्ष मे फल लगते हैं, छाया में नही।[1] सत्य के निकट झूठ उसी प्रकार रहता है जैसे दीपक के नीचे अंधकार।[2] यहा पर दोनो उदाहरण रज्जबजी ने अत्यन्त सुन्दर दिये हैं। पहले वृक्ष को सत्य और उसकी छाया को झूठ बताया है। छाया यो भी अवास्तविक एव मिथ्या होती है दूसरे उदाहरण में दीपक की ज्योति को सत्य और उसके नीचे के अन्धकार को असत्य बताया है। ज्योति के बुझ जाने पर अन्धकार के छा जाने का तात्पर्य है असत्य का पूरा साम्राज्य हो जाना। रज्जब समय-समय पर सत्य-असत्य दोनो को उपयोगी मानते हैं और इसीलिये वे दोनो को सामान्य समझते हैं। उनके विचार से सत्यासत्य का विवेक किसी को ही होता है। इसका भेद विचित्र है।[3] जीवन के लौकिक पक्ष में रज्जबजी धर्मार्थ असत्य भाषण को वैध मानते हैं। उनका कथन है कि धर्म के लिये बोले गये असत्य की परिणति सत्य में हो जाती है।[4] सत्यासत्य का यह समन्वयात्मक

१—सांच झूठ जोड़ा सदा, ज्यू तरिवर सग छांहि।
एक सफल एक अफल है, समझे समझो मांहि॥
झूठ सांच का अग, साखी ८

२—झूठ रहे यू साच कन, ज्यूं तिमिर दीप तलि जाय।
रज्जव बुझती ज्योति कू, अंधियारा भरि जाय॥

३—झूठो सांच समान है, समये समसरि होय।
जन रज्जब इस पेंच को, बूझे बिरला कोय॥

४—झूठ बोलिये धर्म हित, सो मिले सांच कू जाय।
यहु रज्जब अज्जब कही, नर देखो निरताय॥ साखी १०

से मिला दे।[1] सप्त धातुओ का (शरीर-सम्बन्धी) ज्ञान परित्याग कर आठवे तत्व आत्मा (परमात्मा) का ज्ञान ही मनुष्य को राम मे अवस्थिति कर देता है तथा सत-रज-तम इस त्रिगुणात्मक बन्धन से मुक्त कर देता है।[2] सप्तधातु यहा शरीर के लिये कहा गया है क्योकि शरीर रक्त, पित्त, मास, वसा, मज्जा, अस्थि और शुक्र इन सात धातुओ से युक्त माना जाता है। रज्जबजी शारीरिक विशेषताओ का उपयोग ज्ञान पर निर्भर मानते हैं। यो तो सभी के शरीर मे शक्ति का उदय होता है परन्तु एक ज्ञानाश्रित होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है और दूसरा सासारिक यातना में पड़ कर नष्ट होता रहता है। इसके लिये रज्जबजी ने सर्प, पतग और चीटी, तीन का उदाहरण दिया है। यह तीनो पर उगने पर उडते हैं किन्तु सर्प उड कर चन्दन की शीतलता प्राप्त करता है, दूसरे उडते-उडते नष्ट हो जाते हैं।[3]

आध्यात्मिक ज्ञान के उदय हो जाने पर त्रिगुणात्मक ससार की सत्ता दृष्टि से उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार और नक्षत्र विलीन हो जाते हैं।[4] ज्ञानी के हृदय में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी लगाव समाप्त होकर रकार (राम) सम्बन्धी प्रवृत्ति जागृत हो जाती है और राम में रति हो जाने पर वह व्यक्ति मायासक्त नही होता।[5] ज्ञान की गगा जब अपनी पूरी शक्ति से प्रवाहित होती है तो कर्मो की रेती काटती, पापो के पहाड फोडती भगवत्सागर में समाहित हो जाती है।[6] ज्ञान के योग से मनुष्य की स्थूल ऐन्द्रिकता का भार

---

१ – जो मत काढ़ै मांड सू, ले राखे हरिथान।
रज्जव विधि उलझै नहीं, सोई उत्तम ज्ञान॥
ज्ञान का अग, सा० ४

२ – सप्त धातु का ज्ञान तजि, अगम अष्टवां लेह।
रज्जव राखै राम में, तोड़ै त्रिगुण सनेह॥

३ – पनिग पतग पिपीलिका, तीन्यू पख प्रकास।
येक थिक शीतल कू मिले, येक भये तनि नास॥ सा० ८

४ – सृष्टि दृष्टि आवै नहीं, परम ज्ञान परकास।
ज्यू रज्जव रवि के उदे, तम तारे गुण नास॥ सा० १०

५ – निर्मल ज्ञान उदै भये, नर नारी हित नांहि।
रजब रत रकार सू, मिलै न माया मांहि॥ सा० ११

६ – रज्जब गगा ज्ञान की कर्म रेति निरुकाय।
पाप पहाड़ो फोरती, हरि समुद्र कू जाय॥ सा० १३

समाप्त हो जाता है तथा वह सूक्ष्म रूप होकर सूक्ष्म में लीन हो जाता है। ज्ञान की वायु के साथ कपूर-रूपी कर्म उड़ जाते हैं तथा प्राणी हलका होकर विशाल भवसागर से पार उतर जाता है।[१] मनुष्य मे ज्ञान-तत्त्व ही श्रेष्ठ है। रज्जबजी इस तथ्य को दीपक के रूपक द्वारा समझाते हैं। मनुष्य का मुख फानूस है, जिह्वा उसमे बाती है, शब्द अग्नि है, कपट कज्जल है, विचार (ज्ञान) प्रकाश है। इन चार वस्तुओ के योग से यह दीपक बनता है।[२] आध्यात्मिक ज्ञान के विना प्राणी का उद्धार असम्भव है। ज्ञान से प्रतीति, प्रतीति से प्रीति तथा प्रीति से भक्ति उत्पन्न होती है, यह गोस्वामी तुलसीदास की मान्यता है।[3] भक्ति के सिद्धान्त में ज्ञान-भक्ति की उपलब्धि अनिवार्य साधनो मे एक है। रज्जबजी ने ज्ञान का अर्थ इसी भक्ति-सिद्धांत की परम्परा में ग्रहण किया है।

ध्यान

ध्यान, ब्रह्म-साधना का महत्वपूर्ण साधन माना गया है। यह ध्यान विषयगत भेद से ज्ञान, कर्म और उपासना तीनो काण्डो में अपना विशेष स्थान रखता है। ज्ञानमार्गी योगी के लिये यह आवश्यक है कि वह ध्यानस्थ होकर चित्त-वृत्तियो को ब्रह्म में लगा दे—भक्त के लिये आवश्यक है कि वह अपने प्रभु के सौन्दर्य मे ध्यानमग्न हो जाय, तथा कर्मशील व्यक्ति के लिये भी अनिवार्य है कि वह प्रत्येक कार्य के करने मे सतत सावधान रहे। ध्यानपूर्वक किया गया कार्य सफल होता है। मन की बहिर्मुखी वृत्तियो का किसी एक विषय में केन्द्रित कर देना ही ध्यान है। आध्यात्मिक साधना में 'ध्यान' का विशेष महत्त्व निर्धारित किया गया है। लौकिक क्षेत्र में भी इसकी उपादेयता कम नही है।

रज्जबजी रामभक्तिरूपी तलवार को ज्ञान और ध्यान के भीतर ही मानते हैं। प्रवृत्ति के हाथ में यह तलवार वही धारण करता है जो इसे चलाना जानता है।[४] ध्यान में चित्तवृत्तियों की पूर्ण एकाग्रता अपेक्षित है। जिस प्रकार चकोर

---

१ – ज्ञान वायु सग उडि गये, कर्म कपूर अपार।
रज्जब जिव हलुका भया, उतर्या अमित सुपार।। सा० १४

२ – मुख फानूस रसन है बाती, बहनी बैन जोति तह राती।
काजर कपट उजास विचार, चतुरभांति दीपक व्यवहार।। सा० १६

३ – जाने बिनु न होइ परतीती, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई, जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।
रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड

४ – ध्यान ज्ञान माहै रहै, राम काम तरवारि।
रज्जब सचि के हाथ में, जै जाणै सो धारि।। सा० १४

विवेक जीवन के लौकिक पक्ष में असाधारण महत्त्व रखता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति को सत्य का व्यावहारिक रूप अपनाना ही पड़ता है। तथापि सामाजिक प्राणी असत्य का सर्वथा बहिष्कार कर तथा शुद्ध नग्न सत्य को स्वीकार कर व्यवहार करे तो उसका जीवन दूभर हो जायेगा। इसी भाव को चित्त मे रख कर रज्जबजी ने सामान्य जनजीवन के लौकिक पक्ष को सुगम सुविध एव कल्याणमय बनाने के लिये सत्य और असत्य का समन्वयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। सिद्ध महात्मा यह सदैव ध्यान मे रखते है कि समाज के सभी सामान्य जन महात्मा नही हैं, अत· धर्म को जनसुलभ बनाने के लिये सिद्धान्त को लचीला और सर्वग्राह्य बनाना होगा।

(ख) आध्यात्मिक पक्ष

रज्जबजी के साहित्य मे चित्रित मानवजीवन के आध्यात्मिक पक्ष को हमने आस्तिक भाव और नास्तिक भाव में विभक्त किया है। रज्जबजी अपने अध्यात्मनिरूपण में नास्तिक भाव को कोई स्थान नही देते। अपने लघु ग्रन्थ 'जैन जजाल' में निरीश्वरवादी जैनियो की उन्होने जो निन्दा की है वह उनके बाह्याचार को लेकर—ईश्वर विषयक आस्था अथवा अनास्था को लेकर नही। उसमे उन्होने उनके केश उखाडने, नाक में कपडा बाधने, पानी छान कर पीने, अहिंसा के मिथ्या स्वरूप के ग्रहण की निन्दा की है। यद्यपि उक्त समस्त क्रियाये अहिंसा की साधना के विविध अग है तथापि जैनियो की धर्मपतित दशा तथा अहिंसा साधन के इस बाह्याचार के वैपरीत्य पर रज्जबजी खिन्न होते तथा उनको फटकारते है। यह भी असदिग्ध रूप से सत्य है कि रज्जबजी में इतना प्रबल आस्तिक भाव था कि वे नास्तिकता पर विचार करना भी उचित नही समझते थे। हम कई बार सकेत कर चुके है कि रज्जबजी की आध्यात्मिक मान्यताओ पर कबीर और उनके गुरु दादू के मतो का प्रभूत प्रभाव है। उक्त महात्माओ के आध्यात्मिक विचारो का अध्ययन करने से स्पष्ट लक्षित होता है कि कबीर की नैष्ठिक वृत्तियो का प्रभाव दादू पर पडा तथा दादू की साधना-पद्धति का प्रभाव रज्जबजी पर पडा। दादूजी के समस्त शिष्यो-प्रशिष्यो की वाणियो में दादूजी की साधना-पद्धति का एकरूप प्रभाव देखने को मिलता है। रज्जबजी तथा उनके पूर्ववर्ती निर्गुणोपासक महात्माओ की आध्यात्मिक मान्यताओ मे किंचिदपि विप्रकृष्टता नही है। अभी तक हमने रज्जबजी द्वारा निरूपित जीवन के लौकिक पक्ष पर विचार किया। अब यहा उनके आध्यात्मिक विश्वासो एव अनुभूतियो पर विचार कर लेना समीचीन समझते है।

अध्यात्म का अर्थ है आत्मा (परमात्मा) सम्बन्धी विचार। जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करने वाली विद्या को अध्यात्म-विद्या कहते है। प्रत्येक शरीर मे परब्रह्म की जो सत्ता या अश वर्तमान रहता है वही अध्यात्म है। आत्म एव अनात्म का विवेक इसी अध्यात्म-ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है। भारतीय आर्ष चिन्तन परम्परा मे अध्यात्म-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान माना गया है—इससे इतर ज्ञान को अज्ञान की सज्ञा प्रदान की गई है।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान यदतोऽन्यथा ।। गीता – १३-११

अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान मे नित्य स्थिति तथा तत्व-ज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना यह सब ज्ञान है, जो इससे विपरीत है वह अज्ञान है।

रज्जबजी ने मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के तत्त्वो का विस्तार से वर्णन किया है। हमारा तो विचार है कि सम्पूर्ण रज्जब-बानी आध्यात्मिक विचारो का कोश ही है। आध्यात्मिक साधना के जिन अगो की चर्चा रज्जबजी ने की है उनमें ज्ञान-ध्यान, आज्ञाकारी, प्रेम, विरह, विरक्ति, त्याग, सुमिरन, भजन, विनती, निश्चलता, पातिव्रत, साधनागत सग्राम, साधनागत चेतावनी, शरण, सयम, मनोनिग्रह, विशेष है। साधक मे इन तत्त्वो का होना ब्रह्म-प्राप्ति के लिये अनिवार्य है क्योकि इनके अभाव मे साधक के हृदय मे नाना प्रकार के विकार और दुर्बलताए उत्पन्न हो जाती है जो साधना को डिगाती रहती हैं। रज्जबजी ने इन विघ्नो का भी विशद रूप से वर्णन किया है। तृष्णा, अविश्वास, असन्तोष, काम, क्रोध, अविद्या, अज्ञान, इन्द्रिय, मन, माया आदि अनेक विघ्न साधना को सफल नही होने देते। साधना के इन अनुकूल एव प्रतिकूल तत्वो के साथ एक तीसरी श्रेणी मे रज्जबजी ने परमात्मा के गुणो तथा विशिष्टताओ का वर्णन किया है। उसमें भगवत्कृपा अथवा करुणा विशेष है। साधना की इस विभूति से सम्पन्न साधक ही आत्मनिर्णय मे प्रवीण हो पाता है, अन्यथा जीव और ब्रह्म का अन्तर वह नही समझ पाता। उपर्युल्लिखित साधना के तत्त्वो पर हम सक्षेप मे पृथक-पृथक् विचार करेंगे। इससे दो उद्देश्य सिद्ध होगे—एक तो यह कि इन तत्त्वो के सम्बन्ध में रज्जबजी की धारणा और दृष्टिकोण स्पष्ट होगा तथा दूसरा, रज्जब-साहित्य के वे अग जो अब तक अस्पष्ट पड़े है उनका साकेतिक उल्लेख भी हो जावेगा।

ज्ञान

रज्जबजी सच्चा ज्ञान उसी को मानते हैं जो व्यक्ति को नाना प्रकार की सांसारिक उलझनो से बचाता हुआ उसे इस संसार से मुक्त करे तथा परमात्मा

चन्द्रमा का अपलक दर्शन करता है, रात्रि के चार प्रहर वह पलक नही मारता उसी प्रकार परमपुरुष परमात्मा का ध्यान करना चाहिये ।[१] कच्छप जल मे निवास करते हुये किनारे पर रखे हुये अण्डो को वही से पालता है इसी प्रकार ससार-सागर में रह कर भी मनुष्य को अपना ध्यान ब्रह्म में लगाना चाहिये तभी उसका साक्षात्कार सम्भव है । ऐसा करने से ब्रह्म सहज ही प्राप्त हो जाता है ।[२] जिस प्रकार धेनु वन-वन, विचरण करती हुई भी अपने वत्स का ही निरतर ध्यान करती है उसी प्रकार ब्रह्म के आराधक को उसी पर ध्यान रखना चाहिये तभी वह परमात्मा तक पहुँच सकता है ।[३] जिस प्रकार कामी पुरुष स्त्री का एकाग्र हो कर ध्यान करता है उसी प्रकार ईश्वरोपासक को ईश्वर का ध्यान करना चाहिये[४] । यह भाव तुलसी ने इसी रूप में प्रस्तुत किया है ।[५] रज्जबजी ब्रह्म की उपासना मे ज्ञान और ध्यान का योग नितान्त आवश्यक मानते हैं। इन्ही के योग से सच्ची भक्ति का उदय होता है । ध्यान मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का उपयोगी उपादान है इसमे कोई सन्देह नही ।

आज्ञाकारिता

सभी धर्मों ने ब्रह्म की प्राप्ति में मार्गदर्शक गुरु को माना है । रज्जबजी भी गुरु मे अखण्ड निष्ठा रखते हैं । वे गुरु की आज्ञा का पालन शिष्य के लिये कई दृष्टियो से लाभप्रद मानते है । गुरु की आज्ञा का पालन ब्रह्म की प्राप्ति मे अत्यन्त सहायक होता है । गुरु की कृपा तभी प्राप्त होती है जब उसकी आज्ञा के अनुसार ही शिष्य अपने आचरण को ढालता है । गुरु को आज्ञा पर शिष्य को वैसे ही नाचना चाहिये जैसे अगुली के सकेत पर चक्री (फिरकी) नाचती

---

१ – परम पुरुष का ध्यान धरि, जैसे चन्द चकोर ।
　जन रज्जब चारो पहर, मेली पलक न कोर ॥　सा० ४

२ – काछिव दृष्टि ध्यान धरि, अकल पुरुष की ठौर ।
　तो रज्जब सहजैं मिलै, परम पुरुष औ मौर ॥　सा० ५

३ – गऊ जाय बन खण्ड में, धरै वत्स का ध्यान ।
　या रज्जब ह्वै राम सौं, तो पहुचै हरि धाम ॥　सा० ६

४ – ज्यू विषयी पर नारि सू, अति गति मांडै ध्यान ।
　जन रज्जब जगपति मिलै, यू हरि सू चित सान ॥

५ – कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम ।
　तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय, लागहु मोहि राम ॥
　　　　　रामचरित मानस

है। जिधर अगुली उसे नचाती है वह उधर ही नाच कर पुनः अगुली मे आ जाती है।[1] रज्जबजी यह आज्ञाकारिता का भाव गुरु के प्रति रखने को इसलिये निर्दिष्ट करते हैं कि वह परमात्मा की आज्ञानुसार ही ससार मे चलता है। गुरु सूर्यरूप है जो परमात्मा के सकेत पर चलता है। शिष्य किरण के समान है जो सदैव सूर्य के साथ ही रहती है।[2] अतः सूर्य के साथ उसे भी भगवान् का दर्शन हो जायगा। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, पवन, जल, पृथ्वी, आकाश, परमात्मा के आज्ञापालक हैं उसी प्रकार शिष्य को गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिये।[3] रज्जबजी आज्ञाकारिता के भाव को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार मक्खी हलवाई की मिठाई की दुकान को छोड़ कर कही नही जाती, उसी प्रकार शिष्य किसी भी सकट के आने पर गुरु का साहचर्य नही त्यागता।[4] शिष्य का उठना, बैठना, खडा रहना, लेट जाना गुरु की आज्ञा से ही होना चाहिये।[5] शिष्य को अपनी सत्ता गुरु की आज्ञा मे लय कर देनी चाहिये। जिस प्रकार गिरी हुई अम्ल-वेतस के रस मे गिरी हुई सुई गल कर रसमयी हो जाती है उसी प्रकार शिष्य को अपनी सत्ता के समस्त अगो को गुरु की सत्ता के अगो मे मिला और गला देना चाहिये।[6] रज्जबजी गुरु और गोविन्द, दोनो की आज्ञा मे चलने का उपदेश करते हैं, जो इनको आज्ञा का उल्लङ्घन कर अपनी इच्छानुसार आचरण करता है उसे पग-पग पर मार खानी पडती है।[7] गुरुरूपी

---

१ – गुरु आज्ञा अगुरी बधे, चेले चक्री होय।
आवै जावै रज्जबै, दूजा नाहीं कोय॥
आज्ञाकारी का अग, साखी २

२ – हरि आज्ञा मेटि अणसरै, गुरु दिनकर इकतार।
रज्जब सिख सो किरण सम, सदा सु तिनकी लार॥

३ – चद सूर पाणी पवन, धरती अरु आकाश।
ये साई के कहे में, त्यू रज्जब गुरु पास॥

४ – ज्यू हलवाई की हाट तजि, माखी कहीं न जाय।
त्यू रज्जब गुरु सिख बधे, उडहि न रहे उडाय॥ साखी ८

५ – आज्ञा में ऊभा रहे, आज्ञा बैठे आइ।
आज्ञा में आडा हुआ, आज्ञा ऊठें जाइ॥ साखी १०

६ – अम्लवेति सुई मिलि एकै, त्यू सिख सतगुरु सग।
रज्जब द्वितिय भाव नहिं दरसे, अग समाने अग॥ साखी २१

७ – आज्ञा गुरु गोविन्द की, चले सु चेला चार।
रज्जब रम तूं मनमुखी, पग-पग पूरी मार॥
आज्ञा व आज्ञाभंगी का अग सा० १

अगस्त्य के हृदय में चढते ही शिष्यरूपी समुद्र विनम्र होकर मधुर हो जाता है, किन्तु जहा वह उनके हृदय से नीचे आया कि भूमि पर खारा हुआ।[1] इस प्रकार रज्जबजी गुरु को आध्यात्मिक साधना मे सर्वोपरि स्थान देते हैं।

प्रेम और विरह

रज्जबजी ईश्वरोपासना मे सूफियो के विरह-भाव तथा वेदनातत्त्व को साधना का आवश्यक अंग मानते हैं। उनके विचार से जिस व्यक्ति के हृदय मे उस परमात्मा के दर्शन की आकुलता तथा उससे मिलने की प्रबल आकाक्षा नही है, उसके हृदय मे वियोगानुभूति उत्पन्न नही होती और इस अनुभूति के अभाव मे ब्रह्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है।[2] उन दीनदयाल के दर्शन विना दर्द के नही हो सकते, विरह की तीव्रता के विना वह लाल नही मिल सकता।[3] जब साधक के हृदय मे परमेश्वर-विरह की व्याधि नही उपजी तो वेचारा वैद्य दर्शनो की औषधि क्यो कर दे सकता है।[4] अत साधक के हृदय मे विरहाग्नि का जागृत होना आवश्यक है। यह विरहाग्नि ही ब्रह्माग्नि है। इसके प्रज्वलित हो जाने पर सारे कर्मों के बन्धन जल कर भस्म हो जाते हैं। तथा मनुष्य का अभ्यन्तर पुनीत हो जाता है।[5] ब्रह्माग्नि तो वह वड़वानल है जो शरीररूपी जल को भस्म कर देती है। इश्क की अग्नि वही सच्ची है जो शरीर के जल से बुझे नही।[6] इसका आशय यह है कि ब्रह्माग्नि के उत्पन्न हो जाने पर शरीर की

---

१ – गुरु अगस्त उर चढ़त ही, सिख समंद नमि जाइ।
जन रज्जब उतरे तहा, सो खारे खित माँहि।। साखी ६

२ – दरद नहीं दीदार का, तालिब नाहीं जीव।
रज्जब विरह वियोग विन, कहा मिलै सो पीव।।
विरह विमग का अग, साखी १

३ – दरद विना क्यू देखिये, दरसन दीन दयाल।
रज्जब विरह वियोग बिन, कहां मिलै सो लाल।। साखी ८

४ – पिण्ड प्राण रोगी नहीं, औषधि नाम न लेहिं।
तो वैद विधाता क्या करै, दारू दरसन देहि।। साखी ६

५ – ब्रह्म अगिनि सुविचार है, मैल यही मन माँहि।
रज्जब रज यू ऊबरे, अभिअन्तर अघ जाँहि।।
ब्रह्म अगनि का अग, साखी १

६ – ब्रह्म अगिनि वड़वाअनल, तन तोय कूं खाय।
इश्क आगि सांची कहै, जो वप वारि बुझाय।। साखी ७

ऐन्द्रिकता समाप्त हो जाती है—मनुष्य की इन्द्रियासक्ति समाप्त हो जाने पर परमात्मा मे रति उत्पन्न हो जाती है। यदि ब्रह्मसम्बन्धी विरहाग्नि मनुष्य की भोगेच्छा को समाप्त नही कर पाती तो उस अग्नि को कच्ची कहना चाहिये अर्थात् उस परमेश्वर-प्रेम को कच्चा समझना चाहिये। रज्जबजी विरहावस्था मे पूर्णरूप से परमात्मा के मिलाप के लिये आशावान् रहते हैं। वे विश्वास करते है कि जीवन मे वह शुभ वेला अवश्य आयेगी जब प्रियतम परमात्मा दर्शन देने आयेगा और इस आत्मा के आनन्दित होने पर त्रिविध-ताप का शमन हो जायेगा।[1]

परमात्मा के विरह में ससार के नाना भोग अच्छे नही लगते तथा परमात्मा के मिल जाने पर ससार के बहुविध क्लेश भी अत्यन्त सुखदायक प्रतीत होते हैं।[2] यह तो आध्यात्मिक पक्ष का प्रसंग है। इसी प्रकार सासारिक प्रेम में भी प्रेमी को अपनी प्रियतमा के अभाव में सारे सुख-साधन असौख्यकर प्रतीत होते है तथा प्रिया का सयोग रहने पर सारे क्लेश भी सुखवत् प्रतीत होते है।

रज्जबजी ईश्वर-विषयक इस विरहताप को स्पष्ट करने के लिये अनेकानेक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते है। विरह के बादल हृदय में छाये है तथा पीड़ा की बिजली उन्हो बादलों में व्याप्त है। जब तक वह बिजली नही चमकती तब तक हृदय का अन्धकार दूर नही होता।[3] रज्जबजी के विरहतत्त्व की व्याख्या हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। यहा पर इसके पुन. उल्लेख का उद्देश्य केवल यह सकेत करना है कि विरह मानव-जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का एक विशिष्ट अग है। परमात्मा से मिलने की उत्कटेच्छा ही सूफियो के विश्वास से आध्यात्मिक प्रणय का सर्वस्व है। यह अब सर्वमान्य तथ्य है कि भारतीय निर्गुण-परम्परा के अध्यात्म पर सूफी साधना का प्रभाव है।

---

१ – कबहू सो दिन होयेगा, पीव मिलेगा आइ।
रज्जब आनन्द आतमा, त्रिविधि ताप तनि जाइ॥
विरह का अग, साखी १

२ – रज्जब रुचै न रोम बिन, सकल भाति के सुख।
भगवत सहित भावहि सबै, नाना विधि के दु:ख॥ साखी १९

३ – बादल विरह वियोग के, दरद दामिनी माहि।
रज्जब फटि ऐसी घटा, में जड भागै नाहि॥ साखी ४

विरक्ति और सयम

विरक्ति अथवा तितिक्षा आध्यात्मिक साधना का मूलाधार है क्योकि जब तक सासारिक विषयो से साधक का चित्त विरक्त नही होगा तब तक भगवदुन्मुख होना उसके लिये असम्भव है। इस विरक्ति के विशद विश्लेषण करने के उद्देश्य से रज्जबजी उसके विरोधी पक्ष आसक्ति पर भी विचार करते है। उनके विचार से ससारी मनुष्य जिन मायाकृत विषय-भोगो में सुख का अनुभव करते है साधु-जन उन्ही में दुःख का अनुभव करते है। इसके लिये रज्जबजी चकवा और उल्लू का उदाहरण देते है। जो रजनी उल्लू के सुख का कारण होती है वही रजनी चकवा-चकवी के विरह-दुःख का सृजन करती है। साधुजनो को रज्जबजी ने चकवा तथा ससारीजनो को उल्लू सिद्ध किया है।[1] सासारिक विषयो से रूठ कर विरले ही चलते है परन्तु उसमें लिप्त रहने वाले प्राणी अनेक है।[2] आसक्त मन का पन्नग मायारूपी सपेरे की पिटारी में तत्काल बन्द हो जाता है किन्तु विरक्तमन का महाकाय तक्षक उस पिटारी में बन्द नही होता क्योकि उसमें प्रबल ज्वाला होती है। उसके निकट जाना ही कठिन है।[3] आशय यह है कि विषयासक्त मन मायाग्रस्त हो जाता है परन्तु अनासक्त मन में ऐसी प्रचण्ड ब्रह्माग्नि प्रज्वलित हो जाती है कि सासारिक विषय उसके निकट जाते ही भस्म हो जाते है। विरक्ति का अध्यात्म-साधन में मूल्यवान् योग रहता है। इसके बिना साधना नही हो सकती।

विरक्ति अथवा अनासक्ति के लिये सयम अत्यन्त आवश्यक है। शारीरिक सयम आध्यात्मिक साधना का उपयोगी अग है। सयम में शरीर को कसना और तपाना पडता है। साधक को अपने शरीर को सयम के द्वारा खरा बनाना पड़ता है क्योकि परमात्मारूपी सोनार साधक के शरीर को बिना कसे और तपाये अपने

---

१ – जा माया में जा खुसी, साधू कै दुख सोय।
रज्जब रजनी एक में, घूघू चकवा जोय॥
रत विरक्त का अग, सा० १

२ – रज्जब रूठा रिद्धि सौं, कोई कोटि मधि एक।
मन माया सौं मिलि चलै, ऐसे प्राणी अनेक॥ सा० १०

३ – रज्जब मन माया बधे, ज्यूं अहि कठिन करंड।
त्यागी ताखा क्यों बधे, जामे अगिनि प्रचण्ड॥ सा० १३

दर्शनो का द्रव्य बदले में नही देता।[1] ससार के समस्त दु खो को नाश करने वाले परमात्मा को बिना दु.ख सहे नही प्राप्त किया जा सकता। काष्ठ को भी अग्नि उत्पन्न करने के लिये जलना पडता है।[2] यद्यपि काष्ठ के भीतर अग्नि सर्वत्र व्याप्त है तथा मनुष्य के अभ्यन्तर मे ही ब्रह्म विद्यमान् है तथापि बिना कष्ट सहे उनकी प्राप्ति सम्भव नही। काया रूपी काच को तपा कर चश्मे की भाति पारदर्शी बना देना चाहिये ताकि बीच का माया का पर्दा हट जाय तथा ब्रह्म दृष्टिगोचर होने लगे।[3] मानव को आसक्ति प्रेरित प्रसार मे पड़ कर पग-पग पर आघात सहना पडता है परन्तु विरक्ति प्रेरित आकन्चन मे मनुष्य वैसे ही दु ख से विनिर्मुक्त रहता है जैसे कच्छप अपना शरीर फैलाता है तो मार खाता है किन्तु जब कठोर पीठिका के अन्दर कर लेता है तो चोटो से प्रताडित होने पर भी उसे पीडा की अनुभूति नही होती।[4] शरीर का सयम स्वाद के त्याग से होता है और मन का सयम मन को हरि मे लगा देने से होता है। जब तक यह शरीर का किला चारो ओर से घेर नही लिया जाता तब तक गढपति (परमात्मा) का हाथ लगना कठिन है।[5] सागर मे शख और सीपी दोनो ही होते हैं किन्तु बिना उसमे गोता लगाये और दु ख सहे रत्न हाथ नही लगते—उसी प्रकार इस भवसागर मे नाना प्रकार की उत्कृष्ट एव निकृष्ट वस्तुये हैं,[6] परन्तु उत्कृष्ट वस्तुओ की प्राप्ति के लिये शरीर को सयम से कसना पडता है।

इस प्रकार रज्जबजी सयम और विरक्ति को परस्पर एक दूसरे का पूरक मानते हैं तथा दोनो मिलकर आध्यात्मिक साधना को सफल बनाने मे महत्त्वपूर्ण

---

१ – काया कुन्दन सारिखी, हरि सोनी कसि लेय।
जन रज्जब तापे बिना, दर्शन दरब न देय॥
सयम कसौटी का अग, साखी १

२ – दुख भजा दुख पाइये, यद्यपि है दिल माहि।
ज्यो काष्ठ में कष्ट बिना, पावक प्रकटे नाहि॥

३ – काया कांच निर्मल करै, चश्मैं सरीखा होय।
जन रज्जब पड़दा उठ्या, पिव कू देखै सोय॥ साखी २६

४ – पसरचू पग-पग मार है, सिमट्यू सो नहि सोय।
जन रज्जब दृष्टान्त कू, मन कच्छप विसि जोय॥ साखी १५

५ – काया मारै स्वाद तजि, मन मारै भजि नाथ।
रज्जब गढ़ घेरे बिना, गढ़पति चढ़ै न हाथ॥ साखी १६

६ – शख शुक्ति मुक्ता सहित, सदा महोदधि दानि।
ये रज्जब चौदह रतन, सो सकट में आनि॥ साखी २४

योग देते हैं। मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को पुष्ट करने के लिये विरक्ति और सयम का विशिष्ट मूल्य है। यह साधना के मूल साधनो में से है। अध्यात्म साधना मे प्रवृत्त होने वाले साधक के लिये यह पहली शर्त है कि वह अनासक्त एव सयमी हो। इस विचार का समर्थन सभी सन्त महात्माओ ने किया है।

सुमिरन, भजन और विनती

परमात्मा का भजन, स्मरण और उसके प्रति प्रणति भी भक्ति के आधारभूत अग है। इन तीनो का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से इनकी वास्तविक महत्ता का ज्ञान होता है। किसी का स्मरण करने से हमारा ध्यान अन्य विषयो से विच्छिन्न हो जाता है तथा उसी वस्तु का हम बार-बार स्मरण करते है और जहा हमारा ध्यान रहता है हमारी चित्त की वृत्तिया भी वही लीन हो जाती है। स्मरण में केवल हम ध्यान करते हैं, वाणी का प्रयोग नही। कभी-कभी स्मरण की स्थिति मे ध्यान विचलित होता है अत ध्यान को एकाग्र बनाये रखने के लिये भक्तो ने जप अथवा भजन का निर्देश किया। जिस वस्तु का हम स्मरण करते हैं यदि उसी वस्तु अथवा नाम का जप वाणी द्वारा करने लगें तो ध्यान के भग होने की आशका नही रहेगी—प्रत्युत भजन अथवा जप से ध्यान का तार लग जाता है। स्मरण अथवा जप का यह योग परमात्म भक्ति में अपनी विशेष उपयोगिता रखता है। भगवान् का स्मरण और जप दोनो साथ-साथ चलते हैं। योगी अथवा ज्ञानी केवल ध्यानी होता है—वह जप नही करता। परन्तु भक्त ध्यान और जप एक साथ करता है। भगवन्नाम जप भक्त के स्मरण अथवा ध्यान को विचलित होने से बचाता है। स्मरण के लिये भजन आवश्यक है और भजन के लिये स्मरण। यदि भक्त का ध्यान भगवान् में केन्द्रित नही है तो केवल वाणी से किया गया भगवन्नामोच्चार व्यर्थ है। अत हमारे विचार से स्मरण और जप से भक्ति को सुदृढ बनाना अत्यन्त आवश्यक है। इन दोनो के अपृथक् योग एव उपयोग को ध्यान में रख कर ही निर्गुणपथी भक्तो ने नाम जप का महत्व स्वीकार किया है अन्यथा एकमात्र ध्यान पर ही उनका आग्रह होता, क्योकि वे लोग अन्तर्मुखी साधना पर अधिक बल देते है। परन्तु इन निर्गुणोपासक भक्तो की दृष्टि मे भी नाम का जप सच्ची भक्ति के लिये अनिवार्य हो गया। विनती मे भक्त आत्मनिवेदन करता है। भक्त भगवान् से अपनी अन्तर्व्यथा, दैन्य, अशक्यता आदि की कथा प्रणतिपूर्वक कहता है। यह निवेदन ही विनती है। विनय का भाव अहकार को नष्ट करता है। जब तक यह अहभाव समाप्त नही होता तब तक वह भगवान् की सत्ता का पूर्ण उपासक नही माना जा सकता।

'अहम्' और 'परम' दोनो एक साथ नही रह सकते। पर परम की सत्ता हृदय में नही रह सकती तथा परम की सत्ता प्रादुर्भूत हो जाने पर 'अहम्' नही रह पाता। कबीर के 'जब मै था तब हरि नही, अब हरि हैं मै नाहिं' का यही तात्पर्य है। भगवान् की सत्ता मे भक्त का व्यक्तित्व गल कर एकमेक हो जाय इसके लिये प्रणति, विनय आवश्यक है। विनती को हम सक्रिय प्रणति मानते है। क्योकि प्रणति जब तक वाणी द्वारा व्यक्त न हो तब तक वह हृदयस्थ होने के कारण निष्क्रिय रहती है। वाणी द्वारा हम अपनी प्रणति को व्यक्त करके उस व्यक्ति को भी अपनी प्रणति का अनुभव कराते हैं जिसके प्रति हमारे हृदय मे ऐसा भाव है।

इस प्रकार स्मरण, भजन और विनती मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के पोषक तत्त्व हैं। रज्जबजी ने अपनी 'बानी' में इन तीनो तत्त्वो को तीन पृथक् अगो (सुमिरन का अंग, भजन प्रताप का अंग तथा विनती का अग) में अभिव्यक्त किया है। यद्यपि हमने इसकी चर्चा अध्यात्म एव दर्शन के प्रसग में पर्याप्त रूप से की है तथापि यहां अत्यन्त सक्षेप में इनका उल्लेख कर देना उचित होगा। रज्जबजी का ध्रुव विश्वास है कि हरिनाम स्मरण साधना की सफलता का अमोघ साधन है। रज्जबजी कहते है कि वेद और कुरान का भी यही मत है कि नाम-जप ही श्रेष्ठ है। अत तत्त्ववेत्ता ससार की अन्य समस्त पद्धतिया त्याग कर हरिनाम स्मरण को ही ग्रहण करते है।[1]

भजन द्वारा भक्त भौतिक ऋद्धिया तो प्राप्त करता ही है, निवृत्ति और मुक्ति रूपी रत्नो की कमी इस रामभजन के उदधि में नही है।[2] शरीर मन और आत्मा तीनो को भगवान् का नाम पवित्र कर देता है। नाम तो पारस के समान है जो साधक के शरीर, मन और आत्मा रूपी लोहे को अपने स्पर्श से काचन बना देता है।[3] भजन के प्रताप से नामदेव ने मरी हुई गाय को पुन जीवित कर

---

१ – रज्जब टीका नाम को, वेद कुरान सुवेंहि।
यूं ततवेता त्यागि सब, हरि सुमिरन करि लेंहि॥
सुमिरन का अग, साखी १८

२ – रैणाइर रंकार मधि, मुक्ता रिधि सिधि माहिं।
जन रज्जब मथि जाप कर, रतनहु टोटा नाहिं॥ साखी ६

३ – तन मन आतम लोह कू, मिल्या सु पारस नांव।
तिनि तीन्यू कचन किये, सति सुमिरन बलि जांव॥
भजन प्रताप का अंग, साखी ६

दिया और मदिर की मूर्ति का रुख फेर दिया ।[1] स्मरण और भजन का वैज्ञानिक पक्ष भी है । जिस वस्तु का नामोच्चार बारम्बार किया जाता है आस-पास का वातावरण भी उससे गूंज उठता है तथा उसके गुण वातावरण मे व्याप्त हो जाते है । इसी को वातावरण की पवित्रता कहते हैं ।

रज्जबजी भक्ति सिद्धान्त के अनुसार भगवत्कृपा को ही सब कुछ मानते हैं। साधक का पुरुषार्थ साधना एव अध्यवसाय आदि भगवान् की कृपा पर ही अवलम्बित है। यह भगवत्कृपा निर्गुण और सगुण दोनो प्रकार की भक्ति परम्पराओ मे समान महत्त्व रखती है। तुलसी ने भी कहा है कि साधना के इस सरोवर के निकट आना कठिन हैं, राम की कृपा से ही यह सम्भव है।[2] वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति मे भगवत्कृपा ही सर्वस्व है। रज्जबजी साधक के पुरुषार्थ के ऊपर भगवत्कृपा को मानते हैं। वे राम से विनती करते हुये कहते हैं कि हे राम यदि तुम कृपापूर्वक बुला लो तो मैं आप से मिल पाऊगा। पतग को आकाश मे जाने के लिये पवन का प्रसग आवश्यक है।[3] जिस प्रकार आकाश की ओर बढने के लिये लता को आधार की आवश्यकता है उसी प्रकार साधक बिना परमात्मा के आधार के कुछ नही कर सकता है।[4] मनुष्य के अन्त करण मे काम, क्रोध, लोभ मोहादि अनन्त बैरी हैं, भगवान् की सहायता अथवा कृपा बिना इनसे छूटकारा पाना कठिन है।[5] भक्त जो कुछ भी भगवान् को अर्पित करता है, जो भी श्रद्धा, प्रेम, प्रणति का भाव रखता है वह उसी परमात्मा की

---

१ – मदिर सू मूरति फिरि, मुई जिलाई गाय।
तो नामदेव के भजन की, जन रज्जब बलि जाय॥ साखी १३

२ – यहि सर आवत अति कठिनाई।
राम कृपा बिनु आय न जाई॥
बालकाण्ड, तुलसी

३ – जे तुम राम बुलाय ल्यो, तो रज्जब मिलसी धाय।
यथा पवन परसग ह्वै, गुडी गगन कू जाय॥
विनती का अग, साखी ५

४ – बिन आधार अकास कू, कहो बेलि क्यू जाय।
त्यू रज्जब निरधार है, साहिब करो सहाय॥ साखी ६

५ – अन्त करण अनन्त रिपु, बैरी बहु बलवन्त।
रज्जब छूटै कौन विधि, बिन सहाय भगवन्त॥ साखी १००

कृपा का फल है। उसी ने भक्त को ये वस्तुयें दी हैं। उसी को दी हुई वस्तुओं से भक्त उसकी आरती व पूजा करता है।[१]

रज्जबजी के काव्य में आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता है। मानव जीवन का लौकिक पक्ष जहां जिन रूपो में आया है वहा वह केवल आध्यात्मिक पक्ष को पुष्ट करने के लिये है। आध्यात्मिक पक्ष के अन्तर्गत भगवद्भक्ति के उपादानो मे स्मरण, भजन और विनती सर्व प्रमुख है। मानना तो यह चाहिये कि निर्गुण भक्ति पद्धति मे नाम-जप सभी साधनाओ से ऊपर है। इस नाम-जप के द्वारा भक्त अपने ध्यान को परमात्मा मे सुविधा से केन्द्रित कर लेता है तथा उसकी चित्त की वृत्तिया ससार के विषयो से सहज ही विरत हो जाती हैं। भगवान् के असख्य नामो में से किसी का भी अनवरत उच्चारण करने से भगवान् के अतिरिक्त और सब कुछ विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार यह नाम-जप लययोग अथवा ध्यान योग में सिद्धि प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन है। स्मरण (मनन) के साथ-साथ नाम जप का महत्त्व प्राय सन्तो ने इसीलिये स्वीकार किया है। निर्गुण-सगुण दोनो प्रकार की भक्ति धाराओ में राम नाम-जप की महिमा समान रूप से स्वीकार की गई है। तुलसी कलियुग मे राम नाम ही को एक मात्र उद्धार का आधार मानते है।

रज्जबजी ने मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के कुछ विरोधी पक्षो का भी विचार किया है जो आध्यात्मिक साधन में विघ्नकारी सिद्ध होते हैं। इन पक्षों को उन्होने अपनी बानी के निम्नलिखित अगो में प्रकट किया है। (क) व्यभिचार का अग, (ख) काल का अग, (ग) माया का अग (घ) दरिद्रता का अग, (ङ) मन का अग, (च) विषय का अग, (छ) काम का अग, (ज) इन्द्रियो का अग, इन कतिपय अगो में रज्जबजी ने अध्यात्म विरोधी वृत्तियो का वर्णन किया है। यहा हम सक्षेप में उन पर विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

व्यभिचार

व्यभिचारी जीव में नियन्त्रण का अभाव होता है तथा वह विवेकशून्य

---

१ – आरती तुम ऊपरि तेरी, मै कछु नाहिं कहा कहै मेरी।
भाव भगति सब तेरी दीन्ही, ताकरि सेव तुम्हारी कीन्ही ॥

२ – मन चित सुरति सबद सब तेरा, सो तुम लै तुमही पर फेरा।
आतम 'उपजि सौंज सब तुमसे, सेवा शक्ति नाहि कछु हमसे ॥
राग धनाश्री, पद १

होता है। वह सयम का परित्याग करने के कारण हर जगह धक्के खाता है।[1] व्यभिचारी मनुष्य का मन उसी प्रकार इधर से उधर, उधर से इधर चक्कर खाता फिरता है जैसे मकडी और चकरी तार में चक्कर काटती रहती है। परमात्मा को भी ऐसे व्यक्ति पर प्रतीति नही होती।[2] यह व्यभिचार की प्रवृत्ति केवल मानव के लौकिक जीवन में ही नही देखी जाती, आध्यात्मिक जीवन में भी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है। शरीर से पातिव्रत और मन से व्यभिचार का भाव प्रियतम की इच्छा का ध्यान नही रहने देता—परिणाम यह होता है कि प्रिय और प्रियतम सारी आयु एक दूसरे से रूठे रहते हैं।[3] यहा पर आध्यात्मिक पक्ष की ओर भी सकेत है। शरीर से मनुष्य साधक बनता है मन एक परमात्मा पर केन्द्रित नही रहता—जिससे साधक और परमात्मा एक दूसरे से जीवन पर्यन्त अप्रसन्न रहते हैं।

काल

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में काल किसी को नही छोडता—जिस प्रकार दावाग्नि वन की समस्त जड चेतन वस्तुओ को भस्म कर देती है उसी प्रकार काल संसार की प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर देता है।[4] काल सर्वविजयी है, सर्वोपरि है।

काल से सूर्य चन्द्रमा भी नही बच सके, ससार के जीवो को तो वह एक ही ग्रास में कवलित कर देता है।[5] जिस प्रकार बादल आकाश में उमड आते हैं परन्तु क्षण भर में विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ससार के जीव काल के वशी-

---

१ – व्यभिचारी जिव वधि विन, घट में नहीं वमेक।
जन रज्जब पति छाडि करि, धक्के खांहि अनेक॥
विभिचारी का अग, साखी १

२ – मकरी चकरी तार परि, अहनिशि आवै नाहि।
मन मनसा ऐसे फिरहिं, कैसे पति पतियाहिं॥ साखी ३

३ – तनि पतिवरता मन सुखी, लखै न पिव प्रस्ताव।
रज्जब रूठे से रहैं, उभै सु सारी आव॥ साखी ६

४ – काल किसी छोटै नहीं, सुर नर सब ब्रम्हण्ड।
जन रज्जब दृष्टान्त कृ, यथा अग्नि वनखण्ड॥
काल का अग, साखी १

५ – निशि दिन जामण मरण में, चन्द सूर आकाश।
रज्जब जीव सहित सब सानि करि, काल करै इक ग्रास॥ साखी ७

भूत हो कर क्षण भर में विनष्ट हो जाते हैं।[1] इस ससार में काल से न राजा बच सकता है न रक। सारे जीवो का अस्तित्व ओलो की भाति क्षणभगुर है। ओले पृथ्वी पर गिरते ही पानी बन कर बह जाते हैं। उसी प्रकार मनुष्य का जीवन है। ओलो की आयु के समान जीवो की आयु भी क्षणिक है।[2] आयु दीर्घ हो या लघु, जब काल सदैव सिर पर नाचता है तो छोटी बडी आयु अल्प ही है। अत. राम का भजन करने मे इस नीच प्राणी को शिथिलता नही बरतनी चाहिये।[3] घडिया ही उस रहट की घटिकायें हैं इन घटिकाओ मे श्वास का जल भरना उँडेलना है। अर्थात् हर घडी आयु क्षीण हो रही है।[4] इस प्रकार रज्जबजी काल को राम की उपासना मे बाधक मानते है। तथा काल पर विजय पाने के लिये राम की उपासना को ही आवश्यक मानते हैं।

माया

जीवन की दोनो स्थितिया सम्पत्ति और विपत्ति माया का प्रभाव है। दोनो स्थितियो में माया मनुष्य को व्यग्र और दु खी करती रहती हैं। दोनो ओर रस के आने पर अनार फट जाता है तथा जल के जाने पर सरोवर विदीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार सम्पत्ति तथा विपत्ति के आने-जाने पर मनुष्य माया जन्य चिन्ता मे विदीर्ण होता रहता है।[5] यह माया मुनियो, सिद्धो, साधको को नित्य प्रति खाती रहती है। अत इस पर कभी प्रतीति नही लानी चाहिये।[6] यह माया

---

१ – ज्यू आभा आतुर उठै, बिलै होत नहिं बार।
स्यू रज्जब तन काल बसि, छिन में होसी छार॥ साखी ९

२ – जन रज्जब ससार में, रहसी रक न राव।
सब घट नाता देखिये, ओलों की सी आयु॥ साखी १४

३ – लघु दीरघ आव सु अलप, जै सिर ऊपर मींच।
रज्जब राम सभालिये, ढील न कीजै नीच॥ साखी २०

४ – रज्जब काया कूप में, आव अधारै नीर।
रहट रैनि दिन घडि-घडी, भरिये सलिल समीर॥ साखी २५

५ – बणि अनार वित आये फाटै, नीर गये पर फाटै ताल।
त्यू रज्जब सम्पत्ति विपति, मन कू करै बिहाल॥
माया का अग, साखी ६

६ – जो माया मुनिवर गिलै, सिध साधिक से खाय।
ता माया सों हेत करि, रज्जब क्यों पतियाय॥ साखी ११

सब पर अपना प्रभाव डालती है, केवल हरि गुण ही माया मे रहते हुये भी उसमें उसी प्रकार लिप्त नही होता जैसे मछली समुद्र मे प्रतिबिम्वित सूर्य से प्रभावित नही होती ।[1] माया स्वय मौन रहती है परन्तु उसके प्रभाव में प्राणी अत्यन्त प्रगल्भ हो जाते हैं और सदैव बकते रहते हैं ।[2] माया आध्यात्मिक साधना के लिये सब से बड़ा विघ्न है। अन्य विघ्न तो इस माया के अग मात्र हैं ।

इसी प्रकार रज्जबजी ने मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष में दरिद्रता (आलस्य), विषय, काम, क्रोध आदि को विघ्न के रूप मे चित्रित किया है तथा इन्द्रियो और मन को इन समस्त विघ्नो का आश्रय माना है । इसीलिये रज्जबजी मन और इन्द्रियो को सासारिक विषयो से हटा कर परमात्मा में लीन करने के पक्ष में हैं। इस ससार मन के समक्ष दो लक्ष्य पाये जाते हैं—पहला माया और दूसरा ब्रह्म । मन यदि माया से विद्ध हो गया तो ब्रह्म से विरत होगा और यदि वह ब्रह्म में लोन हो गया तो वह माया से मुक्त रहेगा । मन समस्त इन्द्रियो का स्वामी है । अतः जहा पर वह टिकेगा वही समस्त इन्द्रिया भी स्थिर हो जायेंगी । सामान्यत साधक के लिये इस मन का निग्रह ही कठिन है। मन को वशीभूत कर लेने पर इन्द्रियां स्वयमेव वशीभूत हो जाती हैं । रज्जबजी योगियो की भाति मन को मार डालने की उतनी अपेक्षा नही समझते जितनी उसे ब्रह्म की ओर मोड देने की । ज्ञानयोग मे मन का सर्वथा दमन विधेय माना जाता है, परन्तु भक्ति योग मे मन को ससार से उपरत कर परमात्मा मे प्रवृत्त कर देना ही महत्त्वपूर्ण है । रज्जबजी मन को सर्वथा निराकृत न कर उसे परमात्मा मे लगाने का उपदेश दे कर यह प्रमाणित कर देते हैं कि वे ज्ञानमूलक साधना के स्थान पर भक्तिमूलक उपासना पर निष्ठा रखते हैं । उन्होने अपनी बानी मे आध्यात्मिक साधना के सहायक अगो का निर्देश करते हुये साधना मार्ग मे उपस्थित होने वाले सासारिक विघ्नो का भी स्पष्ट रूप से सकेत कर दिया है, तथा साधक को प्रकारान्तर से यह चेतावनी भी दी है कि वह अपनी साधनावस्था में साधना के सहायक अगो को अपनाये तथा विघ्नकारी वृत्तियो से बचने की चेष्टा करे ।

---

१ – ज्यू सूरिज दीसै समद में, मीन सरै नहि कोय ।
त्यू रज्जब माया मगन, हरि गुण लिपत न होय ।। साखी १३

२ – माया मुख बोलै नहीं, सदा लिये चुपचार ।
रज्जब बकते सब फिरै, इस मौन रीत की लार ।। साखी २०

निर्गुण संत परम्परा के भक्तो के काव्य में जीवन के लौकिक पक्ष तथा आध्यात्मिक पक्ष दोनो ही को महत्त्व प्रदान किया गया है। लोक व्यवहार एव सामाजिक आचार को आध्यात्मिक साधना का अग माना गया है। विशेषता यह है कि दोनो पक्षो को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि दोनो के बीच कोई सीमा-रेखा खीचना कठिन है। एक का क्षेत्रविस्तार दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण करता है तथा एक का प्रदेश दूसरे के प्रभाव से अतिक्रान्त है। लौकिक पक्ष एव आध्यात्मिक पक्ष दोनो मे साधना की प्रधानता है। अन्तर केवल इतना है कि लौकिक पक्ष का परिष्कार आध्यात्मिक पक्ष के शृंगार के लिये है तथा आध्यात्मिक पक्ष की सिद्धावस्था बहुत कुछ लौकिक पक्ष के पवित्राचार पर निर्भर है। यदि और आगे बढें तो यह कहा जा सकता है कि ये दोनो पक्ष साधक के जीवन के अवस्थागत भेद हैं। साधना की शृखला का पहला सिरा लौकिक पक्ष है तथा उसका अन्तिम छोर आध्यात्मिक पक्ष है। मानव जीवन मे कुछ ऐसे उभयनिष्ठ तत्व हैं जो दोनो पक्षो के लिये समान रूप से आवश्यक हैं। गुरुजनो तथा सत्पुरुषो के प्रति सेवाभाव, सम्भाषण में मृदुलता, परोपकार, शिष्टता, सद्व्यवहार, सद्भाव तथा द्वेष, पैशुन्य, हिंसा एव भोगासक्ति का त्याग आदि गुण समाजपरायण व्यक्ति के लिये जितने आवश्यक हैं, आध्यात्मिक साधक के लिये भी उससे किसी प्रकार कम नही। रज्जबजी ने अपने साधना सम्बन्धी दृष्टिकोण में दोनो पक्षो को यथापेक्षित स्थान दिया है तथा मानव जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये सैद्धान्तिक आग्रहो की अतिशयता का परिमार्जन किया है। आध्यात्मिक पक्ष मे उन्होने जगत् को मायाकृत विस्तार माना है। माया ब्रह्म की भाति सर्वत्र व्याप्त है यह मानते हुये भी रज्जबजी माया के बीच ही मुक्ति का अन्वेषण करते हैं। अपनी रचना के 'मायामधि मुक्ति का अग' शीर्षक अग में उनके माया सबधी विचारो की बडी ही स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। आध्यात्मिक पक्ष मे अपनी गुरु परम्परा के साधक कबीर और दादू की भाति ही सहज-साधना को वे विशेष महत्व देते हैं। साधना का यह सहज रूप ही आध्यात्म तत्व सम्बन्धिनी समस्त जटिलताओ को सरल कर के उसे लोक साधनोपयोगी एवं सर्वग्राह्य बना देता है। रज्जबजी दोनो पक्षो को पृथक् अथवा भिन्न नही मानते कदाचित् इसीलिये उन्होने अपनी बानी मे दोनो पक्षो के अगो को अलग-अलग विभक्त नही किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने समस्त अगो को एक ही परिधि मे समेटने की चेष्टा की है। कही पर लौकिक पक्ष के अंगो की विवेचना हुई है और कही पर आध्यात्मिक पक्ष के अगो का वर्णन है। दोनो की अविच्छिन्न तथा अपृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। रज्जबजी एक

ऐसे सत थे जिन्होने जीवन के सर्वतोमुखी विकास को महत्व प्रदान किया था। इसीलिए उनकी साधना का रूप कभी भी एकागी नही रहा है। लौकिकता की उपेक्षा कर के केवल अलौकिकता की थाह लेना, उसमे रमना उन्हें श्रेयस्कर नही प्रतीत होता। वे लौकिकता को ही साधन बना कर अपने साध्य अलौकिक पक्ष-को सिद्ध करना चाहते हैं। सूफी साधना की यही विशेषता है कि उसमें साधक को अपनी दैहिक स्थिति तब तक बनाए रखनी पडती है जब तक चारो पडाव वह न पार कर ले। सूफी इस दुनियाँ का इसीलिये तिरस्कार नही करता कि उसमें उसके वहीद का नूर ताबा होता है। कमल के आकाक्षी को कीचड का तिरस्कार तब तक नही करना है जब तक कमल उसे प्राप्त न हो जाय। यह दुनिया या लोक तब तक आवश्यक है जब तक पूर्ण आध्यात्मिक स्थिति की उपलब्धि न हो जाय। रज्जबजी में यह सूफी साधना प्रणाली अपने सुन्दर रूप मे मिलती है। लोक मे उनकी प्रवृत्ति है किन्तु तभी तक जब तक पूर्ण निवृत्ति न हो जाय। वे इश्क करते हैं परन्तु ईश्वर से। उनको विरह सताता है परन्तु केवल भगवान् का। उनको मिलने का चाव है पर परमात्मा से। इस प्रकार हम देखते है कि रज्जबजी के साहित्य मे लोकोपयोगी मानव जीवन के सभी पक्ष प्राप्त होते हैं। मानव जीवन का इतना व्यापक एव बहुपक्षीय चित्र विश्व के विरले कवियो के साहित्य मे मिलेगा।



अध्याय ७

रज्जब साहित्य के कतिपय पारिभाषिक शब्द

निर्गुण भक्ति परम्परा के हिन्दी साहित्य मे कतिपय ऐसे पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है जिनके आशय मे कोई न कोई धार्मिक साधनागत सदर्भ अवश्य विद्यमान है। रज्जबजी ने अपने साहित्य मे इस प्रकार के जिन शब्दो का प्रयोग किया है वे उन्हें कबीर परम्परा से प्राप्त हुए हैं। नानक और दादू तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यो के साहित्य मे एक ही प्रकार के पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा उन्होने उनका प्रयोग उन्ही अर्थों एव सगतियो मे किया है जिनमें उनके पूर्ववर्ती महात्मा कबीर आदि ने किया था। प्रश्न यह उठता है कि कबीर ने ये शब्द कहा से ग्रहण किये ? इस पारिभाषिक शब्दावली का विलक्षण तथा पारम्परिक इतिहास है जिसकी विस्तृत एव व्यापक सीमाओ को छूने का प्रयास करने से हमारे विघेय विवेचन मे प्रसग-च्युति एव विषयान्तर दोष आ जायेगा। इतना सकेत कर के यहा हम काम चलायेंगे कि बौद्ध धर्म की महायान शाखा कालान्तर से तत्रात्मक साधना मे प्रवृत्त होकर वज्रयान मे रूपान्तरित हो गई। श्री नगेन्द्रनाथ उपाध्याय ने 'बौद्ध दर्शन के विश्रुत विद्वानो की मत-परम्परा' मे ही यह तथ्य विश्लेषणपूर्ण शैली मे रखने की चेष्टा की है कि महायान के तत्रात्मक हो जाने पर वह वज्रयान नाम से प्रख्यात हुई। डा० विनयतोष भट्टाचार्य के मत को प्रमाण रूप मे प्रस्तुत करते हुये श्री उपाध्याय ने वज्रयान का प्रवाह काल ७ वी से १० वो शताब्दी तक माना है, जिसके ३०० वर्ष वाद तक तात्रिक साधना का प्रचार प्रसिद्ध ८४ सिद्ध तथा उनके शिष्यो द्वारा होता रहा।'[1] डा० धर्मवीर भारती इसी तथ्य का समर्थन करते हुये लिखते हैं। 'ये चौरासी सिद्ध जिस वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे वह कोई अलग सम्प्रदाय न होकर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का ही विकसित रूप था।'[2] डा० भारती ने विद्वानो की इस धारणा का अनुमोदन किया है कि नाथ योगियो के सिद्धो तथा बौद्ध वज्रयानी सिद्धो मे अभेद है। बौद्ध तात्रिक सिद्ध कहलाये और शैव योगी 'नाथ'। इस नाथ सम्प्रदाय पर बौद्ध सिद्धो का प्रभाव

---

१ – तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृष्ठ १०६–१०७

२ – सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ६६

वैष्णव सम्प्रदायो के माध्यम से पड़ा। इसका सकेत डा० भारती ने अपने 'सिद्ध साहित्य' की प्रस्तावना मे किया है। नाथ सम्प्रदाय के आद्याचार्य आदिनाथ भगवान् शकर ही माने जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ ने सम्पूर्ण नाथपथी धर्म-साधना इन्ही से प्राप्त की, और इनसे गोरखनाथ ने प्राप्त की। नाथयोगियो की कतिपय मान्यताओ का प्रभाव हिन्दी के निर्गुणपथी सतो पर पडा। यदि इस विचार को और स्पष्ट रूप से रखना चाहें तो हम कह सकते हैं कि गोरखनाथ की वाणी का प्रभाव कुछ तो स्वामी रामानन्द के माध्यम से और कुछ प्रत्यक्ष कबीरदास के माध्यम से रज्जबजी पर पडा। रामानन्द नाथ-पथी योगाचार से प्रभावित हुए थे, इसका सकेत हम इसी ग्रथ मे अन्यत्र कर आये है। इस निष्कर्ष की भूमिका हमें यह भी मान लेने की प्रेरणा देती है कि हिन्दी के निर्गुणोपासक सत विशेषतया कबीर पर बौद्ध सिद्धो की साधना सम्बन्धी मान्यताओ का जो प्रभाव लक्षित होता है वह प्रत्यक्ष न हो कर नाथ-पथ के माध्यम से ही मानना चाहिये। गोरखनाथ की बानी का सीधा प्रभाव कबीर की रचनाओ मे लक्षित होता है। बौद्ध साधना पद्धति का प्रभाव निश्चयात्मक रूप से वैष्णव और शैव उपासना पद्धति पर पडा। यही कारण है कि अनेक पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं जो बौद्ध, वैष्णव, शैव, नाथ तथा निर्गुण सत साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमे से कुछ विशेष शब्द जैसे शून्य, शून्यमडल, सहज-शून्य, सहज-समाधि, निरजन, मध्य-मार्ग, उल्टी साधना, सुरति-निरति, निर्वाण, अजपाजप आदि की व्याख्या करते हुये हम रज्जब साहित्य मे इनकी प्रयोग-सगतियो का निरीक्षण करेंगे।

शून्य

बौद्ध महायान शाखा की प्रमुखत दो शाखाये शून्यवाद और विज्ञानवाद नाम से प्रचलित हुईं।[1] किन्तु जिस शून्य शब्द की व्याख्या हम यहा प्रस्तुत करने जा रहे हैं उसमे और शून्यवाद शाखा में कोई अर्थ-सम्बन्धी साम्य नही है। डा० धर्मवीर भारती ने सकेत किया है कि महाभारत मे भीष्म द्वारा निरूपित विष्णु सहस्रनामो मे एक शून्य भी था तथा शकराचार्य के इस कथन 'सर्व विशेषणरहितत्वात् शून्यवत् शून्य' का भी स्मरण किया है।[2] इसका अर्थ होता है कि समस्त विशेषणो गुणो तथा प्रकृतियो से रहित होने के कारण ब्रह्म शून्य है। विद्वत्प्रवर सुरजनदासजी स्वामी के विचार से शून्यवादी माध्यमिक बौद्धो ने

---

१ – बौद्ध धर्म दर्शन अध्याय ७, पृष्ठ १६१, ले० आ० नरेन्द्रदेव।

२ – सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ८३–८४

समस्त धर्मों तथा सुख दु:खादि से रहित सर्वव्यवहारातीत चतुष्कोटि विनिर्मुक्त केवल शुद्ध तत्व के लिये 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। यही वेदान्तियो का तुरीयातीत ब्रह्म है। परन्तु वेदान्ती शून्य को असत् मान कर उसका खण्डन करते हैं—यद्यपि अद्वैत की उद्भावना शकर के हृदय मे बौद्ध-शून्य-सिद्धान्त से ही हुई है। केवल नित्यत्त्व व क्षणिकत्त्व का मौलिक भेद माध्यमिक बौद्ध तथा शकर के मत मे है। शकराचार्य परमतत्व को नित्य मानते हैं और बौद्ध क्षणिक एव अनित्य।[1] स्वामी सुरजनदास के मत से 'सन्तो की वाणियो मे तथा अन्य शास्त्रो मे इस शून्य शब्द का आगम बुद्ध के माध्यमिक सिद्धान्त से हुआ है। उन्होने परम तत्व के लिये इस शून्य शब्द का प्रयोग किया है।[2] नाथ-पथियो ने शून्य शब्द का प्रयोग परब्रह्म के लिये किया है।

वसती न सून्यं, सून्य न वसती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महि बालक बोले, ताका नांव धरहुगे कैसा॥

कबीर और दादू ने शून्य शब्द का प्रयोग गोरखनाथ को अर्थ परम्परा में किया है—

गगन गरजि मन सुनि समाया, बाजे अनहद तूरा॥[3]

अथवा

उलटे पवन चक्रषद् वेधा, सुनि सुरति लय लागी।[4]

दादू का भी शून्य से आशय ब्रह्म से ही है।

सहज सुनि मन राखिये, इन दोन्यू के माहि।
लै समाधि रस पीजिये, तहां काल भै नाहि॥[5]

किन्तु दादूजी ने शून्य का अर्थ अभाव, स्थान, परमतत्व तीनो के लिये किया है।

काया सुनि पंच का बासा, आतम सुनि प्राण परकासा।
परम सुनि ब्रह्म से मेला, आगे दादू आप अकेला॥[6]

---

१ – दादू बाणी की भूमिका, पृष्ठ ८३-८४
२ – दादू बाणी की भूमिका, पृष्ठ ८४
३ – कबीर ग्रथावली, पद भाग, राग गौंडी, पद ७
४ – ,, ,, ,, ,, ८
५ – दादू बाणी, लै का अग, साखी १०
६ – दादू बाणी, परचै का अग, साखी ५३

यहां पर पचेन्द्रियो से शून्य शरीर, मन से शून्य आत्मा तथा परम शून्य ब्रह्म की बात कही गई है।

सत रज्जब ने शून्यवाद का प्रयोग कबीर और दादू की परम्परा में ही किया है। नाथपथी शून्य को षटचक्र साधना मे ब्रह्म-रन्ध्र के लिये भी प्रयोग करते है, वे उसे शून्यचक्र भी कहते हैं।[1] रज्जबजी भी कही-कही शून्य शब्द का प्रयोग ब्रह्म-रन्ध्र के लिये करते हैं।

रज्जब आज्ञा आनि मधि, आतम अभ निकास।
उलटि समावे शून्य में, पंथी पथ सुवास ॥[2]

यहा पर आज्ञा शब्द का प्रयोग आज्ञाचक्र के लिये तथा शून्य शब्द का प्रयोग ब्रह्म-रन्ध्र अथवा सहस्रार के लिये किया गया है। दादूजी की भाति ही रज्जबजी भी शून्य शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे करते हैं। रज्जबजी ने शून्य शब्द का प्रयोग आकाश के लिये, ब्रह्म-रन्ध्र के लिये तथा ब्रह्म के लिये किया है।

आकाश के लिये

रज्जब पानी पृथ्वी पर पड़या, पृथ्वी पाणी माँहि।
ज्यूं सलिल समाना शून्य मे, त्यूं अवनि अकास न जाँहि ॥
साधु-असाधु परीक्षा का अग, साखी ८

इक साई अरु शून्य के, आदि अन्ति मधि नाँहि।
सोधणहारे सब थके, जन रज्जब ता माँहि ॥
हैरान का अग, साखी ३

ब्रह्म-रन्ध्र के लिये

मन उनमन ले राखिये, परम शून्य अस्थान।
तो रज्जब लागै नहीं, जम जालिम का बान ॥

ब्रह्म के लिये

वारीक मही भीणहु परै, शून्य समान न कोय।
जन रज्जब तासो मिलण, तब तैसा ही होय ॥
लघुता का अग, साखी २३

सत साहित्य मे 'शून्यमण्डल' शब्द का प्रयोग सहस्रार अथवा ब्रह्म-रध्र के लिये किया गया है। इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते है कि वह शब्द नाथ-योगियो

---

१ – दादू वाणी, भूमिका, पृष्ठ ८४
२ – रज्जब वाणी, विरह का अग, साखी ३०

की परम्परा से कबीर मे आया और कबीर से अन्य निर्गुणोपासक सन्तो ने लिया। गोरखनाथ ने इस शब्द को ब्रह्म-रध्र के लिये कई स्थलो मे प्रयुक्त किया है।

'सुनि मडल' तहा नीझर झरिया, चन्द सुरज ले उनमनि धरिया।[1]

यदि हम कहे कि रज्जबजी के साहित्य मे गोरखनाथ का कही-कही सीधा प्रभाव लक्षित होता है तो अनुचित न होगा। क्योकि रज्जबजी ने कई स्थानो पर गोरखनाथ का स्मरण किया है।[2] किन्तु गोरख की वानी आदि पढने की प्रेरणा रज्जवजी को कबीर से ही प्राप्त हुई होगी क्योकि कबीर मे गोरखनाथ का प्रत्यक्ष प्रभाव विद्यमान है। बौद्धो के वज्रयानी साहित्य मे शून्य की कई स्थितिया मानी गई है परन्तु निर्गुणोपासक इन संतो मे शून्य शब्द का प्रयोग मुख्यतः आकाश, सहस्रार और ब्रह्म के लिये किया गया है। शून्य मडल, शून्य महल, शून्य गढ, शून्य शिखर, गगन मण्डल आदि कई पर्याय सन्त साहित्य में मिलते हैं।

सहज शून्य

बौद्धो और नाथयोगियो, इन दोनो की यौगिक साधना पद्धति मे शून्य परम-तत्त्व अथवा परमात्म सिद्धि की अवस्था मानी जाती है। वज्रयानी बौद्ध साधना मे शून्य के ४ प्रकार-शून्य, अतिशून्य, महाशून्य तथा सर्वशून्य बताये गये हैं।[3] बौद्ध सिद्ध इनमें से चतुर्थ-शून्य को सहज-शून्य कहते थे 'जो परम अवस्था है, परमतत्व है, जिसमें प्रज्ञा तथा उपाय का पूर्ण अभेद हो जाता है।' डा० भारती के इस मत से असहमति नही होनी चाहिये कि निर्गुण सत परम्परा के अन्य सतो की अपेक्षा दादू में इस सहज-शून्य का रूप अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट होकर मुखरित हुआ है।[4] दादूजी जीव और ब्रह्म में अन्तर नही मानते अथवा यो कहें कि ब्रह्म को जीव का स्वभाव मानते हैं, यह स्वभाव ही सहजता है। इसीलिये वे कहते हैं—

---

१ – गोरख वानी, पृष्ठ २०

२ – रहते गुरु गोरख अनग, जिन अजर सु जार्‌या। रज्जब जी के कवित्त (छप्पय), रहत का अग, पद १

३ – सिद्ध साहित्य, ले० धर्मवीर भारती, पृष्ठ ३५१

४ – सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ३५७

सहज रूप मन का भया, तब है मिटी तरंग ।
ताता सीळासमिभया, तब दादू एकै अंग ।।
दादूवाणी, मन का अंग, साखी ४४

मन का ब्रह्म में लीन हो जाना ही मन का सहज रूप है अथवा जीव का स्वभाव है, इसी को वेदान्ती प्रकारान्तर से स्वरूपावस्थान कहते हैं। निर्गुण संत साधना की प्रत्येक दिशा में सहजता की प्राप्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। ज्ञान, ध्यान, जप, भजन, समाधि सभी में सहजता का उत्पन्न हो जाना आवश्यक है। तभी दुविधा अथवा द्वन्द्व से मुक्ति मिलेगी। दादूजी की यह 'सहज की डोरी' से तात्पर्य साधना की सर्वाङ्गीण सहजता से है।

क्यों करि उलटा आणिये, पसरि गया मन फेरि ।
दादू डोरी सहज की, यों आणों घरि घेरि ।।
दादूवाणी, मन का अंग, साखी ६८

रज्जबजी सहज शब्द का प्रयोग प्रायः स्वाभाविकता के लिये करते हैं—

सहज सबूरी साच ले, सुमिरै निरमल अंग ।
सो रज्जब रामहिं मिलै, सब सम्पत्ति तहिं संग ।।
रज्जब वानी, विश्वास संतोष का अंग, साखी ६०

तथा

प्राण पिण्ड पहराइये, तबहीं सकल उपाधि ।
न्योरे नारायण कला, सहजै होय समाधि ।।
रत विकृत का अंग, साखी २८

रज्जबजी सहज समाधि का प्रयोग ब्रह्म मे मन को लीन कर देने के लिये करते हैं। 'सहज समाधि सुरति सदा सावति, भाव-भगति करि भीनो' मे मन को ब्रह्म मे लय कर देने की बात कही गई है। रज्जबजी ने सहज शून्य के लिये केवल 'सहज' शब्द का प्रयोग किया है तथा शेष तीन प्रकार के शून्यों के लिये असहज शब्द का प्रयोग किया है।

मन इन्द्री ऐसी विधि साधि, लय सो लोरि नाव विधि दाधि ।
रज्जब संत असहज समाइ, पीछै मिलै सहज के जाइ ।।
रज्जब वानी, पद, राग-गिरि, पद १८

उपर्युक्त पंक्तियों मे सहज में समाने का अर्थ है ब्रह्म मे लय हो जाना। असहज से तात्पर्य है इन्द्रियदमन की साधनावस्था या असहजावस्था। एक स्थान पर रज्जबजी ने 'सहजशून्य' जैसा पूरा पद प्रयोग न कर के केवल 'सहज' शब्द से काम चलाया है। असहज शब्द मे यत्नपूर्वक इन्द्रियदमन का भाव है तथा

सहज शब्द में स्वरूपावस्थान अथवा ब्रह्म-पद प्राप्ति का सकेत है। कबीरदासजी के पहले इस सहज और शून्य शब्द का प्रयोग बौद्धो एवं नाथो में होता था, किन्तु कबीर ने इन दोनो शब्दो का एक साथ प्रयोग किया जो परमतत्व सिद्धि की अवस्था मानी जा सकती है।[1] कबीर की ही अर्थ परम्परा मे दादूजी ने तथा दादू की अर्थ परम्परा में रज्जबजी ने शून्य और सहज शब्दो का प्रयोग किया है। परन्तु रज्जबजी ने अपनी बानी में प्राय सहज और शून्य शब्दो का अलग-अलग प्रयोग इन शब्दो की मूल प्रयोग परम्परा को अपनाया है।

निरजन

निरंजन शब्द का अर्थ होता है 'श्यामता रहित'। अजन का अर्थ सस्कृत में श्याम अथवा कज्जल होता है। नाथपथियों ने और योगियो ने तथा निर्गुण संतो ने इस शब्द का प्रयोग किया हैं। हठयोगियों ने ब्रह्म के लिये 'निरजन' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होने नादानुसन्धान द्वारा पाप समूहो के नष्ट होने तथा चित्त और प्राण के निरजन (ब्रह्म) में लय हो जाने की बात कही है।[2] शिव सहिता में भी उसी निर्गुण चैतन्य के लिये निरजन शब्द का प्रयोग किया है।[3] उसमें यह भी बताया गया है कि जब यावत् माया की उपाधि से जीत कर उससे रहित हो जाता है तब अखण्ड ज्ञान रूपी निरजन का मान होता है।

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पुरुषः।
तदा विजयते अखण्डज्ञानरूपीनिरंजनः॥

इन उद्धरणो से यह परिचय मिलता है कि मायामुक्त निर्गुण परमतत्व ही निरजन है। योगियो ने निरजन शब्द शिव के लिये तथा नाथ-योगियो और निर्गुण सन्तों ने इस शब्द का प्रयोग निराकार निर्गुण-ब्रह्म के लिये किया है। जो माया के कज्जल से विरहित हो वही निरजन है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' पुस्तक में 'निरजन' शब्द की विशद विवेचना प्रस्तुत की है (पृष्ठ ५३–६८)। किन्तु यहा पर हमें निर्गुण साधको द्वारा प्रयुक्त 'निरजन' शब्द पर सक्षेप में प्रकाश डालना है। नाथ-पथ में निरंजन शब्द का

---

१ – 'कबीर' ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ७२–७३

२ – सदानादानुसधानात्क्षीयते पापसचयाः।
निरजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ॥
हठयोग प्रदीपिका, अध्याय ४, श्लोक १०५

३ – शिव सहिता, पटल २, श्लोक ५१

सर्वाधिक प्रचार था। गोरखनाथ ने इस शब्द का प्रयोग उस निर्गुण निराकार ब्रह्म के लिये ही किया है।

पच तत ले सिधा मुडाया, तब भेंटिले निरजन निराकार।
मन मसत हस्ती मुडाय अवधू, तब लूटि लै अखै भण्डार॥
गोरख बानी, पृष्ठ ८७

गोरख बानी में एक स्थान पर नही, अनेक स्थानो पर इस निरंजन शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिये किया गया है। कबीर ने 'अजन' शब्द का प्रयोग माया के लिये तथा 'निरजन' शब्द का प्रयोग ब्रह्म के लिये कई स्थानो मे किया है।

अजन अलप निरजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार।
अजन उतपति वरतनि लोइ, बिना निरजन मुक्ति न होइ॥
अजन आवै अजन जाय, निरजन सब घटि रहा समाय।
जोग ध्यान तप सवै विकार, कहै कबीर यहै राम अधार॥
कबीर ग्रथावली, राग भैरू, पद ३३७

दादूजी का 'निरजन' भी वही परमतत्व ब्रह्म है। वे ब्रह्म को माया निर्लिप्त निर्मल मानते है तथा शेष ससार उनकी दृष्टि में मायाच्छन्न, अधकारावृत्त है। वही तत्व सत्य है, शेष सब मिथ्या एव भ्रम है।

दादू सोई सति है, दूजा भरम विकार।
नांव निरजन निर्मला, दूजा घोर अधार॥

अथवा

चारि पदारथ मुक्ति बापुरी, अठ सिधि नौ निधि चेरी।
माया दासी ताकै आगै, जहं भक्ति निरजन तेरी॥

महात्मा दादूदयाल की बानी के प्रारम्भ में ही गुरुदेव के अग का प्रारम्भ ही निरजन शब्द से हुआ है। वहा पर दादूजी निरजन की वन्दना सर्वप्रथम करते हैं—

दादू नमो नमो निरजनं, नमस्कार गुरु देवत।
वन्दन सर्व साधवा, प्रणाम पारगत॥ साखी १

रज्जबजी अपनी बानी के प्रारम्भ मे दादूजी की उपर्युक्त स्तुति को ही प्रयुक्त करते हैं। दादू राम नाम को ही निरजन मानते हैं तथा उन्ही की परम्परा में रज्जबजी राम नाम को ही मूल-मत्र मान कर उसे निरजन की सज्ञा प्रदान करते हैं—

राम नाम मूल मन्त्र, सत्य नाम निरजनं।
यथा धावै तथा पावै, भजै भारिये भजनं॥
रज्जब बानी, सुमिरन का अंग, साखी १

रज्जबजी उस अनूप निर्गुण तत्व को निरंजन की उपाधि से विभूषित करते हैं। वे उसे अवतारो से परे मानते हैं।

सब औतारों आकार तजि, भये निरंजन रूप।
सोहं सेवें पण्डितहु, निर्गुण तत्व अनूप॥
पीव पिछाण का अंग साखी ३६

वह श्रीगोपाल ही निरंजन है, उसकी उपासना करने से शिव ब्रह्मादिक देवता सभी प्रसन्न रहते हैं। अथवा सभी उसकी उपासना करते हैं—

सेय निरंजन दीनदयाल।
पैड़ परसि पूजी सब डाल॥
शिव विरंचि सब देव दयाल।
जै तैं सेया श्रीगोपाल॥
पद भाग, राग भैरूं, पद २

वह निरंजन तत्व स्वय तो निर्मल है ही, प्राणी को भी निर्मल बना देता है। वह कोई जाति भेद नही करता तथा समस्त पतितो का उद्धार बिना किसी भेद भाव के कर देता है। ससार में जल की भांति है जो उन सारे प्राणियो की तृषा और क्षुधा को शान्त कर देता है जो उसका सेवन करते हैं—

नाम निरजन निर्मला, नर के मल धोवै।
सकल पतित पावन भये, कोई जाति न जोवै॥
जैसे जल दल जात की, तिष क्षुधा मेटै।
तृप्त करै तिहु लोक में, जा जीवहि भेटै॥
पद भाग, राग बिलावल, पद २

इसी मायासक्त प्राणी (अजन) में ब्रह्म (निरजन) व्याप्त है। वह निर्गुण होते हुये भी सगुण में निर्लिप्त भाव से व्याप्त है। भगवन्त और भक्त एक से हैं परन्तु वह भगवन्त भाग्य से मिलता है—

अजन माँहि निरजना, निर्गुण गुण माहीं।
भगवंत भक्त एक से, भल भाग मिलाहीं॥
राग विलावल, पद ६

इसी प्रकार रज्जबजी 'निरजन' शब्द का प्रयोग विशुद्ध रूप से निर्गुण परम्परा के अर्थ मे ही करते हैं। वह निरजन मायामुक्त निर्गुण निराकार परमतत्त्व अथवा रामतत्त्व के रूप में सर्वत्र व्याप्त है।

मध्यमार्ग

निर्गुण सत साधना में मध्यमार्ग का जो शाब्दिक अर्थ होता है वही उसका साधना सम्बन्धी अर्थ भी होता है। मध्यमार्ग साधना निर्गुणोपासना को बौद्ध धर्म की देन है। नाना प्रकार की अस्वाभाविक साधना पद्धतियो को अस्वीकार करने के साथ ही सहज मार्गी सिद्धो ने अपने उस सहज मार्ग का सूत्रपात किया जो उनके पूर्ववर्ती और तत्कालीन प्रचलित सभी प्रकार की साधना पद्धतियो की अपेक्षा सहज और सरल है। उनकी यह साधना सहज-साधना कहलाती है।[1] "इस साधना का व्यवहार पक्ष उन्होने 'कमलकुलिश' साधना के रूप मे उपस्थित किया है। कमल और कुलिश दोनो के बीच मे स्थित होने से सुख की प्राप्ति होती है। इसमें पराये और अपने का भाव नही रह जाता। चित्त मुक्त गजेन्द्रवत रमण करने लगता है। इस साधना के लिये न तो घर मे रहने की आवश्यकता है और न वन में जाने की। जहा-जहा मन जाता है वहां-वहा जाना चाहिय। 'बोधि' और 'निर्वाण' के ऊपर घर और वन का वधन और सीमा नही लग सकती। उनकी यह साधना वाम और दक्षिण को छोड कर मध्यम मार्ग को अपनाने की साधना है।"[2] बौद्ध धर्म की विभिन्न शाखाओ का अध्ययन करनेवाले विद्वान् इस निष्कर्ष पर एक मत है कि अद्वैत भाव की उपलब्धि मध्यमार्गी साधना से होती है। भदतशान्ति भिक्षु ने भाव और अभाव के बीच या शाश्वत और उच्छेद के बीच की राह को मध्यमाप्रतिपदा कहा है।[3] प्रतिपदा का अर्थ मार्ग होता है। इस मार्ग के आठ अग हैं, सम्यक् दृष्टि सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् स्मृति, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम तथा सम्यक् समाधि। इन अगो सेयुक्त आर्य अष्टागिक मार्ग कहलाता ह। प्रथम दो प्रज्ञास्कन्ध मे, तीसरा चौथा, पाचवा शीलस्कन्ध मे तथा अन्तिम तीन समाधि स्कन्ध मे अन्तर्भावित है।[4] शरीर पीडा

---

१ – तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, ले० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृष्ठ १७७

२ – तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, ले० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृष्ठ १७९

३ – महायान—भदत शान्ति भिक्षु, पृष्ठ १९

४ – बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, ले० भरतसिंह उपाध्याय, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६३ तथा ३७२

और भोगवाद की अतियों से बचकर जिस प्रकार भगवान् ने अष्टांगिक मार्ग के रूप मे समन्वित जीवन-विधि का विकास किया था, उसी प्रकार विचार-क्षेत्र मे भी उन्होने समन्वय विधान किया था। इस प्रकार उनके द्वारा साक्षात्कृत मध्यमाप्रतिपदा अपने पूर्ण अर्थ मे अत्यन्त व्यापक और विस्तृत दृष्टि लिये हुई थी। बुद्ध-सम्पूर्ण शासन की मध्यम मार्ग के रूप मे व्याख्या की जा सकती है।[1] बुद्ध का मध्यमा प्रतिपदा अर्थात् मध्यम मार्ग और नागार्जुन का चतुष्कोटि विनिर्मुक्त शून्यता का मध्यम मार्ग, सहज यानियों के अवधूतिका मार्ग या ललना रसना के मध्यम मार्ग से भिन्न नही है। अन्तर यह है कि बुद्ध का मध्यम मार्ग दर्शन-प्रधान था तथा सहजयानियो का मध्यम मार्ग साधना-प्रधान तथा यौन-योगिक प्रक्रिया से सम्बन्ध था। सामान्यतः इस मार्ग का अर्थ था अतियों 'Extremes' का त्याग।[2] रज्जबजी ने अपनी बानी के 'मधिमार्ग निजस्थान निर्णय का अंग' मे इस मध्यम मार्ग की सुन्दर एवं रोचक व्याख्या प्रस्तुत की है। हम नही मानते कि रज्जबजी ने यह मध्यमार्गी दर्शन सीधे बौद्धो से ग्रहण किया था। संत साहित्य के विद्वान् इस विचार से निश्चय ही सहमत होगे कि रज्जबजी ने मध्यमार्गी उपासना को कबीर और दादू से ग्रहण किया था। क्योकि दोनो ही महात्माओ की बानियो मे 'मधि को अंग' प्राप्त होता है जिसमे उन्होने इस साधना मार्ग की व्याख्या की है। रज्जब जी मानव शरीर मे विचित्र घाट बताते हैं। उनके अनुसार प्रवृत्ति के छोरो को छोड कर दोनो के बीच से होकर जो साधक चलेगा उसको पश्चाताप नही होगा।[3] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बौद्धो के मध्यम मार्ग को उसकी जिस मौलिकता के साथ कबीर और दादू ने ग्रहण किया उस मौलिकता के साथ रज्जबजी ने नही ग्रहण किया। बौद्ध मध्यमार्ग प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के बीच की सहज साधना है किन्तु रज्जबजी ने उसका वर्णन अन्तर्मुखी साधना के रूप में किया है। रज्जबजी मध्यमार्ग का निरूपण करते हुये कहने लगते हैं कि-ऐ पागल, उस परम तत्त्व को बाहर क्यो खोजता है, वह तो शरीर के भीतर ही वर्तमान है, आत्मा राम

---

१ – बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन-ले० भरतसिंह उपाध्याय, प्रथम भाग व पृष्ठ ३७२

२ – तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृष्ठ १६७

३ – रज्जब अज्जब घाट है, मिनखा देही मांहि।
सुरति निरति मधि ऊतरे, पछितावै सो नांहि॥
—मधिमार्ग निजस्थान निर्णय का अंग, साखी २

के निकट ही है।[1] रज्जबजी के विचार से सप्त द्वीपो एव नव खण्डो मे भ्रमण करने से कुछ भी हाथ नही लगेगा। उस तत्त्व की उपलब्धि तो हृदय मदिर में ही होती है।[2] मध्यमार्ग निरूपण करने वाले पूरे अग मे रज्जब जी ने दो अति-वादी चर्याओ के बीच का मार्ग निरूपित करने के स्थान पर पिण्ड में ही ब्रह्म तत्त्व दिखाने के फेर में पड़ गये हैं। वे मध्यमार्ग की व्याख्या करने के स्थान मे अन्तर में ही सारे लोक लाघने की बात कहने लगे हैं। शरीर को विलक्षण घाट बता कर वे उर की बाट में ही अन्तर्यामी का साधक से सम्मिलन कराते हैं।[3] किन्तु कबीर और दादू ने इस मध्यम मार्ग की व्याख्या बौद्ध धर्म की छाया में ही की है। कबीरदासजी प्रवृत्ति और निवृत्ति अथवा सुख और दुःख के बीच का मार्ग अपनाने की शिक्षा देते हैं। उनके विचार से सुखवादी मार्ग यद्यपि शीतल प्रतीत होता है और दुःखवादी मार्ग ताप देने वाला है परन्तु दोनों अतृप्तकारी है। इन दोनों के बीच स्थित होकर एक अग उस ब्रह्म की सहज साधना में साधक को प्रवृत्त होना चाहिये।[4] जो भगवान् में निष्ठा रखते और विश्वास करते हैं वही प्रवृत्ति और निवृत्ति की अतियों को त्याग कर बीच का मार्ग प्राप्त करते हैं—अनल पक्षी आकाश में घर बनाता है परन्तु आकाश और पृथ्वी के बीच में ही सदा रहता है ऐसा उसकी हरिनिष्ठा से ही सम्भव हो सकता है।[5] छाह और घाम दोनो का जहा अभाव हो वहा विश्राम करने की कबीरदासजी सम्मति देते हैं। जहा जागृति स्वप्न और सुषुप्ति की पहुच नहीं

---

१ – बाहर ढूंढै बावरे, भीतर भेदी प्राण।
  रज्जब आतम राम कन, समझो सत सुजान॥   साखी ६

२ – सप्त दीप नव खण्ड फिरि, हाथ चढ़ै कछु नाहि।
  रज्जब रजमा पाइये, आपै उर घरि मांहि॥   साखी १३

३ – अंतरि लाघै लोक सब, अंतरि औघट घाट।
  अंतरजामी कू मिले, जन रज्जब उर बाट॥   साखी १९

४ – कबीर दुविधा दूरि करि, एक अग ह्वै लागि।
  यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि॥
  —कबीर ग्रथावली मधि को अग, साखी ८

५ – अनल अकासा घर किया, मधि निरतर वास।
  वसुधा व्योम विरकत रहै, विनठाहर विश्वास॥
  —मधि को अग, साखी ३

है वहा पहुचने का वे उपदेश देते हैं।[1] कबीरदासजी हल्दी का पीलापन (प्रवृत्ति का पीलापन) तथा चूने की सफेदी (निवृत्ति की श्वेतिमा) को एकमेक मिला कर भक्ति की लालिमा मे कर लेना ही श्रेष्ठ मानते हैं।[2] यह कबीरदास जी द्वारा मध्यमार्ग की प्रतीकात्मक व्याख्या है। कबीर के इस विचार की सगति में महात्मा दादू का यह कथन है कि सुख और दु ख मे समान रह कर राम के रग में ही साधक हो रग जाना चाहिये। वह व्यक्ति जीवन मृत्यु के बन्धन से सहज साधना द्वारा पूर्ण निर्वाण पद प्राप्त कर लेता है।[3] दादू जी घर और बन के बीच ही रहने का उपदेश करते है।[4] इस प्रकार कबीर और दादू दोनो ही बौद्ध मध्यमार्गी सहज साधना को उसी रूप में ग्रहण करते हैं। परन्तु रज्जब जी इसको अन्त.साधना के रूप में ग्रहण करते है जो बौद्धो की मध्यमा प्रतिपदा की परम्परा से भिन्न है। यद्यपि रज्जब जी अपनी बानी मे यत्र-तत्र पक्ष-साधना की अतियो का खण्डन और तिरस्कार करते हैं जिनका सकेत हम अन्यत्र कर चुके हैं, परन्तु मध्यमार्गी साधना को जिस रूप में रज्जबजी ने ग्रहण किया है वह अतियो की मध्यनिर्देशिका न होकर अन्तर्मुखी उपासना का पर्याय बन गई है।

निर्वाण

निर्वाण शब्द में गर्भित मर्म की व्याख्या विभिन्न विद्वानो द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई है। बौद्ध दर्शन के पाश्चात्य विद्वानो ने अपने-अपने विचार से निर्वाण शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया है। किन्तु इस विचार पर प्राय समस्त विद्वानो में मतैक्य है कि 'बुद्ध का आदर्श आध्यात्मिक था और उनके निर्वाण का अर्थ इस लोक में प्रज्ञा और सम्यक् शान्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था किन्तु श्रावक, शास्ता के विचारो को सम्यक् रीति से समझने मे असमर्थ थे

---

१ – बासुरि गमि ना रैणि गमि, ना सुपिने तर गम।
कबीर तहा विलम्बिया, जहां न छाडी घम्म ॥ मधि को अगसाखी ४

२ – कबीर हरदी पीयरी, चूना उज्जल भाइ।
राम सनेही यू मिले, दुन्यू बरन गवाह ॥ वही साखी ६

३ – दादू द्वै पख रहित सहज सों, सुख दुख एक समान।
मरै न जीवै सहज सों, पूरा पद निर्वाण ॥
दादू बानी मधि को अग, साखी २

४ – का है दादू घरि रहै, का है बन खडि जाइ।
घर बन रहता राम हैं, ताही सौं ल्यौ लाइ ॥ साखी ८८

और उन्होने इस आदर्श को अमृत अनन्त, द्वीपादि की आख्याये दीं इससे शास्ता के सिद्धान्त को क्षति पहुचती।[1] निर्वाण के सम्बन्ध में सौत्रान्तिक एव वैभाषिक शाखाओ में मतभेद है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने 'बौद्ध दर्शन' नाम के ग्रथ में 'निर्वाण' पर एक पृथक् अध्याय देकर विभिन्न पाश्चात्य तथा प्राच्य विद्वानो के मत मतान्तर प्रस्तुत करते हुये उस पर गहराई से विचार किया है। सौत्रान्तिको के मत से निर्वाण अभाव मात्र है, सर्वास्तिवादियो ने उसे परमार्थ सत् द्रव्य माना है। निर्वाण सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर बुद्ध ने नही दिया, फिर भी वैभाषिक इस प्रश्न को स्थापनीय नही मानते। हीनयानी निर्वाण के दो भेद मानते हैं सोपाधि निर्वाण तथा निरुपाधि निर्वाण। प्रथम जीवन मुक्ति की अवस्था है। द्वितीय निर्वाण की वह अवस्था है जिसमें मृत्यु के पश्चात अर्हत् (साधक अथवा भगवान बुद्ध) का अवसान होता है। महायान में एक तीसरी अवस्था अप्रितिष्ठित निर्वाण की मानी गई है।[2] बौद्ध धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाओ ने निर्वाण पर कही-कही परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत किये हैं। निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय हो अथवा सोत्तर, भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को असंस्कृत, सत्य, अजर, ध्रुव, निष्प्रपच, अमृत, शिव, क्षेम, अदभुत, विशुद्धि, द्वीप और त्राण के रूप मे निश्चय ही आख्यात किया है। भगवान् बुद्ध ने एक बार अपने भिक्षु शिष्यो को सम्बोधित कर कहा था, 'भिक्षुओ, अब मैं तुम्हें असस्कृत का उपदेश दूगा। सत्य का . अजर का. ध्रुव का, निष्प्रपच का...अमृत का शिव का.. क्षेम का . अद्भुत का . विशुद्ध का . द्वीप का. त्राण का उपदेश करूगा।'[3]

रज्जवजी ने निर्वाण के लिये कही-कही शून्य और कही-कही शून्यपुर का प्रयोग किया है।[4] परन्तु उनके निर्वाण का अर्थ स्पष्टत मुक्ति है, जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त होना है। रज्जबजी ने निर्वाण के लिये कही-कही मोख का मोक्ष शब्द का भी प्रयोग किया है।

---

१ – बौद्ध धर्म दर्शन' पृष्ठ २७९, ले० आ० नरेन्द्र-देव।

२ – ,, ,, पृष्ठ २७९, पृ० ३०८

३ – बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५०४ में विशुद्ध भाग के ८। २४८ से उद्धृत।

४ – चढ़ै सु प्राणी पार शून्य पर जाइहैं।
परिहां रज्जब अजब दरस जुगे जुगि पाइहैं॥
रज्जब जी के अरिल सुमिरण का पद १२

रज्जब राजसि उपजे बंदगी, सात्विक सेवा पोख।
तामस तन मन मारिये, आतम पाव नहिं मोख।।
सर्वगुण अर्थी, साखी ७

रज्जबजी मोक्ष, मुक्ति[1], परमार्थ, शून्य, शून्यपुर आदि शब्दो का प्रायः प्रयोग करते है। बानी मे एक-आध स्थल ही ऐसे हैं जहा रज्जबजी ने निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है।

जब लग इन्द्रयू चपलता, तब लग मैला प्राण।
रज्जब पाचो थिर बिना, मिलै न पद निर्वाण।।
थकित निहचल अंग, साखी ७

यह हम बता चुके है कि निर्वाण शब्द के लिये भगवान बुद्ध ने अनेक शब्दो का प्रयोग करते हुये 'पार' शब्द का भी प्रयोग किया है। रज्जबजी ने उस पार शब्द को उसी बौद्ध परम्परा मे प्रयुक्त किया है।

बिन परचै सब पंगु है, परचै प्राणी पार।
जन रज्जब सांची कही, तामै फेर न सार।।

बिना उस परम सत्ता के आराधन के पार (निर्वाण) की उपलब्धि सम्भव नही है। इस निर्वाण के लिये वस्तु (बसत) शब्द का प्रयोग भी रज्जबजी ने किया है—

परचै आतम राम गति, मिलै बसत बल होय।
रज्जब पाई पारिखा, फेर सार नहिं कोय।।

निर्वाण शब्द को वैष्णव भक्तो ने भी अपना लिया था।[2] निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि यह बौद्धो का निर्वाण शब्द निर्गुण सगुण भक्ति की दोनों

१—स्वाति बूंद राखै मुकति, साधु शब्द यूं राखि।
रज्जब निपजहिं मुकति मन, सब समझो की साखि।।
जतन का अंग, साखी ६

तथा

चोरी की तब चोर है, धर्म कर्म ह्वै साध।
भाव फिरत भावी फिरी, तिनहुं मुक्ति फल लाध।।
पाप पुण्य निर्णय का अंग, साखी १४

२—अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्बान।
जन्म जन्म रति राम पद, यह बरदान न आन।।
रामचरित मानस, अयोध्याकांड

धाराओ मे मुक्ति और स्वर्ग का द्योतक बन गया। इस शब्द का प्रयोग रज्जबजी ने लगभग नही के बराबर किया है। हो सकता है निरीश्वरवादी धर्म का शब्द ग्रहण करना आस्थावान् रज्जब को प्रिय न रहा हो।

उन्मनी

यह हठयोग मे ध्यान की एक विशेष अवस्था मानी गई है। साधक अपनी चित्तवृत्तियो को सासारिक विषयो से हटा कर त्रिकुटी मे ध्यान को स्थिर कर के उस परम ताव का ध्यान करता है। ऐसा करने से उसकी दृष्टि की तारी-सी लग जाती है तथा उसे दिव्य ज्योति का दर्शन होता है। नेत्रो की कनीनिका रूप तारो को ज्योति मे अर्थात् तारो का नासिका के अग्र भाग मे संयोग करने से प्रकाशमान् जो तेज है उसमे सयुक्त कर के भृकुटियो को किंचित् ऊपर को अन्त लक्ष्य बहि दृष्टि रूप योग ही क्षणमात्र में उन्मनी अवस्था उत्पन्न कर देता है— इसी अवस्था को उन्मनी मुद्रा कहते हैं।[1] नाथ पथियो ने विशेष रूप से मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ ने हठयोग की अपनी साधना में विशेष स्थान दिया। गोरखनाथ की साधना का तो एक मात्र आधार हठयोग है। इस उन्मनी अवस्था का उन्होने स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है। गोरखनाथ ने हठयोग में प्रतिपादित उन्मनी अवस्था को ज्यो का त्यो स्वीकार किया है। उन्मनी अवस्था में भगवान् की ओर साधक की तारी लग जाती है तथा एक विशेष 'नूर' का दर्शन होता है।[2] इस उन्मनी के लग जाने से शून्य मण्डल (ब्रह्मरन्ध्र) से अमृत निर्झरित होने लगता है। चन्द्र (इड़ा) सूर्य (पिंगल) को सुषुम्णा में लय कर के उन्मनी अवस्था को धारण किया जाता है।[3]

कबीर ने इस उन्मनी अवस्था का एक पद में सविस्तार वर्णन किया है। वे उन्मनी को सहज समाधि का महत्वपूर्ण उपादान मानते हैं तथा उन्मनी

---

१ – तारे ज्योतिषि सयोज्य, किञ्चिदुन्नमयेद भ्रुवौं।
पूर्वयोग मनोयुजन्मनीकारक क्षणात ॥
हठयोगप्रदीपिका, उपदेश ४, श्लोक ३९

२ – जहां जोगेसुर हरि कू ध्यावै, चद सूर तहां सीस नवावे।
मछिन्द्र प्रसावे जती गोरखनाथ आरती गावे॥
नूर झिलमिल दीसे, तहां 'अनत न आवे।
गोरखबानी, आरती ६६९

३ – सुनि मण्डल तहां नीझर झरिया, चद सुरिज लै उन्मनी धरिया।
गोरखबानी, पृष्ठ ४०

अवस्था के आ जाने पर साधक सुख-दुःख से निवृत्ति पा जाता है तथा परम सुख का अधिकारी हो जाता है।[1]

महात्मा दादूदयाल कबीरदास की उन्मनी अवस्था के प्रभाव की छाया में ही उनका चित्रण करते है। इस अवस्था मे घर और वन का भेद मिट जाता है, जहाँ हरि नाम नही वहाँ घर और वन दोनो ही व्यर्थ है। साधना के लिये वही स्थान उपयुक्त है जहा मन उन्मनी में लग जाय।[2] कबोर की भाति ही दादूजी भगवान् की आन्तरिक पूजा का विधान बताते हुये कहते है कि चित्त चावर है, प्रेम भगवान् पर उस चवर को झलता है, ज्ञान का दीप है, अनाहत ही घन्टा ध्वनि है, ध्यान की धूप है, प्रीति के पुष्प है। इस प्रकार भाव की आरती दादूजी को प्रिय है।[3]

---

१ – सतो सहज समाधि भली।
साँई ते मिलन भयो जा दिन ते, सुरतन अत चली ॥
आख न मूदू कान न रूधू, काया कष्ट न धारू।
खुले नैन मैं हँस हँस देखू, सुन्दर रूप निहारू ॥
कहू सो नाम सुनू सो सुमिरन, जो कछु करू सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखू, भाव मिठाऊ दूजा ॥
जहं जह जाऊ सोई परिकरमा, जो कछु करूं सो सेवा।
जब सोऊ तब करू दण्डवत्, पूजू और न देवा।
शब्द निरतर मनुवा राता, मलिन वचन का त्यागी ॥
ऊठत बैठत कबहु न बिसरै, ऐसी तारी लागी ॥
कहै कबीर यह उन्मनी रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख दुख के इक परे परमसुख, तेहि में रहा समाई ॥
कबीर—हजारी प्रसाद द्विवेदी, अत के पदों मे ४१ पद

२ - ना घर भला वन न भला, जहां नहीं निज नांव।
दादू उनमनि मन रहै, भला त सोई ठांव ॥
दादू बानी, सुमिरन का अग, साखी ७८

३ – आरती जग जीवनि तेरी, तेरे चरन कँवल पर वारी फेरी ॥
चित चांवर हेत हरि ढारे, दीपक ज्ञान हरि जोति विचारै ॥
घण्टा शबद अनाहद बाजै, आनन्द आरती गगन गाजै ॥
धूप ध्यान हरि सेती कीजै, पुहुप प्रीति हरि भावरि लीजै ॥
सेवा सार आतम पूजा, देव निरजन और न दूजा ॥
भाव भगति सों आरति कीजै, यहि विधि दादू जुगि जुगि जीजै ॥
दादू बानी, राग धनाश्री, पद ५

रज्जबजी भी इस अन्तपूंजा को अपने दादू की परम्परा मे ही ग्रहण करते है। रज्जबजी भगवान् की आरती का विधान इस प्रकार बताते हैं · शरीर और मन ही भगवान् को अर्पित करने की सामग्री है। ज्ञान-दृष्टि दीपक है। शरीर के भीतर धैर्य ही घण्टा-ध्वनि है। ध्यान की धूप है। नाना प्रकार के वृक्षो की पत्तिया और पुष्प चढाने के लिये है। नख से शिख तक की अन्त साधना ही चन्दन का बारीक पीसना है। करणी की केशर छिडकने के लिये है। यही रज्जबजी की अन्त:-सेवा है।[१] रज्जबजी ने अपनी बानी में उन्मनी अवस्था का वर्णन तो किया है परन्तु 'उन्मनी' शब्द का प्रयोग अधिक नही किया है। इस उन्मनी अवस्था में साधक के सारे सकट दूर हो जाते है। समस्त सासारिक क्लेशो का निवारण हो जाता है।

रज्जब जोस्यू जाय जग जे मिनख देह उनमनि रही।[२]

रज्जबजी के विचार से साधक को अपने चित्त की समस्त वृत्तियो को उसी परम ज्योति के ध्यान में निमग्न कर देना चाहिये। ऐसा करने से शून्य मार्ग में प्रवेश होता है तथा प्राणी (जीवात्मा) अमर हो जाता है।[३] उन्मनी अवस्था में साधक का चित्त स्वयमेव परमात्मा में लग जाता है।[४] रज्जबजी उन्मनी अवस्था के लिये मन की शुद्धि और पवित्रता को अनिवार्य मानते

---

१ – आरती आतम राम तुम्हारी, तन मन सेवा सोज उतारी ॥
दीपक दृष्टि गुरु की दीन्हीं, घण्टा घट धीरज ध्वनि कीन्हीं।
ध्यान धूप हित को करि हारा, पाती पुहुप अठारह भारा ॥
नख सख चन्दन नान्हा बाटै, केशर करनी सोहरि छांटै ॥
ऐसी विधि उर अन्तरि सेवा, जन रज्जब क्या जानै मेवा ॥
रज्जबवानी, पद भाग, राग धनाश्री, पद २

२ – रज्जबजी के कवित्त, उपदेश का अग, पद ७

३ – मन रे गहो गुरु मुख बध।
सकल विधि तैं सकल कारज उममनी ले सध ॥
शब्द साधू शीश धर कर, रटणा आतम रध ॥
शून्य मारग गमन करतैं, अमर आतम कध ॥
रज्जबजी के पद, राग केदार, पद २

४ – ज्यू जीव सीव ह्वै उनमन लाग।
राग माली गौड़ा, पद २

है।[1] मन को ब्रह्माग्नि में जलाना चाहिये जिससे वह माया से संलग्न होकर पुन: अकुरित न हो सके—मन को माया से बचाने के लिये उन्मनी की साधना नितान्त आवश्यक है।

मन उनमन लागा रहै, माया मध्य न जाय।
ब्रह्म अगनि में जारै बीजहि, बहुरि उगै नहि आय।।
उपदेश चितावणी का अग, साखी १४८

इस प्रकार हम देखते है कि रज्जबजी वस्तुत कबीर, दादू तथा नाथ पथी योगियो की परम्परा में ही उन्मनी शब्द का प्रयोग करते है। किन्तु रज्जबजी के साहित्य में उन्मनी का व्याख्यात्मक स्वरूप केवल पद भाग में एकाध स्थल पर प्राप्त होता है, कबीर की भाति उन्होने उन्मनी शब्द का प्रयोग करते हुये इस अवस्था का वर्णन नही किया। प्राय उन्होने शब्दोल्लेख मात्र से काम चलाया है। यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो रज्जबजी की सहज समाधि, सहज की उपलब्धि तथा उन्मनी अवस्था मे कोई भेद नही प्रतीत होता। मन को ब्रह्म मे लय कर देना ही रज्जबजी की दृष्टि मे समाधि, लय, सहजावस्था अथवा उन्मनी अवस्था है।

अजपाजाप

भगवद्भक्ति मे जप का महत्व सर्वोपरि है, यह हम पीछे प्रकारान्तर से कई स्थलो पर कह आये हैं। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि सगुण भक्ति उपासना में नाम रूप मे रूप-प्रधान है तथा निर्गुण भक्ति मे नाम प्रधान ही नही, नाम सब कुछ है—उसमे रूप के लिये कोई स्थान नही है। सगुण भक्ति में रूप, ध्यान और नाम जप दोनो का महत्व है। निर्गुणोपासको मे ध्यान का जप से कम महत्व नही है किन्तु वहा ध्यान रूप का न होकर निरवय ज्योति का ही होता है। अजपा का शाब्दिक अर्थ होता है किसी मत्र का उच्चारण न किया जाय किन्तु उसका जप होता जाय। हम उसे निर्वाक जप कह सकते हैं। अजपाजाप की व्याख्या कवीर की साखियो के आधार पर डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल ने

१—सांच शील जल सांपडै, सुचि सयम सांचा।
व्रत उनमनि अह निशा, मन मनसा वाचा।।
राग रामगिरी, पद ८

ने अत्यन्त सुन्दर रूप मे प्रस्तुत की है।[1] इस प्रसग मे गोरख तथा उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का सम्वाद उद्धरणीय है।[2]

गोरख .—

स्वामी पाइ बिन कौन मारग, चषि बिन कौन दृष्टि।
करण बिन कौन श्रवण, मुख बिन कौन शब्द ॥

मछिन्द्र —

अवधू पाइ बिन विचार मारग, चषि बिन निरति द्रिष्टी।
करण बिन सुरति श्रवण, मुख बिन लय सबद ॥

गोरख —

स्वामी कौन सो धोवती, कौण सो आचार।
कौण जाप मन तजै विकार ॥
कौण भाव थे निरभै रहै, सतगुरु होई सु बूझा कहै।

मछिन्द्र —

अवधू ध्यान सो ब्रह्म आचार,
अजपाजाप मन तजै विकार।
आतम भाव थै निरभै रहै,
ऐसा विचार मछिन्द्र कहै ॥

तान्त्रिको ने मनुष्यो की रात दिन मे २१६०० मे प्रत्येक श्वास के आने जाने पर बिना शब्द के नाम जप को अजपाजाप माना है। तान्त्रिको ने इस जप

---

1 – "When gradually the aspirant reaches this state, which is the height of the praying mood, the lip prayer is dispensed with and replaced by a live prayer which our saints call Ajapajap or unuttered prayer for being an internal condition, it needs neither tongue nor rosary It is the stirring of very soul and consists in voluntarily placing one self indirect and immediate touch with the Divine presence within When the mind has become intoxicated where is the need of the words of mouth ? For, indeed when love has possessed one's heart and soul, every pour becomes a mouth to sing praises of the Lord"

The Nirgun School of Hindi Poetry, Page 126.

2 – गोरखबानी – मछीन्द्र गोरखबोध, पृष्ठ १६।

का मूल मत्र हंसः माना है।[1] हस. का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। यदि ध्यानपूर्वक देखें तो जब श्वास भीतर जाती है तो हकार तथा जब श्वास बाहर आती है तो सीत्कार की निश्शब्द ध्वनि प्रस्फुटित होती है—हस का रुकते हुये उच्चारण करने में भी स्वभावत ह के साथ श्वास भीतर जाता है तथा स के साथ बाहर आता है। इसे अजपाजाप कहते हैं।

अजपाजाप की प्रामाणिक व्याख्या के लिये स्वामी सुरजनदान ने दादू बानी की भूमिका मे 'ध्यान बिन्दूपनिषद्' से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[2]

रज्जबजी ने इस अजपाजाप की महिमा का विशद् वर्णन किया है। कबीर और दादू ने अजपाजाप की ओर अत्यन्त संक्षेप मे यत्र-तत्र सकेत कर दिया हैं।

सुमिरन सुरति लगाइ करि, मुख ते कछू न बोल।
बाहर के पट देइ करि, भीतर के पट खोल॥[3]

दादूजी इसी जप का पोषण करते हुये कहते है :—

दादू बिन रसना जह बोलिये, तह अंतरजामी आप।
बिन श्रवणहु साँई सुने, जे कछु कीजै आप॥

रज्जबजी अजपाजाप का आशय स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि मनसा-वाचा-कर्मणा तीनो रूपो मे जो हरि का भजन किया जाता है उसे अजपाजाप कहते हैं।

शरीर शब्द अरु श्वास करि, हरि सुमिरन तिहु ठाँव।
जन रज्जब आतम अगम, अजपा इसका नाँव॥[4]

---

१ – हिन्दी शब्द सागर 'स से कुन्दा' तक वाला खड, स० बाबू श्यामसुन्दरदास, प्र० काशी नागरी प्रचारिणी सभा

२ – (क) भुजङ्गिन्याः श्वासवशावजपा जायते ननु।
हकारेण बहिर्याति सः कारेण विशेत्पुनः॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिम्।
अजपा नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा॥

(ख) हस हसेत्यमुं मन्त्र जीवो जपति सर्वदा।
शतानि स दिवारात्र, सहस्राण्येकविंशति॥
एतत् सख्यान्वित मन्त्र जीवो जपति सर्वदा।
अजपा नाम गायत्रीं, योगिनां मोक्षदा सदा॥

३ – निर्गुन स्कूल आॅव हिन्दी पोइट्री के पृष्ठ १२० में उद्धृत।

४ – रज्जबबानी, अजपा जाप का अग, साखी १

यहां श्वास का अर्थ है मन से, अथवा मानसी ध्यान। परन्तु रज्जबजी जप की तीन श्रेणिया मानते है। वाणी से भजन करने वाला मानव, हृदय से भजन करने वाला देवता तथा प्राणो से भजन करने वाला सच्चा ब्रह्म साधक, यही अजपाजाप है।[१]

मुख द्वारा अक्षरो, स्वरो अथवा ३६ व्यजनो का उच्चारण किया जाता है किन्तु उस अक्षर ब्रह्म के जप के लिये इस वाणी के भजन के स्थान पर उर भजन (अजपाजाप) का ही साधको को आश्रय लेना चाहिये।

रज्जब मुखि अक्षर मुख सप्त स्वर, मुख भाषा सु छत्तीस।
ये तो ऊपरि उर भजन, अरण आखर जगदीस॥

रज्जब बानी, अजपाजाप, साखी ३

रज्जबजी अजपाजाप मे साधक को ब्रह्माण्ड, पिण्ड, मन, प्राण सब से असम्पृक्त होकर ब्रह्म ध्यान मे लीन हो जाने का उपदेश करते है—

ब्रह्मण्ड पिण्ड मन प्राण तजि, सुख में सुरति समाय।
रज्जब अजपाजाप यहु, नर देखहु निरताय॥

यहाँ प्राण का अर्थ श्वास है। यद्यपि सामान्यत. अजपाजाप मे प्रत्येक श्वास निःश्वास मे नाम जप की बात मानी गयी है। किन्तु रज्जबजी अजपाजाप मे श्वास व्यापार का भी अतिक्रमण कर के ध्यानव्यापार में विलीन कर देने के पक्ष में है। जो योग की ध्यान वृत्ति के अनुकूल ही है क्योकि पवन निरोध वहा आवश्यक माना गया है।

साक्य बैन बाई रहित, होय सु अजपाजाप।
रज्जब मन उनमनि लगै, प्रगटै आपै आप॥

इस प्रकार रज्जबजी अजपाजाप और उन्मनी में अभिन्नता, अभेद उपस्थित करते प्रतीत होते है। अजपाजाप वस्तुत. समाधि की अवस्था है और समाधि उन्मनी का पर्याय मानी गई है।[२] अत अजपाजाप और उन्मनी को यदि हम पर्याय मानें तो कोई विप्रतिपत्ति न होनी चाहिये।

---

१ – मुख सूं भजै सु मानवी, दिल सू भजै सु देव।
जिव सू जपै सु ज्योति में, रज्जब सांची सेव॥
रज्जबबानी, अजपाजाप का अंग, साखी २

२ – राजयोग समाधिश्च, उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्व लयस्तत्त्व, शून्याशून्य पर पदम्॥
अमनस्क तथाद्वैत, निरालम्ब निरंजनम्।
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचका.॥
हठयोगप्रदीपिका, उपदेश ४, श्लोक ३–४

रज्जबजी अजपाजाप की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये अतीव व्यजक उपमान प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है कि पतिव्रता, पति का नाम लेना उसका अनादर मानती है तथा मछली के वाक्शक्ति है ही नहीं किन्तु दोनो इष्ट के बिछोह पर स्नेह पथ पर अपने प्राण दे देते हैं।[1] इस प्रकार रज्जबजी द्वारा प्रतिपादित अजपाजाप वह सहज समाधि है जिसमे निमग्न हो कर साधक शरीर, मन और प्राण की अवस्थाओ को अतिक्रान्त कर ब्रह्म ध्यान मे विलीन हो जाता है।

अवधू

अवधू शब्द अवधूत का अपभ्रष्ट है। अवधूत शब्द के सस्कृत मे कई अर्थ होते हैं। हिलाया हुआ, अपमानित, तिरस्कृत, अस्वीकृत, परित्यक्त, त्यागी, सन्यासी आदि।[2] निर्गुण भक्ति साहित्य मे अवधू अथवा अवधूत शब्द का प्रयोग त्यागी और सन्यासी के अर्थ मे किया गया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधूत शब्द द्वारा साधुओ का एक प्रकार लक्षित कराया है।

सेव सखवरा बालपर, सिद्ध साधक अवधूत।
आसन मारे बैठे सब, जारि आतमा भूत॥[3]

नाथ पथो योगियो ने इस शब्द का अधिकाधिक प्रयोग किया हैं। गोरख बानी मे हमारे विचार से यही एक ऐसा शब्द है जिसका असख्य बार प्रयोग हुआ है। कही कही तो दो पक्तियो के पद मे इसका दो बार प्रयोग हुआ है।

अवधू सहजै लैणा सहजै देणा, सहजे प्रीति ल्यो लाई।
सहजै सहजै चलेगा रे अवधू, तो बासण करेगा समाई॥
गोरख बानी, पृष्ठ ७६

गोरख बानी मे 'गोरख मछिन्द्र बोध' शीर्षक मे दिये गये गोरख मत्स्येन्द्र सम्वाद मे मत्स्येन्द्र द्वारा दिये गये गोरख के प्रत्येक प्रश्न के उत्तर मे 'अवधू' शब्द प्रयुक्त हुआ हैं। वहा पर गोरखनाथ ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को 'स्वामी' शब्द से सम्बोधित किया है तथा मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को 'अवधू' शब्द से

---

१ – मिहरि पतिव्रत मीन मत, दोन्यू नाम न लेहिं।
पै होतै इष्ट अलाहिदे, नेह माग जिव देहिं॥
रज्जब बानी, साखी १४

२ – सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, ले० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा

३ – जायसी ग्रथावली – सिंहल द्वीप वर्णन खण्ड, सम्पा० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

सम्बोधित कर के उत्तर दिया है। गोरखनाथ की ही परम्परा मे 'अवधू' शब्द का प्रयोग कबीर के साहित्य मे प्राप्त होता है। कबीर प्राय इस शब्द का प्रयोग पद के प्रारम्भ मे करते देखे जाते है।[1] कबीर की परम्परा में दादू और रज्जब दोनो इस शब्द का प्रयोग करते है। कबीर, दादू, रज्जब तथा निर्गुण सत परम्परा के अन्य महात्मा इस अवधू के पर्याय साधो और सन्तो शब्दो का भी प्रयोग करते हैं। किन्तु साधो और सन्तो शब्द का प्रयोग पद के अतिम भाग अथवा प्रारम्भ मे ही प्राय मिलता है।[2] दादूजी ने भी ऐसा ही किया है।[3] इसी प्रकार 'भाई रे', 'रे मन' आदि सम्बोधनो द्वारा भी इन सतो ने अपनी अनुभूति एव मर्म से साधक को अवगत कराया है।[4] कही-कही तो केवल 'रे' का सम्बोधन प्राप्त होता है।

रज्जबजी अवधू शब्द का प्रयोग शब्द की चली आई सत परम्परा में करते हैं—

ज्यू शून्य सकल माहे जुदो, त्यू साई साक्षीभूत।
ज्यू रज्जब मिश्रन मुकति, सो समझै अवधूत ॥[5]

---

१ – कबीर ग्रथावली—

(क) अवधू कामधेन गहि बांधी रे – पद १५२
(ख) अवधू जागत नीद न कीजै – पद १६८
(ग) अवधू अगनि जरै कै काठ – पद १७४
(घ) अवधू ऐसा ज्ञान विचारं – पद १७५
(ङ) अवधू ब्रह्म मतै घरिजाइ – पद १७७

२ – कबीर ग्रथावली—

(क) कहै कबीर सुनो रे सन्तो, करि ल्यो जै कछु करणा—पद २४४
(ख) सन्तो सो अनभै पद गहिये – पद १५७

३ – दादू बानी—

(क) साधो हरि सों हेत हमारा – पद ३०९
(ख) सतो राम बाण मोहि लागे – पद २०३

४ – कबीर ग्रथावली—

(क) भाई रे चून विलूटा खाई पद ८१
(ख) मन रे तन कागज का पुतला – पद ९२
(ग) रे यामें क्या मेरा क्या तेरा – पद १०२

५ – रज्जब बानी, साक्षीभूत रहित का अग, साखी ९

रज्जबजी ने अवधूत शब्द का प्रयोग निश्चय ही महात्माओ के लिये किया है—

जो रहत कामदेव है, वहत काम ही भूत।
रज्जब उभै अनग अग, कहैं सकल अवधूत ॥[1]

महात्माओ के स्वाभाव की एक विशेषता होती है कि वे दूसरो से सदैव प्रिय और मृदु वाणी में सम्भाषण करते हैं तथा दूसरो को अधिकाधिक प्रतिष्ठा देते हैं। इन सम्बोधनो में भी दूसरो को प्रतिष्ठा प्रदान करने का भाव है। महात्मा साधारण व्यक्तियो को भी स्नेह, सम्मान और कृपा की दृष्टि से देखते हैं, इसीलिये उपदेशात्मक वचनो मे वे सदैव इन सम्बोधनो का प्रयोग करते हैं। महात्मा स्वय लघु बन कर तथा दूसरो को सम्मानपूर्ण सम्बोधनो से प्रतिष्ठित कर ऊची से ऊची बात कहते है। यह उनकी विनम्रता का लक्षण है। रज्जबजी महात्माओ की इस परिपाटी की पूर्णरूपेण रक्षा करते है। वे भी अवधूत, अवधू, साधो, सन्तो, रे मन आदि सभी सम्बोधनो का प्रयोग करते हैं।

'अवधू' शब्द के उपर्युक्त विवेचन से हम सहज ही उस निष्कर्ष पर पहुंचते ैं कि रज्जबजी ने यह शब्द अपनी गुरु परम्परा से प्राप्त किया था। गोरख से कवीर ने, कवीर से दादू ने तथा गोरख, कबीर और दादू से रज्जव ने। सत साहित्य में यह शब्द सर्वत्र एक भद्र सम्बोधन के रूप मे ही हमें उपलब्ध होता है। यहा इतना और अवधेय है कि भद्र सम्बोधन के लिये प्रयुक्त होने वाले इन शब्दो को हम सतो के पदो और भजनो में ही अधिक पात है। कही-कही तो यह शब्द भद्र सम्वोधन के साथ ही पादपूरक अथवा पद रचना के एक सहायक अग मात्र का कार्य करता है।

सुरति निरति

सुरति और निरति यह दोनो शब्द निर्गुण सत साहित्य में पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुये है। किन्तु इनके अर्थ के सम्वन्ध में विद्वानो में मतैक्य नही

---

१ – रज्जब बानी, साक्षीभूत-रहित का अग, साखी ३०

२ – रज्जब बानी, पद भाग रामगिरि

(क) अवधू कपट कला इक भारी – पद ३१
(ख) सन्तो आवै जाय सु माया – पद ३०
(ग) मन रे सूर सत क्यों भाजै – पद १३
(घ) अवधू यहि विधि जुगि जुगि जीजै—राग आसावरी – पद ८

है। डा० वडथ्वाल ने सुरति का अर्थ चित्त का प्रवाह अथवा स्मृति लिया है।[1] डा० धर्मवीर भारती ने डा० वडथ्वाल के इस मत से असहमति प्रकट की है।[2] उन्होने बताया है कि वज्रयानी साहित्य मे इस शव्द का प्रयोग प्रेम-क्रीडा के अर्थ में हुआ है, स्मृति के अर्थ में नही। 'वज्रयानी दोहो में इस शव्द का प्रयोग मिलता है और वही इसका अर्थ भी स्पष्ट है, इसमे कोई सदेह नही रहता। सरहपा इसे प्रज्ञोपाय या कमल कुलिश योग का ही पर्याय मानते हैं।'[3] फिर डा० भारती 'नाथ सम्प्रदाय' मे इस शव्द की अर्थ परम्परा का विवेचन करते हुये इसे सुरति योग के अन्तर्गत नाद-साधना या श्रुति-साधना मान कर आगे वढते हैं। डा० भारती का यह मत निम्नाकित प्रश्नोत्तर मे भी शुद्ध उतरता है।

गोरख —

स्वामी कौन मूल कौन वेला, कौण गुरु कौण चेला।
कौण षेत्र कौन मेला, कौण तत्व लै रमै अकेला॥

मछिन्द्र —

अवधू मन मूल पवन वेला, सवद गुरु सुरति चेला।
त्रिपुटि षेत्र उलटि मेला, नृवाण तत्व लै रमै अकेला॥

यहा पर शव्द को सुरति से पृथक् रूप मे प्रस्तुत किया गया है। किन्तु नाथ पथ के साहित्य में सर्वत्र सुरति शव्द का प्रयोग विशुद्धत 'शव्द सुरति योग' के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है—यह कह सकना कठिन तथा विवादग्रस्त है। तथापि गोरख वानी एक ऐसी कृति है जिसमे सुरति निरति का अर्थ अल्पाधिक स्पष्ट होता है। उसके कुछ खण्डो पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखनाथ ने सुरति का अर्थ सुधि अथवा ध्यान, तथा निरति का अर्थ निवृत्ति (परमानन्द) लिया है।

गोरख —

स्वामी कोण सो सवद कौण सो सुरति,
कोण सो वथ कौण सो निरति।
दुवध्या मेटं फंसे रहे, सतगुरु होय सु वूझ्या कहे॥

---

१ – योग प्रवाह, ले० डा० वडथ्वाल, पृष्ठ २४ तथा २७

२ – सिद्ध साहित्य, अध्याय ५, पृष्ठ ४०६

३ – " " " पृष्ठ ४०६

मछिन्द्र .—

अवधू सबद अनाहद सुरति सो चित्त,
निरति निरालम्भ लागै बंध।
दुविध्या मेटि सहजै में रहै, ऐसा विचार मछिन्द्र कहै ॥[1]

उपर्युक्त कथन में सुरति का सम्बन्ध चित्त से तथा निरति का निरालम्भ परम तत्व से है। अत यदि हम सुरति को मनुष्य की ध्यान-वृत्ति तथा निरति को निर्वृत्ति के अर्थ मे ले तो कुछ विशेष अनुपयुक्त नही प्रतीत होता। सुरति का अर्थ प्रवृत्ति तथा निरति का अर्थ निवृत्ति ले तो भी अर्थ बैठ जाता है, क्योकि निवृत्ति का अर्थ ही होता है ससार से विरति तथा ब्रह्म मे रति। यह इस लिये भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि सतो ने प्राय सुरति को निरति मे लगा लेने की बात कही है—अर्थात प्रवृत्ति (सासारिक स्मरण अथवा ध्यान) को निर्वृत्ति (सासारिक लगाव से मुक्ति तथा ब्रह्म के प्रति रति) मे परिणत कर देना ही सुरति निरति साधना है। अथवा सुरति (ध्यान) के द्वारा ब्रह्म मे निरति (निर्विशेष रति या सहज लगाव) का होना भी असगत नही प्रतीत होता। यथा—

गोरख —

स्वामी पाइ बिन कौन मारग, चक्षि बिन कौन द्रिष्टी।
करण बिन कौन श्रवण, मुख बिन कौन सबद ॥

मछिन्द्र —

अवधू पाइ बिन विचार मारग, चक्षि बिन निरति द्रिष्टि।
करण बिन सुरति श्रवण, मुख बिन ले सबद ॥

गोरख बानी, पृष्ठ १९७

यहा पर मछिन्द्र ने भौतिक कारणो के अभाव में भी कार्य सम्पादित होने की बात कही है। 'करण बिन सुरति श्रवण' का आशय यह है कि बिना कानो के ध्यान द्वारा (उस अनाहत नाद) को सुनना क्योकि वह दिव्य-नाद इन्द्रियो का विषय नही है। इस प्रकार सुरति एक प्रकार का ध्यान हुआ जो भौतिक धरातल से ऊपर का है। 'चक्षि बिन निरति दृष्टि' का अर्थ है नेत्रो के बिना निखिल ब्रह्माण्ड के दर्शन की शक्ति—यह तभी सम्भव है जब साधक अपनी भौतिक सीमाओ का अतिक्रमण कर आत्म को परमात्म में अथवा अपने व्यष्टि को समष्टि में विलय कर दे। परमात्मा विश्व व्याप्त है। साधक जब परमात्मा में

---

१ – गोरख बानी, पृष्ठ १९६

लय हो गया तो वह भी विश्व मे व्याप्त हो गया। ऐसी स्थिति मे उसके लिये समस्त ससार का दर्शन कर लेना असम्भव नही हैं। कबीर की निम्नाकित साखी में यही भाव व्यक्त हो रहा है—

सुरति समानी निरति मे, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वय दुवार॥
सुरति समानी निरति में, अजपा माहे जाप।
लेख समाणा अलेख मे, यू आप माहै आप॥

कबीर ग्रथावली, परचा को अग, साखी २२–२३

सुरति के निरति में समाने से प्रयोजन है ध्यान का निर्वृत्ति (परमानन्द) मे लय हो जाना अथवा प्रवृत्ति की निवृत्ति में परिसमाप्ति।

दादूजी ने सुरति शब्द का प्रयोग ब्रह्म ध्यान के अर्थ में भी किया है—

जब लग श्रवण सुणीजे, तौ लौं साधु सबद सुणि लीजै।
श्रवणों सुरति जब आई, ए तब का सुणिहै भाई॥

दादू वाणी, राग सोरठ, पद ३०१

किन्तु यह ध्यान भौतिक ध्यान नही है और न योग प्रतिपादित यत्नज ध्यान है। यह तो सहज ध्यान है—सहज समाधि अथवा उन्मनी की अवस्था —

मन थे अगम दृष्टि अगोचर, मनसा की गमि नाहीं।
सुरति समाई बुद्धि बल थाके, बचन बचन न पहुचे ताहीं॥
जोग न ध्यान ज्ञान गमि नाहीं, समझि समझि सब हारे।
उन्मनी रहत प्राण घट साधे, पार न गहत तुम्हारे॥

दादू बानी, राग नट नारायण, पद २३८

सुरति (परमात्मा चिन्तन अथवा ध्यान) से पचेन्द्रिया भी शान्त हो जाती हैं और साधक उन्मनी अवस्था में पहुच जाता है। यह सहज ध्यान ही वास्तविक योग एव सच्चा वैराग्य है।

दादू एक सुरति सो सब रहे, पचौ उनमनि लाग।
यहु अनभै उपदेस यहु, यहु परम जोग वैराग॥

लै को अंग, साखी २५

स्वामी मगलदासजी ने सुरति को ब्रह्माकार वृत्ति तथा निर्विकल्प अवस्था बताया है।[1]

---

१ – (क) दादू वाणी, पृष्ठ १६७, पाद टिप्पणी
(ख) " " १७०, पाद टिप्पणी

रज्जबजी सुरति शब्द का प्रयोग दादू और कबीर के आशय की संगति में ही करते है—

ब्रह्मण्ड पिण्ड मन प्राण तजि, सुख में सुरति समाय।
रज्जब अजपाजाप यहु, नर देखहु निरताय॥[1]

हम सुरति का अर्थ ऊपर ध्यान कह चुके हैं। रज्जबजी के निम्नांकित पद मे इसकी पुष्टि हो जाती है—

ध्यान यादि सुरति निरति संभाल।
सप्त अष्ट पोरखती पाल॥

रज्जबजी इस ध्यान को सांसारिक ध्यान से अलग मानते हैं।

घरे अघर विचि ध्यान जु होय, निधान निकट पावै नहिं कोय।

यदि ध्यान संसार में रहा तो वह ब्रह्मानन्द कोष नहीं उपलब्ध हो सकता। 'नयनो निरति स्वरूप, सुरति श्रवणो अस्थानी'[2] मे रज्जबजी नयनो में निरति (ब्रह्म दर्शन) तथा श्रवण मे सुरति (ब्रह्मनाद व्याप्त) बतलाते हैं। रज्जबजी भी सुरति को सहज ध्यान अथवा सहज समाधि के रूप मे लेते हैं—

सहज समाधि सुरति सदा सावति, भाव भगति करि भीनों।
अंतरि गगन मगन मन माती, यहु आरंभ उर कीन्हो॥

रज्जब बानी, पद भाग, राग माली गौडा, पद—३

ब्रह्म के ध्यान में चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुखी होना पडता है। वही ध्यान सुरति है।

सुरति समावै पिण्ड में, पीछे मन में जाय।
आतम अंतरि ह्वै रमै, आगे मिलै खुदाय॥

रज्जब बानी, मध्य मार्ग निवास स्थान निर्णय का अंग, साखी २४

पिण्ड अर्थात शरीर की समस्त इन्द्रियो में जब ब्रह्म ध्यान का तार समा जाता है तो वे भी तदाकार तन्मय हो जाती हैं। यह अन्त रमण ही सुरति है—सहज ध्यान ही सहज समाधि है। रज्जबजी सुरति ध्यान के लिये तथा निरति ब्रह्म अथवा ब्रह्मानन्द के लिये प्रयोग करते हैं। कही-कहो निरति के लिये सुख शब्द का भी प्रयोग करते हैं—

---

१ – रज्जब बानी, अजपाजाप का अंग, साखी २०

२ – रज्जब बानी, छप्पय, पद ४

सुरति माहि सांई सदा, याद अखण्डित होय।
सो रज्जब आतम अमर, विषम न व्यापै कोय॥
रज्जब बानी, सजीवनी का अग, साखी ११

मन की उन्मनी अवस्था ही निरति है—

मन उनमनि लै राखिये, परम शून्य अस्थान।
तो रज्जब लागै नहीं, जम जालिम का बान॥
सजीवनी का अग, साखी २८

सुख ही निरति है, ध्यान ही सुरति है—

रज्जब अज्जब ठौर है, सुमिरण में ठहराय।
अमर सु आपन आत्मा, सुख मे सुरति समाय॥

यह सुख अथवा महासुख अथवा परम-तत्त्व ही निरति है। रज्जबजी ने सुरति शब्द का प्रयोग करके निरति शब्द के किसी न किसी पर्याय द्वारा निरति का बोध कराया है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप मे मान सकते है कि सुरति (ध्यान, लगाव) द्वारा निरति (परम-तत्व, परमात्मा) को प्राप्त किया जा सकता है। सुरति की प्रक्रिया में ब्रह्माण्ड का पिण्ड में लय, पिण्ड का प्राण में लय, प्राण का मन में लय, मन का आत्मा में लय तथा आत्मा का परमात्मा में लय करना पडता है। सुरति निरति निर्गुण साधना के पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रचलित हैं।

नाद-बिन्दु साधना

नाद का अर्थ सामान्यतया ध्वनि होता है। नादोपासना तथा बिन्दु-ध्यान लययोग के अतर्गत विशेष क्रियाये हैं जो हठयोग में नही होती। यद्यपि हठयोग तथा लययोग व राजयोग में कुछ क्रियायें समान हैं परन्तु कुछ क्रियाओ में मौलिक असमानता है। हठयोग में बहिरंग (शरीर) साधना का विशेष महत्त्व है किन्तु लययोग मे अन्तरग (मन) साधना का मूल्य है। नाद-ध्यान और बिन्दु-ध्यान हठयोग मे नही होता। प्राणायाम, स्वरोदय, मनोलय आदि लययोग की क्रियाये हैं। शेष इडा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डलिनी की जागृति, षटचक्र भेदन आदि दोनो मे समान होते हैं। मानना यह चाहिये कि लययोग में प्रधान वस्तु नादानुसन्धान है। प्राण व मन को अवरुद्ध कर आन्तरिक प्रणवरूप ओकार में अथवा राम इत्यादि में उनको लगाना ही नादानुसन्धान है। भीतरी नाद के श्रवण का अभ्याम करने पर वाह्य ध्वनिया सुनने में नही आती। क्योकि आतरिक नाद-श्रवण वाह्य ध्वनियो का अवरोध करता है। अभ्यास के प्रारम्भ मे

यह नाद बहुत जोर से और नाना प्रकार से सुनाई देता है और अभ्यास के बढ जाने पर वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप मे सुनाई पड़ता है। प्रारम्भ में समुद्र, बादल भेरी तथा झरनो से उत्पन्न ध्वनि के समान यह नाद सुनाई देता है। और अत में किंकिणी, वशी, वीणा तथा भ्रमर आदि कई प्रकार के स्वरो मे सुनाई पडते हैं।[1] जब महान भेरी आदि की ध्वनि सुनाई पडे तब उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म नाद का ध्यान करना चाहिये। साधक घने नाद अथवा सूक्ष्म नाद में प्रवृत्त मन को अन्यत्र न ले जाय। पहले जिस किसी भी सूक्ष्म या घने नाद में मन लग जाता है वही स्थिर होकर उस नाद के साथ ही विलीन हो जाता है, सारे बाह्य प्रपंच को भूल कर दूध में मिले हुये पानी के समान नाद में एकीभूत हुआ मन उस नाद के साथ ही सहसा चिदाकाश में विलीन हो जाता है। अत. नाद श्रवण से इतर विषयो की ओर से उदासीन हो कर सयमी पुरुष को चाहिये कि वह निरतर अभ्यास के द्वारा मन को तत्काल अपने प्रति उत्सुक बनाने वाले नाद का ही श्रवण एवं ध्यान करे। समस्त चिन्ताओ एव चेष्टाओ का त्याग कर उसे नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिये, क्योकि नाद में चित्त विलीन हो जाता है। नादासक्त मन को किसी भी विषय की इच्छा नही होती।[2] क्योकि बिन्दु-स्थैर्य से प्राण स्थिर हो जाता है।[3]

---

१ – सिद्धासने स्थितो योगी, मुद्रा सधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे, नादमन्तर्गतं सदा॥
अभ्यस्यमानो नादोऽयं, बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
श्रूयते प्रथमाभ्यासे, नादो नाना विधो महान्॥
वर्धमाने तथाभ्यासे, श्रूयते सूक्ष्म सूक्ष्मत।
आदौ जलधि जीमूत, भेरी निर्झर सम्भव॥
मध्ये मर्दल शब्दाभो, घण्टा काहलजस्तथा।
अन्ते तु किंकणी वशी वीणा, भ्रमर निःस्वन॥
नादबिन्दूपनिषद् १–३

२ – इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्म सूक्ष्मतः।
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे, सूक्ष्ममुत्सृत्य वा घने॥
रममाणमपि क्षिप्रं, मनो नान्यत्र चालयेत्।
सर्वचिन्तासमुत्सृज्य, सर्वचेष्टाविवर्जित॥
नादमेवानुसदघ्यान्नादे चित्त विलीयते।
मकरन्द पिबन् भृंगो गन्धान्नापेक्षते यथा॥
नादासक्त तथा चित्तं विषय नहि कांक्षति॥
द्वितीय अध्याय, द्वितीय खण्ड, श्लोक १–३ तथा २।३।१–५

३ – स्थिरे बिन्दौ स्थिरे प्राण। इति योग बिन्दूपनिषद् ३।३।५

हठयोग प्रदीपिका मे इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

मन स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो विन्दु स्थिरो भवेत्।
विन्दुस्थैर्यात् सदा सत्व, पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥
उपदेश ४, श्लोक २८

मन की स्थिरता होने पर प्राण भी स्थिर होता है। तथा प्राण की स्थिरता से बिन्दु की स्थिरता होती है। बिन्दु के स्थिर होने पर सदैव वल होता है और उससे देह की स्थिरता होती है। बौद्ध साधना मे काय, वाक् और चित्त की दृढता को साधना मे अत्यन्त उपयोगी माना गया है। तान्त्रिक साधना के अनुसार यह चित्त-तत्त्व शुक्र या बिन्दु है। सामान्यत. यह सासारिक चित्त या शुक्र महाबलिष्ठ और चचल होता है इसलिये चित्त को साधना की प्रारम्भिक क्रिया उसके शोध की होती है। निर्मल चित्त का स्थिरीकरण दूसरी क्रिया है।[1] प्रश्न यह उठता है कि नाद उत्पन्न किस प्रकार होता है। योग मे कुण्डलिनी शक्ति का विशेष महत्व स्वीकार किया गया है। यह शक्ति सामान्य व्यक्तियो मे अधोमुखी होती है। योगिक क्रियाओ द्वारा इस शक्ति को ऊर्ध्वमुखी बना कर ऊपर चालित किया जाता है। कुण्डलिनी के उद्‌बुद्ध होने पर जब वह ऊपर की ओर प्रस्थान करती है तो उसमें स्फोट होता है उसी को नाद कहते हैं। नाद से प्रकाश होता है और प्रकाश ही व्यक्त-रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकार का होता है—इच्छा, ज्ञान, क्रिया। पारिभाषिक शैली में योगी लोग इन्ही को सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। अब यह जो नाद और विन्दु है यह वस्तुत. निखिल विश्व मे व्याप्ति अनाहत नाद का व्यष्टि में व्यक्त रूप है। अर्थात् विश्व मे व्याप्त अनाहत नाद व्यक्ति में पड कर नाद और विन्दु बन जाता है।[2]

नाथपथी योगियो में हठयोग तथा लययोग दोनो के प्रति आस्था लक्षित होती है। नाद विन्दु साधना पर गोरखनाथ ने वडा वल दिया है। स्थान-स्थान पर नाद विन्दु साधना की चर्चा गोरख वानी में मिलती है।

गोरख —

स्वामी कथ उत्पन्यो नाद, कथ नाद समभवते।
कौण के थापते नाद, कथं नाद विलीयते ॥

---

१ – तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, पृष्ठ १६५
२ – कबीर – ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ४६

मछिन्द्र —

अवधू ओंकार उतपते नादं, नाद सुन्नि समभूयते।
स्रवन लै थापते नादं, नाद निरजन विलीयते ।।[1]

यहा मत्स्येन्द्रनाथ ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ओंकार से नाद की उत्पत्ति होती है। आकाश में वह व्याप्त होता है, कर्णों से उसे सुनते है तथा ब्रह्म में वह विलीन हो जाता है। इसके आगे गोरख ने पुन. शका प्रकट की है कि नाद बिन्दु के ब्रह्म में लय हो जाने पर प्राण कहा रहेंगे। तो इस पर मत्स्येन्द्र-नाथ ने शंका का समाधान करते हुये कहा है कि जब नाद बिन्दु दोऊ ना होइगा तब प्रान का निरतर वास होइगा,[2] अर्थात् तभी प्राण को अमृततत्त्व प्राप्त होगा अथवा तभी प्राण का परमात्मा, अमृतात्मा मे विलय हो जायगा।

निर्गुण भक्ति परम्परा में नाद बिन्दु साधना का प्रत्येक सत की बानी में उल्लेख मिलता है।

नाद बिन्दु सौ घट भरै, सो जोगी जीवै।
दादू काहे को मरै, राम रस पीवै ।।[3]

अथवा

शब्द सुई सुरति धागा, काया कन्था लाइ।
दादू जोगी जुग जुग पहिरै, कबहूं फाटि न जाइ ।।[4]

नाद रूपी सुई में मनोवृत्ति रूपी धागा पिरो कर इस काया रूपी कन्था को सोने पर अर्थात नाद में मनोवृत्ति का लय कर देने पर मनुष्य अमर हो जाता है। इसी अमरत्त्व का पोषण निम्नाकित पक्तियो में भी प्राप्त होता है—

बिन्दुः क्षरति नो यस्य, कामिन्यालिंगितस्यच।
यावन्बिंदुः स्थितो देह, तावन्मृत्यु भय कुत ।। (नादबिन्दूपनिषद्)

अर्थात् कामिनी के आलिंगन पर भी जिसका बिन्दु (वीर्य) क्षरित नही होता और जब तक शरीर में शुक्र है तब तक मृत्यु का भय नही है।

कबीरदासजी नाद बिन्दु सिद्ध व्यक्ति की महिमा इन शब्दो में अकित करते हैं—

---

१ – गोरख बानी, पृष्ठ मछिन्द्र गोरख बोध।
२ – गोरख बानी, पृष्ठ १९०
३ – दादू बानी की भूमिका, ले० सुरजनदास स्वामी
४ – ,, ,, ,, ,,

नाद विन्दु इक रंक अकेला, आपै गुरु आपही चेला ।
आपै मत्र आपै मत्रेला, आपै पूजे आप पुजेला ॥
आपै गावै आप बजावै, अपना किया आप ही पावै ।
आपै धूप दीप आरती, अपनी आप लगावै जाती ॥[1]

रज्जबजी इस प्रकार रूप नाद विन्दु के स्पष्टीकरण के लिये अतीव प्रकृष्ट रूपक प्रस्तुत करते हैं—

काया कुंभ जल सों भर्या, ज्ञान तेल परिपूर ।
मारुत बाती शब्द उजाला, अचेत तिमिर ह्वै दूर ॥[2]

यह शरीर मगल-कलश है जिसके भीतर जल भरा है (जल आत्मा अथवा परमतत्त्व का वाचक है), ज्ञान का दीपक है जिसमे ज्ञान (चेतना) का तेल भरा हैं, प्राण (पवन) ही उसमें बाती है जिसके जलने पर नाद रूप प्रकाश उत्पन्न होता है तथा अविद्याधकार दूर हो जाता है। रज्जबजी यह कई स्थलो पर व्यक्त करते हैं कि शब्द (नाद) ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन है तथा सासारिक विषयो (माया) से विरक्ति होती है।

शब्दो माया तजहिं, शब्द सुन ब्रह्म सु लागहिं ।[3]

रज्जबजी ने 'शब्द' का प्रयोग दो अर्थों में किया है—एक तो सद्गुरु के वचनो के लिये, दूसरे नादानुसन्धान के लिये ।

आतम आरतवंत है, सतगुरु शब्द सुनाय ।
रज्जब रुचि के राचणो, फल माहें रहि जाय ॥[4]

उपर्युक्त साखी में 'शब्द' का प्रयोग गुरुपदेश के अर्थ में किया गया है। किन्तु निम्नाकित साखी मे शब्द नाद के लिये आया है—

चचल नग निहचल भया, सतगुरु पकड़्या बांह ।
रज्जब रहि गया शब्द में, ज्ञान रूप मन मांह ॥[5]

इसी भाव की पुष्टि नीचे के सोरठे में नाद शब्द द्वारा हो रही है—

---

१ – कबीर ग्रथावली १२ पदी रमैणी
२ – रज्जब बानी, उपदेश चितामणी का अग, साखी ९४
३ – रज्जबजी के छप्पय शब्द का अंग, पद २
४ – ,, ,, गुरुदेव का अग, साखी १३६
५ – ,, ,, ,, ,, १०६

मन अहि लहै न भाग, रोक्या मोर महंत मुनि।
रज्जब रहि गये पाग, सुनि श्रवननि सुनि नाद धुनि ॥[1]

आशय यह है कि श्रेष्ठ सतगुरु के रोक लेने के कारण मन रूप सर्प को इधर-उधर भागने का मार्ग नही मिलता। परिणामत रज्जबजी कहते हैं कि मेरी चित्त-वृत्ति शून्य नाद (अनाहत नाद) में पूर्णतः तन्मय हो गई। यह नाद साधना का फल है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्गुण उपासक सतो में इस नाद बिन्दु साधना—जो लययोग का अग है—को विशिष्ट महत्व प्रदान किया गया है। प्रत्येक सत ने चित्त की वृत्तियो को नाद बिन्दु साधना द्वारा ससार से विरत तथा ब्रह्मासक्त बनाने का उपदेश किया है।

पोरस

इस शब्द का प्रयोग रज्जब बानो में अनेक स्थलो में हुआ है। इसका व्युत्पत्ति मूलक अर्थ स्पष्ट करना कठिन है किन्तु यह राजस्थान की किवदन्तियो के अनुसार एक देवता विशेष है जो धन-प्रदाता माना जाता है। दादूपथी सतो के साहित्य में इस पोरसा शब्द का प्रयोग उसी रूप में पाया जाता है जिस रूप में हमारे यहा कामधेनु, कल्पवृक्ष, पारस और चिन्तामणि का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार मनोवाछित उद्देश्य की पूर्ति कामधेनु, कल्पलता अथवा चिन्तामणि करती है उसी प्रकार पोरस भी दरिद्रता का नाशक देवता है। इसकी कथा विलक्षण है।

प्रति दिन अभिजित नक्षत्र में मध्याह्न के समय अविकल रूप से एक मदिर बनाया जाय और उसमें विधिवत् क्रियायो से 'पोरसा' का आह्वान एव प्रतिष्ठा की जाय। ऐसा करने पर पोरसा पुरुषाकार स्वर्ण प्रतिमा के रूप में मदिर के भीतर सिंहासनस्थ हो जाता है। उसकी पूजा करने वाला प्रतिदिन उसके हाथ-पैर काट लेता है, दूसरे दिन वे हाथ-पैर पुनः उग आते हैं। इस प्रकार निरतर ऐसा करने से वह व्यक्ति पुष्कल स्वर्ण राशि का अधिकारी हो जाता है। परन्तु पुजारी को एक सावधानी अवश्य रखनी चाहिये कि उसे पोरसा के केवल हाथ पैर ही काटने चाहिये। भूल से अथवा असावधानी या स्वर्ण-तृष्णा से प्रेरित होकर उसका सिर कभी नहीं काटना चाहिये क्योंकि सिर कट जाने पर पोरसा से स्वर्ण नहीं प्राप्त किया जा सकता। क्योंकि मस्तक कटने के उपरान्त पोरसा

---

१ – रज्जबजी के गुरुदेव का अग, साखी १११

के हाथ पैर पुन नही उग सकते ।[1] यह देवता जिसके पास हो उसकी दरिद्रता का पता भी न चलेगा ।

रज्जबजी ने पोरसा की उपर्युक्त कथा के आशय के अनुरूप ही अपनी बानी में उसका कई स्थानो में प्रयोग किया है ।

सतगुरु पारस पोरसा, अखै अभै भण्डार ।
रज्जब वचन बमेक धन, लहिये बारम्बार ।।[2]

सतगुरु पारस और पोरसा के समान भय बाधा से मुक्त अक्षय भाण्डार है जिससे शिक्षा व विवेक रूपी धन निरन्तर उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है जिस प्रकार पारस निरतर लोहे को सोना बनाता रहता है तथा पोरस से स्वर्ण हस्त व पाद निरतर काटते रहते है । दोनो ऐसे अक्षय कोष हैं । रज्जब ने पोरस को चिन्तामणि व पारस के समकक्ष ही स्थान दिया है ।

साधू पारस पोरसा, चिन्तामणि दातार ।
तह रज्जब भृत भीख बिन, सोगत अगम अपार ।।[3]

यहा भी साधू को पोरस बता कर रज्जबजी ने उसके अक्षय ज्ञान कोष होने का सकेत किया है । निम्नाकित छप्पय में देखें—

देहि अमरफल डारि, तजै पारस चिन्तामणि ।
कामधेनु तसकल्प, काटि आनै सु कहा बनि ।
गुरु सजीवन छांडि, पाय पोरस सिर काटहि ।
ज्ञान रसायन त्यागि, चीर बहुते वित बांटहि ।।
चक्रहि चकवै लै गया, छाप सुलेमा खोइये ।
मिनखा देही हरि विमुख, रज्जब हानि सु रोइये ।।[4]

यहा श्रेष्ठ वस्तु के दुरुपयोग से जो हानि होती है उसकी ओर सकेत किया गया है तथा पोरस के सिर काट देने की मूर्खता पर चोट की गई है। यहां पर पोरस की पूर्वोक्त कथा का सार स्पष्टत घटित होता है ।

---

१ – यह कथा मैंने पुष्कर वासी स्वामी नारायणदासजी से रज्जबबानी का अध्ययन करते समय पुष्कर मे ही सुनी थी । मेरे प्रश्न करने पर उक्त महात्मा ने यह बताया कि यह कथा दादू पथियो में अत्यन्त प्रसिद्ध है ।

२ – रज्जब बानी, गुरुदेव का अग, साखी ११६

३ – रज्जब बानी, साधू का अग

४ – रज्जबजी के छप्पय उपदेश का अग, पद ४

दिब (दिव्य)

दिब शब्द का प्रयोग रज्जबजी ने सत्यासत्य निर्णय के प्रसगो में किया है। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में जब कोई अपराधी न्यायालय में लाया जाता था तो उसके कथन की सत्यता की परीक्षा करने के लिये एक लोहे का गरम गोला उसके हाथ में रक्खा जाता था। यदि उसका हाथ जल जाता था तो उसको झूठा समझ कर दड दिया जाता था और यदि उसका हाथ नही जलता था तो उसे मुक्त कर दिया जाता था।[1] दिब शब्द के इसी भाव–सदर्भ में रज्जबजी ने उसका प्रयोग किया है—

लोहि तेल दिब नाव है, सतिवादी सुशरीर।
तो रज्जब तिहु तत्त में, कौन बन्दिये वीर॥

यहा लोहि तेल का अर्थ जलती हुई लोहे की कड़ाही का तेल है। दिब लोहे के तपते हुये गोले के लिये आया है।

सीता सील सुलाकिया, दिब दे आनी जब।
रज्जब जाणी राम की, सफलाई तब सब॥

यहा पर दिब शब्द का प्रयोग अग्नि परीक्षा के लिये प्रतीकात्मक रूप से हुआ है।

उलटावांसी

भारत के योगियो और तांत्रिको ने सामान्य सीधी बातें भी उल्टे ढंग से कहनी प्रारम्भ करदी थी। यदि हम इस उल्टे कथन के कारण उसके उद्देश्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करे तो देखेंगे कि प्रत्येक वक्ता की यह उत्कट इच्छा होती है कि उसकी बात के एक-एक खण्ड उपखण्ड को लोग ध्यान से सुनें और गुनें। श्रोता का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये योगियो ने शब्दार्थ रसायन द्वारा सीधी बात को उल्टी करके कहने के अभ्यासी हो गये थे। किन्तु श्रोता का ध्यान आकृष्ट करना ही उलटे वाचा का एक मात्र उद्देश्य नही था। श्रोता वक्ता के अर्थ वैलक्षण्य से चमत्कृत हो जाय तथा यह मान ले कि वक्ता बहुत पहुचा हुआ सिद्ध साधु है, यह मनोभाव भी उलटवासियो के प्रयोग के मूल में था। इस प्रकार उलटवासियो के प्रयोग के उद्देश्य दो प्रकार के माने जा सकते हैं।

---

१ – 'दिब' का अर्थ भी मैने महात्मा नारायणदासजी पुष्करवासी से ही सुना था।

(क) श्रोता का ध्यान आकृष्ट करना

(ख) श्रोता को अपने ज्ञान से चमत्कृत कर पराभूत करना

परस्पर विरोधी अर्थ व्यक्त करने वाले उपमानो की योजना पर आधारित चमत्कृत पूर्ण शैली बौद्ध सिद्धो, नाथ योगियो तथा निर्गुण सतो ने अपनाई। किन्तु इस प्रकार की शैली बौद्ध सिद्धो मे एक आव ही ने अपनाई।[1] गोरखनाथ ने इस शैली का प्रचुरता से प्रयोग किया है। किन्तु निर्गुण सतो में जो अधिक शिक्षित नही थे उनके कथनो मे यह उलटवासी शैली भ्रष्ट हो गई क्यों कि वे स्वय अपने द्वारा प्रस्तुत उपमानो के मर्म से परिचित नही होते थे। यही कारण है कि उनकी उलटवासियों का अर्थ निर्णय करने मे कठिनाई होती है। निर्गुण सत परम्परा मे यह शैली कबीर के माध्यम से बौद्ध सिद्धो से आई। हठयोगियो ने इस शैली का प्रयोग अत्यन्त परिष्कृत एव स्पष्ट अर्थ बोधक रूप से किया। हठयोग प्रदीपिका मे इस प्रकार की उल्टी अभिव्यक्तियो के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं—

गोमास भक्षयेन्नित्य पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीन तमह मन्ये चेतरे कुलघातकाः॥ ४७

जो योगी प्रतिदिन गोमास का भक्षण करता है और प्रति दिन अमर मदिरा का पान करता है उसको ही हम श्रेष्ठ कुलीन मानते हैं, अन्य सब कुछ घातक है। परन्तु इसके आगे के श्लोक मे उक्त कथन का अर्थ तत्काल बदल दिया गया—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षण तन्तु महापातकनाशनम्॥ ३।४८

अर्थात् गो का अर्थ जिह्वा है तथा तालु के समीप जो ऊर्ध्व छिद्र हैं उसमे जिह्वा का प्रवेश ही गोमास भक्षण है। ऐसा गोमांस भक्षण महापातको का नाश करने वाला है। अमर वारुणी की व्याख्या यह है—

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति य. सारः सस्यादमरवारुणी॥ ३।४९

तालु के ऊर्ध्व छिद्र मे जिह्वा का प्रवेश से उत्पन्न हुई जो वहिम (उष्मा) है उससे उत्पन्न भ्रुकुटियो के मध्य वामभाग में स्थिति चद्रमा से निर्झरित सार को ही अमर वारुणी कहते हैं। इसी प्रकार और भी—

---

१ – सिद्ध साहित्य पृष्ठ ४६६ डा० धर्मवीर भारती

गगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डातपस्विनी ।
बलात्कारेण गृहणीयात्तद्विष्णो परम पदम् ॥
हठयोग प्रदीपिका, ३।१०९

अर्थात् गंगा और यमुना के बीच मे एक वाल विधवा तपस्विनी है । बलात्कार कर के उसे ग्रहण करने से विष्णु के परमपद को प्राप्त होता है । यहा पर वाल विधवा तपस्विनी के साथ बलात्कार करने की बात कह कर श्रोता को आतकित करने की चेष्टा की गई है, और इसके बाद ही दूसरे श्लोक में उसके कौतूहल को शान्त कर दिया गया है—

इडा भगवती गगा पिंगला यमुना नदी ।
इड़ा पिंगलयोर्मध्ये, वाल रडा च कुडली ॥

इडा गगा है, पिंगला यमुना है, तथा इडा और पिंगला के बीच में कुण्-ली ही वाल विधवा है ।

नाथ पथियो में गोरखनाथ की उलटवासी का एक उदाहरण देकर रज्जबजी की उलटवासियो पर विचार करेंगे—

चलि रे अविला कोयल मोरी, धरती उलटि गगन कूं वौरी ।
गइया वपड़ी सिंघ नैं घेरैं, मृतक पसू सूत्र कू उचैरैं ॥
काटैं ससभ पूजे देव, भूप करैं करसा की सेव ।
तलिकरि दकणी ऊपणी झाल, न छीजैंगा महारस बधैंगा काल ॥
दीपक बालि उजाळा किया, गोरख कै सिरि परघत दीया ॥[1]

आम माया है । जब वह आम (माया) फूलता-फलता है तब कोयल (मनोवृत्ति) आनन्द के लिये उसके पास जाती है । किन्तु ज्ञानोदय हो जाने पर परिस्थिति उलट जाती है । ज्ञानोदय होने पर मन की बहिर्मुखी वृत्ति रुक जाती है तथा आनन्द की खोज भीतर ही होने लगती है । क्योकि अधिष्ठान जिस पर उपाधियो के आरोप से मन-मनसा बनी है वह आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही है । यही कोयल का बौराना है। पहले बहिर्मुखी स्थिति में माया का आम बौर रहा था अब मनसा कोयल ही बौरने लगी । अब ब्रह्मानन्दोपभोगी की मायिक प्रवृत्ति (आम्र भी) मन के इस पुष्पित होने से ब्रह्मानुभव से आनन्द प्राप्त करती है । गगन, आकाश, शून्य ही से यह सभी सृष्टि उत्पन्न होती है और शून्य में ही विलीन हो जाती है । घरती या सृष्टि का प्रतीक कुण्डलिनी शक्ति है जिसका

१ – गोरखबानी, पृष्ठ १५२

निवास मणिपूर मे है। योगाभ्यास से वह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठती है। अज्ञानी मनुष्य की वहिर्मुख अशान्त प्रवृत्ति ही सिंह है जो अहकार आदि षट्शत्रुओ के द्वारा उसकी शात सच्ची प्रकृति (गाय) को घेरे हुये रहता है। परन्तु अब साधना सफल होने पर सिंह रूप मायिक प्रवृत्ति निर्वल पड गई है तथा आध्यात्मिकता के घेरे में फँस गई है। उसकी पराजय हो गई है। जिन्हें आत्मानुभूति नही वे मृतक पशु के समान हैं। यमराज (शूद्र) उन्हें घसीटते ले जाता है किन्तु वह अब मृतक पशु अपने भीतर पशुत्व (अहंकार) को काट कर जीवन मृत (जीवन मुक्त) होकर यमराज को घसीटे ले जा रहा है। यमराज उसके वधन मे पड कर उसका कुछ नही कर सकता। ब्रह्मानुभूति होने पर किसी देवता की पूजा को आवश्यकता नही रह गई, प्रत्युत लौकिक देवता उसकी पूजा करते हैं क्योकि ब्रह्म सवसे वड़ा है तथा 'ब्रह्मविद् ब्रह्मह्मैव भवति' के अनुसार ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्म में कोई अतर नही रह जाता। अब वलि पशुओ को काटने की आवश्यकता नही रह गई प्रत्युत शस्त्र ही काटे गये, वेकाम हो गये। ढक्कन के नीचे के पात्र को औंधा करने से तो पात्रगत वस्तु गिर जायगी और उलटे पात्र के ऊपर आग जलते रहने से भी कोई व्यञ्जन पक नही सकता। परन्तु यहा विशेष परिस्थिति है। विपरीत करणी मुद्रा के द्वारा सिर (ढक्कन) को नीचे और ज्वाला (कुण्डलिनी) को ऊपर करने का उपदेश किया गया है। इससे महारस (अमृत) का क्षय होना रुक जायगा। नाथो की विद्या इसीलिये काल वचनी विद्या कही जाती है। इस प्रकार ज्योति (ब्रह्म) को दीप्त कर गोरख ने ज्ञान का प्रकाश किया। परन्तु इससे उसके मस्तक का भार हल्का होने के वदले बढ गया। उसके सिर पर पहाड ही रख दिया गया क्योकि उसे जान पडा कि मैं स्वय सृष्टि का मूल कारण परब्रह्म हू, और स्वय मुक्त हो जाने पर मुझे ससार को मुक्त करना है।

गोरखवानी में इसी प्रकार के आशय को व्यक्त करने वाली अनेक उलट-वासिया हैं। कही-कही उनका अर्थ सागोपाग नही वैठ पाता। निर्गुण भक्त कवियो मे कवीर की उलटवासिया अधिक प्रसिद्ध हैं। जिनको हम गोरखनाथ की परम्परा मे लिखी हुई मान सकते हैं। रज्जबजी के गुरु दादू ने कवीर की परम्परा मे उलटवासिया लिखी हैं। यहा पर हम रज्जवजी की एक दो उलट-वासियो का उदाहरण देकर समाप्त करेंगे—

(क) संतों देख्या अद्भुत खेला।
मच्छी मध्य समुद्र समाना, अजा सिंह सो मेला॥

आदित मांहि प्रकास उदोय्या सीप समानी मोती ।
ऐसी हुई कहो को समझे, दीसै सो अणहोती ॥
आभू बूंद असम सो बरसै, तीर कमान चलावै ।
चींटी माहि चकुहु सो पैठी, राहु केतु शशि खाये ।
जन रज्जब जगपति के मारग, पगुल पर चढ़ि धाये ॥

इस पद मे मछली जीवात्मा है, समुद्र ससार है। सिद्धि की अवस्था मे सांसारिकता जीवात्मा से लय हो गई—पहले जीवात्मा ससार के विषय रसों मे मग्न थी। अब वे विषय रस मे लय हो गये हैं। इसलिये कि मन अपनी बहिर्मुखी वृत्ति से अन्तर्मुखी होकर आत्मा मे लय हो गया है। अजा आत्मा है। सिंह मन है—सिंह अब बकरी से प्रीति करने लगा है। अर्थात् मन आत्मा के सकेतो पर चलता है। पहले मन आत्मा-विरोधी चेष्टाओ मे तल्लीन रहता था, अब आत्मा मे ही लीन हो गया है। आदित्य माया है, आकाश आत्मा है—पहले आत्मा को आच्छन्न कर माया रूपी आदित्य ने आकाश रूप आत्मा को ग्रस्त कर लिया था, अब उस माया में व्यापक आत्मा ज्योतित हो रही है। सीप माया है, मोती जीवात्मा है। मोती जीवात्मा में माया की सीप समा गई है। रज्जबजी कहते हैं ऐसा निश्चय ही हुआ है किन्तु इस कथन को कौन समझेगा—ऐसी करनी घटित होना तो सम्भव नही दिखती। आभू बूंद माया है, उसमे स्थिर चित्त जीवात्मा है। पहले बादल से पत्थर बरसते थे अब पत्थर (स्थिर चित्त जीवात्मा) माया को बरसा रही है अर्थात् उसको प्रभावित कर रही है।

तीर जीवात्मा है, कमान जड माया है। पहले जड माया जीवात्मा को चलाती थी, अब जीवात्मा उसे चलाती है। पहले जीवात्मा रूप चीटी माया रूप पृथ्वी मे रहती थी—परन्तु अब पृथ्वी चीटी मे समा गई और ऐसी प्रविष्ट हो गई है कि कही से उसका चिन्ह भी नही दिखाई पडता है। अब तो मन रूपी पक्षी के स्थिर हो जाने पर पर्वत रूपी जीवात्मा उड़ने लगी है अर्थात् उसकी अपूर्व गति हो गई है। जीवात्मा रूपी राशि ने माया के राहु केतु को खा लिया है। ब्रह्म मार्ग पर चलने से पशु भी उड कर ऊपर चले जाते हैं।

(ख) सतो मीन मगन में गाज्यो ।
निर्मल ठौर निशान घजाये, सो जल निधि सों भाज्यो ॥
चकवा चकवी रैन मिले हैं, चातक चिता समाना ।
माखो सो मकडी मिलि बैठी, पीवै अमृत पाना ॥
पर्वत ऊपर पुहुप प्रकास्यो, ओला अवनि जमाया ।
पाभों ऊपर तिनका उग्या, गुर मुख सो निरताया ॥

दादुर खियो दामिनी सूती, मुनि सतगुरु की बानी ।
जन रज्जब यहु उलटी रचना, बिरलैं पुरुषों जानी ॥

मीन—जीवात्मा अथवा कुण्डलिनी, गगन—ब्रह्मरन्ध्र, ऊर्ध्व स्थान, निर्मल ठौर—ब्रह्म स्थल, जलनिधि—ससार, चकवा-चकवी—जीवात्मा और परमात्मा, रैन—मायाच्छन्न दशा, चातक—तृष्णा-ग्रस्त जीवात्मा, चिता—ब्रह्माग्नि, ब्रह्म ज्योति, माखी—जीवात्मा, मकरी—माया, पर्वत—जड माया, पुहुप—आनन्द पुष्प, प्रफुल्ल आत्मा, ओला—माया, अवनि—जीवात्मा; आभो—माया, तिनका—जीवात्मा, दादुर खियो—मन ।

उपर्युक्त दोनो पक्षो मे जो भाव विपर्यय व्यक्त हुआ है उससे भी कही विलक्षण विरोध निम्नाकित पद मे अनुस्यूत है ।

(ग) सतो यहु गति उलटी जानी ।
मूरति माँहि देहुरा आया, सुनि सतगुरु की बानी ॥

बीरज माहै वृक्ष समानी, हाड़ी कण में पाकी ।
कूआ भरे कुभ में पानी, कहत न आवै ताकी ॥

ब्रह्म-बूद में घटा समानी, बाह बीजुली सेती ।
अवनि अकाश गये ताही में, चपल चातकहि लेती ॥

अक्षर माहै पोथी वैठी, वंचक बीज बिलाना ।
जन रज्जब यहु अगम अगोचर, गुरु मुखि मारग जाना ॥

मूरति—जीवात्मा, देहुरा—समस्त मायाच्छन्न ब्रह्माण्ड, हाडी—माया; कण—जीवात्मा, बीज—जीवात्मा; वृक्ष—ससार अथवा माया, कुआ—माया, कुंभ—घट, ब्रह्म-बूद—जीवात्मा, घटा—माया; बाह—प्राण वायु; बीजुली—मन की चचलता, अवनि—जड माया, आकाश—आत्मा; चातक—चचल मन, अक्षर—जीवात्मा, पोथी—मायाच्छन्न ससार, बचक—माया, बीज—जीवात्मा ।

इनके अतिरिक्त कई उलटवासिया रज्जबजी ने लिखी हैं जो अपने मे अर्थवती एव शक्तिमती है जो कबीर की उलटवासी की परम्परा मे है । उदाहरणत —

एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिह चरावै गाई ।
पहले पूत पीछे भई भाई, चेला के गुरु लागे पाई ॥

जल की माछली तखर ब्याई, पकड़ बिलाई मुरगे खाई ।
वैलहि डारि गूनि घरि आई, कुत्ता कू लै गई बिलाई ॥

तलि करि साखि ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहैं कबीर या पद को बूझै, ताकूं तीन्यू त्रिभुवन सूझै॥

कबीर ग्रथावली, राग गौडी पद ११

यहा पर सकेतो को स्पष्ट करना आवश्यक है—

ठाढा सिंह—स्थिर मन; गाई—इन्द्रिया, पूत—जीवात्मा, माई—माया (माता), चेला—जीवात्मा, गुरु—माया, जल की मछली—ससार के विकारो मे ग्रस्त आत्मा, तरुवर—ब्रह्मरन्ध्र अथवा ऊर्ध्वगति, बिलाई—माया, मुरगा—जीवात्मा, बैल—जीवात्मा, गूनि—लादी (रस्सी से बनी हुई बैल के पीठ पर लादी जाने वाली काठी); कुत्ता—आत्मा; बिलाई—जीवात्मा, मूल—कुण्डलिनी; फल—आनन्द पुष्प।

प्रतीको के माध्यम से गम्भीर एव गोपनीय प्रसगो की अभिव्यक्ति-परम्परा वैदिक युग से चली आ रही है। बाद मे तान्त्रिक गुह्य उपासना मे प्रतीको का विशेष स्थान रहा—वामाचार की तो प्राय अभिव्यक्तिया प्रतीकात्मक हो गयी थी किन्तु गोरखनाथ ने प्रतीक पद्धति को केवल इसलिए अपनाया कि उसमे प्रभाव उत्पन्न हो। प्रतीको के प्रयोग मे ऐसी परस्पर विरोधी स्थितियो को नियोजित किया गया कि वे पाठको के लिए विस्मयकारिणी पहेलिया बन गईं। पहेली का समाधान जो आनन्द देता है वही इन नाथ-पथी-योगियो की उलट-वासियो मे प्राप्त होने लगा। कबीर, दादू, रज्जब—निर्गुण सन्त धारा के और भी अनेक संत कवियो ने इन प्रतीकात्मक उलटवासियो के माध्यम से ऊँची-ऊँची आध्यात्मिक अनुभूतिया व्यक्त की और बहुत दिनो तक निर्गुण सत कवियो मे यह परम्परा चली। रज्जबजी की उलटवासियो के प्रयोग का यही उद्देश्य और आधार है।



परिशिष्ट



रज्जबजी के शिष्य और थांभे

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि रज्जबजी एक सच्चे साधक, प्रतिभावान् तथा दादूजी के अत्यन्त प्रिय एव स्नेह-भाजन शिष्यो मे एक थे। रज्जबजी के शारीरिक एव बौद्धिक वैभव की दृष्टि से जब हम उन पर विचार करते हैं तो यह मानना पडता है कि दादू पथ मे वे अपने ढग के एक ही महात्मा थे। ऐसा सुडौल, सुगठित विशाल शरीर, इतनी लम्बी १२२ वर्ष की आयु, ऐसी प्रकृष्ट मेघा, ससार की नानावस्तुओ के मर्म को समझने वाली अन्त प्रवेशिनी दृष्टि आदि कुछ ऐसी ही विशेषतायें हैं जो रज्जबजी के व्यक्तित्व को सहज ही मे असाधारणत्व प्रदान करती है तथा ऐसी ही विशेषताओ पर मुग्ध होकर सामान्य जन उनके अनुयायी बन जाते हैं। इसी प्रसग में यह भी ध्यान देना होगा कि इतनी विशेपताओ के अलकृत व्यक्तित्व में यदि सयम तथा इन्द्रिय-निग्रह का सौन्दर्य और जुड गया तो फिर उसे शरीरगत छबि एव चरित्रगत सौन्दर्य का मणिकाचन सयोग ही माना जायगा। रज्जवजी विषय-वासना से कितनी दूर थे यह उनको निम्नलिखित साखी से प्रकट होता है—

रज्जब त्यागी घर घरनि, पर नारी न सुहाय।
अहि अपनी तजि कांचुली, काकी पहिरे जाय॥
विरक्त का अग, साखी १६

रज्जबजी अपने सम्बन्ध में कहते हैं कि जिसने अपनी गृहिणी का परित्याग कर दिया तो वह पर-गृहिणी की ओर कैसे प्रवृत्त हो सकता है। जिस पन्नग ने अपनी केंचुल (त्वचा) छोड दी वह दूसरे की केचुल कैसे धारण कर सकता है। किन्तु रज्जवजी के जीवन की विशेषता यह है कि साप तो केंचूल का त्याग कुछ दिन प्रयोग करने के बाद करता है, अथवा त्यागी गृहिणी का त्याग कुछ दिन गृहिणो का उपभोग करने के उपरान्त करते हैं परन्तु रज्जबजी तो अपने विवाह में गृहिणी के पडोस तक पहुच कर विरक्त हो गए। वे अपनी घरनी या दूसरे की घरनी, किसी के सम्पर्क में नही आए। ऐसे त्यागी-महात्माओ पर ही साधक समाज मुग्ध होता है। रज्जबजी अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण दादू

पथ के सतो के लिये आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गये थे। उनके गुरु दादूजी के जीवन काल ही में कुछ संत उनके शिष्य हो गये थे। रज्जबजी के शिष्यो के सबध में प्रामाणिक सामग्री अपूर्ण रूप मे ही प्राप्त होती है। यहा हम उनके शिष्यो का यथा प्राप्त विवरण प्रस्तुत करना चाहते हैं।

रज्जवजी के शिष्यो की सख्या १० और १२ मानी गई है। रज्जबजी के शिष्यो की नामावली राघवदासजी के भक्तमाल में इस प्रकार दी गई है।[१]

(१) गोविन्ददास, (२) षेमदास, (३) हरिदास, (४) छीतदास, (५) जान अथवा जगन्नाथ, (६) दामोदरदास, (७) केशवदास, (८) कल्याणदास बड़ा, (९) कल्याणदास छोटा, (१०) बनवारीदास।

दीरघ गोविन्द दास पटि अवरासर राजै।
षेम सास सरवाड़ि तास शिष्य तह्रां विराजै॥
हरीदास, छीतर जान दामोदर कैसो।
कल्याण दो बनवारि राम रत मत गहि वैसो॥
जैन राघो मगल रातदिन, बीसत वै दै कार अब।
इस रज्जब अज्जब महत के, भले पछोपै साध सब॥
(भक्तमाल–राघोदास)

किन्तु रज्जब 'वाणी' में (मुद्रित) रामदास, अमरदास, मोहनदास ये नाम और है जिन्होने दादूजी और रज्जबजी पर स्तुति छन्द लिखे है तथा नारायणदास भी थे जो सुन्दरदास से प्रेम रखते थे और मारवाड में जा बसे थे। मोहनदास और सुन्दरदासजी के बीच तो पत्र-विनिमय भी हुआ था जिनमे कुछ के सम्वादो का उल्लेख सुन्दर ग्रथावलो के सुन्दरदासजी के जीवन चरित वाले खड में प्राप्त होता है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अपने 'महात्मा रज्जब' शीर्षक लेख में नारायणदास को रज्जबजी का शिष्य सिद्ध किया है। परन्तु राघवदासजी ने नारायणदास और मोहनदास के नाम को, पता क्यो नही छोड दिया है। यदि हम इन दोनो सतो को रज्जबजी की शिष्य सूची में जोड देते हैं तो उनके शिष्य हो जाते हैं। परन्तु रज्जबजी के शिष्यो-की सख्या १२ से भी अधिक जान पड़ती है। जिन शिष्यो ने रज्जबजी के भेंट के सवैये लिखे है उनमें से चैनदास, रामदास, षेमदास, मोहनदास, कल्याणदास के पद रज्जब बानी में प्राप्त होते है। इनमें चैनदास और रामदास का नाम भी राघवदास के भक्तमाल में नही मिलता— इसका क्या कारण है यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। परन्तु इससे

---

१ – सत बाणी का १९४८ अक ३ मे उद्धृत।

यह तो प्रमाणित होता ही है कि रज्जबजी के शिष्य १२ से भी अधिक थे। पुरोहित हरिनारायण शर्मा जयपुर वालो के सग्रह में रज्जबजी के शिष्य प्रेमदास रचित (१) कर्म धर्म सम्वाद (२) सुख सम्वाद (३) चिन्ताशारि योग सग्रह (४) साखी। ये ४ ग्रथ उपलब्ध हैं। मोहनदासजी भी अच्छे कवि थे— किन्तु उनको रचनायें प्राप्त नही होती। रज्जबजी के विभिन्न शिष्यो द्वारा जो रज्जबजी की स्तुति मे भेंट के सवैये लिखे गए हैं, उनसे यह प्रकट होता है कि रज्जबजी के प्रति उनके शिष्यो की श्रद्धा-भक्ति अटूट थी। उनके शिष्यो की गुरु-विषयक आस्था के प्रमाण में यहां पर उनके कतिपय शिष्यो के फुटकर सवैये उद्धृत करना असगत न होगा।

चैनदास :—

गर्व गम्भीर धीर बुधि अनन्त यत्र धीर,
बानी बिय सुधा सीर वक्त्र सों बखानिये।
लाछा है जु ब्रह्म भेव, कीयो नीके न खेद,
ससय करि सकल छेद सतनि मे भानिये।
समझें हैं सकल घाट, ज्ञान गम्य अगम बाट,
चैन कहै परम ठाठ, रज्जब जग जानिये।

रामदास :—

कहा बलवन्त चढ्यो गुरु ज्ञान जु,
सूर सग्राम अडोल है हीयो।
केसरी सिंह ज्यू काम परे परि,
येक अनेकहु जाय न लीयो॥
जु स्यावज स्याल गये दसहू दिसि,
देखत भाजि पयोनों जु दीयो।
हो रज्जब अज्जब राम को सेवक,
आकिल येक अलख कूं कीयो॥
रज्जबजी के भेंट के सवैये–२

षेमदास

ज्ञान अनंत रु ध्यान अनन्त,
हो बुद्धि अनन्त दई दीनानाथै।
बिवेक अनन्त बिचार अनन्त,
ह्वै भाग्य अनन्त लिख्यो जेहि मांथै॥
सिद्धि अनंत रु निधि अनत रु,
रिद्धि अनंत रहै नित हाथै।

सब बोल अनत पाप को अत ,
हो 'पेम' कहै गुरु रज्जब साधै ।।
रज्जबजी के भेंट के सवैये–४

कल्याणदास —

मारुत से भयो जैसे हनुमान महावीर जति गति जोर जुग मति वखानिये ।
अतिकाय दत्त भयो निरखि राय ताकी सोभा सरभरि कौन उर आनिये ।।
मछन्दर तें भयो जैसे गोरख ज्ञान की गग सिद्ध चौरासी नव नाथन मे मानिये ।
तैसें भयो दादू से रज्जब अज्जब रूप भक्ति को भूप भलें कल्याण वखानिये ।।
कल्याणदास, सवैया–१

मोहनदास —

दास सकल दुख हरन करन मंगल मन रजन ।
परम धरम पाखान आन मारग सब भजन ।।
करुणा सिंधु कृपाल अखिल सम्पदा सुधारन ।
मन सकल्प विकल्प अल्प दुख दुन्द निवारन ।।
निर्लेप निरजन गुणमगन मोहन अघनासन दरस ।
दादू दयाल वधतो प्रकट जन रज्जव पारस परस ।।
रज्जवजी के भेंट के सवैये छप्पय–२२

सत अमरदास के भी एक-दो पद रज्जवजी की स्तुति मे प्राप्त होते हैं ।

उपर्युक्त पदों के अर्थ पर ध्यान देने से यह परिचय मिलता है कि रज्जबजी के शिष्यो में उनके प्रति उत्कट भक्ति भाव विद्यमान् था तभी तो हनुमान व्यास, शुकदेव, दत्तात्रेय, गोरखनाथ इत्यादि महात्माओ के समकक्ष उन्हे माना गया है । रज्जवजी का प्रभाव केवल उनके शिष्यो में ही नही था—प्राय. सभी महात्मा उन्हे आदर-भाव से लेते थे । कुछ सत ऐसे भी थे जो शिष्य तो दादूजी के थे परन्तु रज्जवजी को भी गुरु के समान ही मानते थे । दुरसा नाम का चारण जब रज्जवजी की प्रतिभा की खुली परीक्षा ले चुका तो उसने उनका शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की इस पर रज्जबजी ने कहा कि आमेर मे गुरुदेव दादू-दयाल हैं, उनके पास जाकर शिष्य हो जाओ । वह आमेर जाकर शिष्य हुआ । यह कथा राघवदास की भक्तमाल मे मिलती है । बहुत से सत रज्जबजी की 'बानी' पर मुग्ध थे । उमरा गाव राणीला प्रात के स्वामी नारायणदासजी का शिष्य 'हरिदासजी बडा पडित और कवि हुआ है । वह रज्जबजी की वाणी का इतना भक्त था कि अपनी कविता मे रज्जवजी का ही आभोग धर देता था ।' उसकी दो रचनाए 'कवित्त सवैंग तथा भक्ति विरुदावली' पुरोहित हरिनारायण शर्मा के सग्रह मे प्राप्त होती हैं । सुन्दरदासजी (छोटे) जो दादूजी के शिष्य थे, के सम्बन्ध

मे हम पीछे कह चुके हैं कि वे रज्जबजी की योग्यता और प्रतिभा से बडे प्रभा-
वित थे। उन्हे रज्जबजी को बिना देखे शान्ति नही मिलती थी। यहां तक कि
रज्जबजी के शरीर-निपात पर वे स्वय भी ससार से अकाल ही विदा हो गए।

रज्जवजी के अनेक शिष्य गावों मे जाकर स्थानधारी हो गए थे। रज्जवजी
सम्बन्धी सामग्री की खोज करने के लिये मैंने राजस्थान के सम्बन्धित स्थानो का
भ्रमण किया तो वहा दादू-पंथियो से रज्जवजी के उन्ही थाभो (गद्दियो) का पता
चला जिनका उल्लेख पुरोहित हरिनारायणजी ने अपने 'महात्मा रज्जव' शीर्षक
लेख मे किया है। रज्जवजी के १० मुख्य स्थानो का पता चलता है जिनको
उनके शिष्य चलाते थे।

(१) सागानेर (२) पाटण (३) डिग्गो (४) पोसला (५) टौंक (६)
डोडवाडी (७) निवाई (८) टीटोली (९) वास खोह (१०) भादवा

इन स्थानो में सागानेर रज्जबजी की जन्म-भूमि होने के कारण मुख्य
माना जाता है। यहां के स्थान-धारी रज्जबजी के शिष्य गोविन्ददास थे
जिनकी शिष्य-परम्परा में कोई योग्य स्थान-धारी नही रहा। यहा पर 'रज्जब
द्वारा' बना हुआ है, उसमें एक छोटी सी पालकी, छोटे-छोटे चँवर तथा कुछ
पोथिया रखी हैं। इन गद्दियो के अतिरिक्त टौंक और भादवा के अनेक गावों में
रज्जबजी के छोटे-छोटे स्थान, उनकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा द्वारा चलाए गए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रज्जबजी दादू पथ की उन विभूतियो में
से थे जिन पर दादूपंथी महात्मा गर्व करते है। प्रतिभा और पुरुषार्थ के लिये
रज्जबजी के व्यक्तित्व में समकक्ष आसन था। तथा उनके कृतित्व मे साहित्यिकता
एव आध्यात्मिकता का विलक्षण समाहार हुआ है।

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

१. सुन्दर ग्रंथावली : सम्पादक पुरोहित हरिनारायण शर्मा
२. मिश्र बन्धु विनोद द्वितीय भाग : मिश्र बन्धु
३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास . डॉ० रामकुमार वर्मा
४. हिन्दी साहित्य : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
५. गोरख बान . स० डॉ० पीताम्बर दत्त वडथ्वाल
६ कबीर : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
७ उत्तरी भारत की सत परम्परा प० परशुराम चतुर्वेदी
८. रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ : स० डॉ० पीताम्बर दत्त वडथ्वाल
९. दादू जन्म लीला परची : जनगोपाल कृत; सम्पादक—सुखदयाल दादू, एडवोकेट
१०. दादू जन्म लीला : स्वामी नारायणदास जी
११ दादू सार वर्णन : स्वामी रामदयालजी
१२. दादू सहस्रनाम : अज्ञात
१३ दादू आचार्य क्षितिमोहन सेन
१४ मगल ग्रथावली : स्वामी मगलदासजी
१५. भक्तमाल : नाभादास
१६ भक्तमाल . राघवदास (हस्तलिखित)
१७ श्री हरिपुरुषजी की वाणी : स० स्वामी मगलदासजी जयपुर
१८. महन्त लीला प्रदीप : स्वामी अवध विहारी
१९ सत गुण सागर स्वामी माधवदासजी
२० दादू बानी . स० स्वामी मगलदासजी
२१ दादू बानी सं० प० चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी
२ साखी सग्रह : स्वामी नारायणदासजी
२३ रज्जब बानी : रज्जब जी
२४ सर्वंगी . सकलयिता रज्जव जी
२५. निर्गुण काव्य-दर्शन . श्री सिद्धिनाथ तिवारी
२६ सत्यार्थ प्रकाश : स्वामी दयानन्द सरस्वती
२७ भागवत सम्प्रदाय : श्री बलदेव उपाध्याय
२८ भक्ति का विकास : डॉ० मुशीराम शर्मा
२९. तसव्वफ अथवा सूफी मत : प० चन्द्रवली पाण्डेय

३०	तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य	·	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
३१.	सिद्ध साहित्य	·	डॉ० धर्मवीर भारती
३२	महायान	·	महन्त शांति भिक्षु
३३	बौध्द दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन		श्री भरतसिंह उपाध्याय
३४	बौध्द धर्म दर्शन	:	आचार्य नरेन्द्रदेव
३५	जायसी ग्रथावली	:	सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
३६	योग प्रवाह	:	डॉ० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
३७	हिन्दी शब्द सागर	:	स० डॉ० श्यामसुन्दर दास
३८	सस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ	;	चतुर्वेदी द्वारिकाप्रसाद शर्मा
३९	दादू महाविद्यालय रजत जयंती अक	:	— —
४०	राजस्थान पत्रिका, कलकत्ता		
४१	सत वाणी पत्रिका, जयपुर		
४२	कल्याण उपनिषद् विशेषाक		
४३	कबीर ग्रथावली	·	स० डॉ० श्याम सुन्दर दास
४४	भारतीय साहित्य का सर्वेक्षण		के० एम० पाणिक्कर अनुवादक श्री हनुमानप्रसाद वाजपेयी
४५	दरबारे अकबरी (उर्दू मूल)		मुहम्मद हुसेन आजाद
४६	हिन्दी छन्द प्रकाश		श्री रघुनन्दन शास्त्री
४७	राम चरित मानस		गोस्वामी तुलसीदास
४८	हिन्दी साहित्य का इतिहास		आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४९	वैष्णव धर्म	·	प० परशुराम चतुर्वेदी
५०	रज्जब वानी की दो हस्तलिखित प्रतियां (दादू महाविद्यालय जयपुर सग्रहालय)		
५१	सर्वंगी		स० रज्जबजी (दो हस्त लिखित प्रतिया) दादू द्वारा नारायणा सग्रहालय।
५२	कबीरदास की वानी (हस्तलिखित)	:	दादू द्वारा नारायणा हस्तलिखित
५३	मराठी सतो का सामाजिक कार्य		डॉ० विष्णु मिकाजी कोल्हे, एम० ए०, पी-एच० डी०

सस्कृत

५४	श्री मद्भागवत	·	व्यास गीता प्रेस, गोरखपुर
५५	श्री मद्वाल्मीकि रामायण		वाल्मीकि
५६	श्रीमद्भगवत गीता		व्यास गीता प्रेस, गोरखपुर
५७.	पातजलि योग प्रदीप		
५८	शिव सहिता		
५९	घेरण्ड सहिता		

६०. विन्दुयोग (टीका प० ज्वालाप्रसाद मिश्र)

६१. हठयोग प्रदीपिका — गोरक्षनाथ

६२. तैत्तिरीयोपनिषद्

६३ केनोपनिषद्

६४ छान्दोग्योपनिषद् : गीता प्रेस

६५. पचदशी । चित्र दीप प्रकरण . स्वामी विद्यारण्यजी

६६ कठोपनिषद्

६७. श्वेताश्वतर उपनिषद्

६८ नाद विन्दु उपनिषद्

६९. ध्यान विन्दु उपनिषद्

७०. नारद भक्ति सूत्र

७१. शाडिल्य भक्ति सूत्र

७२. रघुवश : कालिदास

७३ मेघ दूत . कालिदास

७४ नीति शतक — भर्तृहरि

७५. दादू रामोदय — स्वामी हरिदासजी

७६. साहित्य दर्पण : आचार्य विश्वनाथ कविराज

७७ काव्य मीमासा . आचार्य राजशेखर

७८. चन्द्रालोक : जयदेव

ENGLISH

79. The Evolution of Indian Mysticism – Diwan Bahadur K S Ramaswami Sastri

80. Mohammadanism – Sir Himilton A R Gibbe

81 Sufism – A G Arberry

82. Islamic Sufism – Sirdar D Akbal Ali Shah

83 In the Eastern Rose Garden – Published by Sufi Movement

84 Collected works of Sir R G Bhandarkar, Vol. IV – Vaishnavism Shavism and minor Religious systems

85 The Din-Ilahi or the Religion of Akabar – Makhan Lal Roy Chaudhari, M A B L Sastri

86. Cambridge History of India, Vol IV – The Mogul period, Edited by Sir Rechard Burn

—

87 Akbar the Great Mogul – by V. Smith, C E S.
88. India at the Death of Akbar – (An Economic study) by W. H Moreland
89 Journals of Indian History, Vol I, Part I
90 Indian History, Vol I, Havell's Aryan Rule in India quoted by M.N. Roy in his work 'Historical Role of Islam
91. Travels in the Mogul Empire – By Francis Berrnier
92 Epochs of Indian History, edited – by John Adam M A.
93 The Religious sects of the Hindus – By H. H. Wilson
94. Encyclopedia of Religion and Ethics Vol. X – Edited by James Hastings
95 Cultural Unity of India – by G. Emerson Sen
96 The Nirgun School of Hindi Poetry – by Dr. Pitambar Dutta Barthwal
97 The Psams of Dadu – by Tara Dutta Garola
98 Dabistan -I- Mazahib – by Fani
99. A History of Indian Literature – by Maurice Winternitz
100 History of Sanskrit Poetix – By P V. Kane
101. History of Sanskrit Lit. Vol. I – By Das Gupta & S.K. Dey.



राजस्थान पुरातन ग्रन्थ-माला

प्रधान सम्पादक–पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य

++++++++++

प्रकाशित ग्रन्थ

राजस्थानी और हिन्दी

१. कान्हडदेप्रबन्ध, महाकवि पद्मनाभविरचित, सम्पा०–प्रो० के.बी व्यास, एम. ए. । मूल्य–१२.२५

२. क्यामखां-रासा, कविवर जानरचित, सम्पा०–डॉ. दशरथ शर्मा और श्रीअगरचन्द नाहटा । मूल्य–४ ७५

३. लावा-रासा, चारण कविया गोपालदानविरचित, सम्पा०–श्रीमहतावचन्द खारैड । मूल्य–३.७५

४. बांकीदासरी ख्यात, कविराजा बांकीदासरचित, सम्पा०–श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम ए., विद्यामहोदधि । मूल्य–५ ५०

५ राजस्थानी साहित्यसंग्रह, भाग १, सम्पा०–श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम ए. । मूल्य–२ २५

६ राजस्थानी साहित्यसंग्रह, भाग २, सम्पा०–श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया, एम ए, साहित्यरत्न । मूल्य–२ ७५

७ कवीन्द्र-कल्पलता, कवीन्द्राचार्य-सरस्वतीविरचित, सम्पा०–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य–२ ००

८. जुगलविलास, महाराज पृथ्वीसिंहकृत, सम्पा०–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य–१ ७५

९ भगतमाळ, ब्रह्मदासजी चारणकृत, सम्पा०–श्री उदैराजजी उज्ज्वल । मूल्य–१ ७५

१० राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर के हस्तलिखित ग्रंथोंकी सूची, भाग १ । मूल्य–७ ५०

११ राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची, भाग २ । मूल्य–१२ ००

१२ मुहता नैणसीरी ख्यात, भाग १, सम्पा०–श्रीबद्रीप्रसाद साकरिया । मूल्य–८ ५०

१३. „ „ „ „ २, „ „ मूल्य–९ ५०

१४ „ „ „ „ ३, „ „ मूल्य–८ ००

१५ रघुवरजसप्रकास, किसनाजी आढाकृत, सम्पा०–श्री सीताराम लाळस । मूल्य–८ २५

१६ राजस्थानी हस्तलिखितग्रन्थसूची, भाग १, सम्पा० पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य । मूल्य–४.५०

१७ राजस्थानी हस्तलिखितग्रन्थसूची, भाग २, सम्पा०–श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया एम ए, साहित्यरत्न । मूल्य–२ ७५

१८ वीरवांण, ढाढी बादरकृत, सम्पा०–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य–४ ५०

१९ स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण-ग्रन्थसंग्रहसूची, सम्पा०–श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए. और श्रीलक्ष्मीनारायणगोस्वामी दीक्षित । मूल्य–६.२५

२० सूरजप्रकास, भाग १, कविया करणीदानजीकृत, सम्पा०–श्री सीताराम लाळस। मूल्य–८ ००

२०. ,, ,, २ ,, ,, ,, ,, मूल्य–९.५०

२२ ,, ,, ३ ,, ,, ,, ,, मूल्य–९ ७५

२३. नेहतरग, रावराजा वुधसिंह हाडा कृत, सम्पा०–श्रीरामप्रसाद दाधीच, एम ए.। मूल्य–४ ००

२४. मत्स्यप्रदेश की हिन्दीसाहित्य को देन, (शोध प्रवन्ध) डॉ० मोतीलाल गुप्त, एम.ए , पी-एच डी.। मूल्य–७ ००

२५. राजस्थान में सस्कृतसाहित्य की खोज–एस आर भाण्डारकर, हिन्दी–अनुवादक श्रीब्रह्मदत्तत्रिवेदी, एम ए., साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ। मूल्य–३ ००

२६ समदर्शी आचार्य हरिभद्र, श्रीसुखलालजी सिंघवी। मूल्य–३ ००

२७. वुद्धिविलास, वखतराम शाहकृत, सम्पा०–श्रीपद्मधर पाठक, एम ए.। मूल्य–३ ७५

२८. रुक्मिणी-हरण, सायाजीभूलाकृत, सम्पा०–श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया, एम ए ,सा रत्न। मूल्य–३ ५०

२९. सन्त कवि रज्जव : सम्प्रदाय और साहित्य, (शोध प्रवन्ध) डॉ० व्रजलाल वर्मा। मूल्य–७ २५

प्रेसो मे छप रहे ग्रन्थ

राजस्थानी-हिन्दी

१. गोरा वादल पदमणी चऊपई, कवि हेमरतनकृत सम्पा०–श्रीउदयसिंह भटनागर, एम ए।
२ राठौडारी वशावली, सम्पा०–पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य।
३ सचित्र राजस्थानी भाषासाहित्यग्रन्थसूची, सम्पा०–पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य
४. मीरां-बृहत्-पदावली, स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण द्वारा सकलित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि जिनविजय पुरातत्त्वाचार्य।
५. राजस्थानी साहित्यसग्रह, भाग ३, सपादक–श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी दीक्षित।
६ पश्चिमी भारत की यात्रा, कर्नल जेम्स टॉड, हिन्दी अनु० और सम्पा० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम ए।
७ पृथ्वीराज रासो, महाकवि चन्दवरदाईकृत, सम्पा० पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य।
८ सोढायण, महाकवि चिमनजी कविया कृत, सम्पा० श्री शक्तिदान कविया, एम ए.
९ विन्है रासो, कवि महेशदास राव कृत, सम्पा० श्री सौभाग्यसिंह शेखावत, एम.ए
१०. पावूजीरे जुद्धरा छन्द, मेहाजी विठू कृत, सम्पा० श्रीउदैराजजी उज्ज्वल।
११ प्रतापरासो, जाचिक जीवण कृत, सम्पा० डॉ० मोतीलाल गुप्त एम ए,
१२ भक्तमाल, राघवदास कृत, सम्पा० श्री अगरचदजी नाहटा।
१३ मूहता नैणसी री ख्यात भाग ४, टीका–चतुरदास कृत, सम्पा० वदरीप्रसाद साकरिया।

सूचना–पुस्तक-विक्रेताओ को २५% कमीशन दिया जाता है।